विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

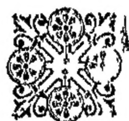
४१

हिन्दी और मराठी का

निर्गुण सन्त-काव्य

डा० प्रभाकर माचवे

(असिस्टैन्ट सेक्रेटरी, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली)



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

प्रकाशक चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण प्रथम, संवत् २०१९ वि०

मूल्य १२-००

Phone 3076

निवेदन

प्रस्तुत ग्रन्थ आगरा विश्वविद्यालय की हिन्दी पी० एच-डी० परीक्षा के लिए लिखे गये प्रबन्ध का संक्षिप्त रूप है। मूल विषय पर लिखने की प्रेरणा नैनीताल में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने सन् १९५१ में दी। डॉ० शिव मंगल सिंह 'सुमन' (उज्जैन) ने निर्देशक बनने की कृपा की। सन् १९५३ में दार्जिलिंग में मैंने यह ग्रन्थ प्रायः दो महीने में लिख डाला, यद्यपि इसके लिए आवश्यक सामग्री मैं कई वर्षों से जमा कर रहा था। उसी वर्ष मैंने पाण्डुलिपि डॉ० 'सुमन' को अवलोकनार्थ भेजी। प्रायः दो वर्ष बाद उसकी टंकित प्रतियाँ बनाकर मैं विश्वविद्यालय को दे पाये। दो वर्ष परीक्षकों ने लिये—सुनता हूँ एक परीक्षक इस बीच मास्को चले गये। चूंकि परीक्षकों के नाम गोपन रहते हैं, इस कारण से एक परीक्षक की सम्मति जो अंत में दी है, उनका नाम नहीं दे रहा हूँ। सन् १९५८ में दो परीक्षकों के सम्मुख मौखिक परीक्षा के लिये उपस्थित होना पड़ा। उनके नाम चूँकि जानता हूँ, उनके प्रति भी यहाँ कृतज्ञता ज्ञापन कर दूँ। वे हैं डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र और डॉ० हरि रामचन्द्र दिवेकर। सन् ५७ में मुझे पी० एच डी० उपाधि प्राप्त हुई।

इसके बाद प्रकाशन का प्रश्न उठा। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इसे पढ़ने की कृपा की और श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ने इसे चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी को दिया। कुछ समय कागज की कमी ने ले लिया। फिर प्रूफ आना शुरू हुआ कि सहसा १९५९ में मुझे विसकान्सिन विश्वविद्यालय (अमरीका)

अध्यापन के लिए दो वर्ष जाना पड़ा। मैं १९६१ के अगस्त में लौटा। प्रकाशकों ने धैर्यपूर्वक मुद्रण रोक रखा। मैं कोई बहुत अच्छा प्रूफ संशोधक नहीं हूँ। सो कुछ भूलें भी रह गईं। अन्ततः यह ग्रन्थ अपने सब दोषों सहित जैसा है अब प्रकाशित हो रहा है। प्रकाशक चाहते थे कि किसी विद्वान् की भूमिका होती, तो उसमें और समय लगता। अतः यह सेवा जैसी भी बन पड़ी, हिन्दी संसार के सामने रख रहा हूँ। गुणज्ञ उसमें की अच्छाइयाँ चुन लेंगे, यदि दोष कुछ हों तो मुझे सूचित करेंगे—अगले संस्करण में उनका परिहार करने का प्रयत्न करूँगा।

नई दिल्ली,
जून १९६२

सविनय—
प्रभाकर माचवे

विषय-सूची

खण्ड—३

(हिन्दी का निर्गुण सन्त काव्य)

खण्ड—४

(तुलनात्मक अध्ययन)

खण्ड–५

(उपसंहार)

परिशिष्ट

लेखक परिचय

नाम प्रभाकर बलव त माचवे ।

जन्मस्थान ग्वालियर (मध्यप्रदेश), ज मतिथि २६ दिसबर १९१७ ।

शिक्षा बी० ए० (क्रिश्चियन कालेज, इ दौर, १९३५), साहित्यरत्न (आगरा, १९३६), एम० ए० (दर्शन, आगरा कालेज आगरा, १९३७), एम० ए० (अग्रेजी साहित्य, १९४५), पी० एच-डी० (हि दी, १९) ।

कार्य मत्री, मजदूर सघ, इन्दौर १९३७, प्राध्यापक, माधव कालेज, उज्जैन १९३८ से १९४८, आकाशवाणी के नागपुर, इलाहाबाद तथा दिल्ली केन्द्रों से सम्बन्ध १९४८ से १९५४, असिस्टैंट सेक्रेटरी साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन, नई दिल्ली १९५४ से अबतक, बीच म १९५९ से १९६१ तक विस्कान्सिन युनिवर्सिटी तथा कैलिफोर्निया युनिवर्सिटी (अमरीका) म हिन्दी, साहित्य तथा भारतीय सस्कृति के विजिटिंग प्रोफेसर ।

प्रकाशन मराठी, हिन्दी तथा अग्रेजी मे पत्र पत्रिकाओं म विविध लेखन तथा अनुवाद सन् १९३४ से। अबतक हि दी मे तीन कविता सग्रह, चार उपन्यास दो ललित लेख सग्रह, साहित्य समीक्षात्मक निब धो के छह सग्रह, साहित्येतिहास विषयक दो ग्रन्थ, एक एक कहानी सग्रह, रेडियो एकाकी सग्रह, बच्चो के लिए तीन पुस्तकें, एक सम्पादित कोश और अनेक अनूदित ग्रन्थ—कुल पचीस से ऊपर ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं ।



हिन्दी और मराठी का
निर्गुण सन्त-काव्य

खण्ड १

विषय-प्रवेश

१—भारतीय काव्य में अभेद। भाषाओं के साहित्य के तुलनात्मक इतिहास की आवश्यकता।

२—प्रस्तुत अध्ययन में विशेष दृष्टिकोण।

३—निर्गुण सन्त काव्य का वैज्ञानिक और शास्त्रीय अध्ययन आवश्यक।

४—रहस्यवादविषयक उपलब्ध सामग्री—साहित्यिक और दार्शनिक।

५—प्रस्तुत प्रबन्ध की विवेचन पद्धति।

अध्याय १

भारतीय काव्य में अभेद

काव्य को परिभाषा में बाँधने का यत्न चिरकाल से किया गया है। परन्तु जैसे आकाश के निस्सीम विस्तार को बाँधना असम्भव है, पानी के रंग का पता देना अशक्य है, वैसे ही काव्य भी अपरिभाषेय ही रहा है। काव्य का सृजन एक रहस्यमय बिन्दु है और मनोवैज्ञानिकों और समाज वैज्ञानिकों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रयत्न भी उसे पूर्णतः समझने में सहायक नहीं हो सके हैं। अतः काव्य के कुछ सामान्य और प्रमुख लक्षणों से ही सन्तोष कर लेना पड़ता है। काव्य के प्रयोजन के विषय में भारतीय और विदेशी मतों के अन्तर का अनुमान भी इसी से होगा।

काव्य भारत में एक सजीव कृति मानी गयी। कविता कामिनी के नायिका की भाँति कई वर्णन मिलते हैं। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन काव्यसौन्दर्य को अंगनाओं के लावण्य की भाँति मानते हैं[1] और कहते हैं कि व्यंग्यार्थ में योषिताओं की व्रीडा की शोभा होती है[2]। काव्यप्रकाशकार मम्मट भी काव्य द्वारा होनेवाले उपदेश को कान्ता के अपरोक्ष परन्तु प्रभावशाली उपदेश के समान मानते हैं[3]। अन्यत्र भी जहाँ जहाँ कविता की आत्मा, काव्य के जीवित या काव्य शरीरादि की चर्चा की जाती है, कविता की सप्राणता पर केवल आलंकारिक रूप से ही नहीं, परन्तु सिद्धान्त रूप से बल दिया गया है। पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र में काव्य की परिभाषाओं में कहीं यह सप्राणता का तत्त्व नहीं आता। स्पष्ट है कि काव्य हमारे यहाँ एक सिद्धि है, भगवती सरस्वती की साधना है। पश्चिम में वह एकान्त में भावना का

---

१ विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु—ध्व० उद्योत १, कारिका ४।

२ प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्—ध्व० उद्योत ३, कारिका ३८।

३ (काव्य) कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे—का० प्र० उल्लास १, कारिका २।

पुन: प्रत्यय है,[1] वह केवल कल्पना का नि श्वास मात्र है,[2] वह सृष्टि से अधिक सृष्टि की व्याख्या है ।

भारतीय और पाश्चात्य काव्य विषयक परिभाषाओं में दूसरा बड़ा अन्तर उन शब्दों की अर्थ व्याप्ति के विषय में है । संस्कृत काव्य शास्त्रकारों ने काव्य शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थों में किया था । नाटक भी काव्य के अन्तर्गत आ जाते थे और बाणभट्ट की कादम्बरी जैसा गद्यग्रन्थ भी । महाकवि भवभूति ने कोई स्वतन्त्र काव्य या पद्यरचना नहीं की । कविर्दण्डी कहकर विचार गौरव से पुकारे जाने वाले दण्डी का 'दशकुमारचरित' (गद्यग्रन्थ) छोड़ कोई काव्य ग्रन्थ नहीं मिलता । दण्डी से जगन्नाथ पंडित तक 'काव्य' शब्द की परिभाषाएँ पढ़ने पर ज्ञात होता है कि काव्य के लिए 'पद्य रचना' या आवश्यक बंधन भी प्रधान माना गया था । केवल काव्य के प्रकार बताते समय 'काव्यादर्श' में दण्डी ने 'गद्य पद्य च मिश्र च'[4] कहा था । पश्चिम में जिसे ललित साहित्य कहा जाता है, वह सब 'काव्य' में आ जाता था । पाश्चात्य काव्य समालोचक ईसा की अट्ठारहवीं शती के उत्तरार्ध तक गद्य काव्य से अपरिचित थे, केवल इब्रानी ग्रन्थ 'क़दीमी शहादत' या 'प्राचीन साक्ष्य' (ओल्ड टेस्टामेंट) के अनुवाद को गद्य रूप में कविता कह सकते हैं[5] । अन्यथा पश्चिम में सर्वत्र काव्य पद्यबद्ध ही रहा है और कई पश्चिमी भाषाओं में काव्य पद्यरचना का पर्यायवाची शब्द है ।

जो बात काव्य की परिभाषाओं में दिखाई देती है, वही अन्तर भारतीय और पश्चिमी काव्य प्रयोजनों में भी है । हमारे यहाँ जो काव्य प्रयोजन माने गये हैं उनमें से कुछ ये हैं —

---

१ 'पोएट्री इज इमोशन रीकलेक्टेड इन ट्रैंक्विलिटी' (वर्ड्सवर्थ)

२ 'पोएट्री इज दि एक्सप्रेशन आफ इमैजिनेशन' (पी० बी० शैले)

३ 'पोएट्री इज दि क्रिटिसिज्म आफ लाइफ' (मैथ्यू आरनाल्ड)

४ परिच्छेद १, श्लोक १ ।

५ सुनीतिकुमार चटर्जी 'वेदना' की भूमिका, पृष्ठ-५ (नवराजस्थान ग्रन्थमाला कार्यालय, कलकत्ता १९३७) ।

१ काव्य यशसे, अर्थकृते, व्यवहारविदे, शिवेतरक्षतये ।
सद्य परनिर्वृतये, कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥
—(मम्मट, काव्यप्रकाश)

२ धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्य कलासु च ।
करोति प्रीतिं कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥
—(भामह, काव्यालकार)[१]

३ ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगम चतुर्वर्गे
—(रुद्रट, काव्यालकार)[२]

४ काव्य सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्
—(वामन, काव्यालकार)[३]

अर्थात् मम्मट के अनुसार काव्य के छ प्रयोजन हैं, (१) कीर्ति, (२) धन, (३) व्यवहार ज्ञान, (४) अशुभ निवारण, (५) तत्काल प्राप्त होनेवाला उदात्त आनन्द, (६) पत्नी जैसा रोचक उपदेश । भामह ने मम्मट के सख्या एक तथा पाँच को मानकर साथ म (७) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति और (८) चौसठ कलाओं में प्रगति को भी काव्य प्रयोजन माना । रुद्रट ने चतुर्वर्गों की बात दुहराई तो वामन ने प्रीति और कीर्ति की प्राप्ति को ही प्रधान समझा । पर तु नाट्यशास्त्रकार भरत क अनुसार नाटक (काव्य) का उद्देश्य (९) दुखियों और शोकाकुलों को विश्रान्ति देना भी माना गया है ।[४]

भारतीय काव्य के इन नौ लौकिक तथा स्पष्टत वस्तुनिष्ठ उद्देश्यों की तुलना में पश्चिमी काव्य मर्मज्ञों की काव्य प्रयोजन चर्चा तुच्छ है । उनके अनुसार भावाभिव्यजना, कल्पना और आत्माविष्करण काव्य के प्रधान उद्देश्य हैं । यथा निम्न परिभाषाओं में 'इमेजिनेशन' की पुनरावृत्ति देखिय

१ परिच्छेद १, श्लोक २ ।
२ परिच्छेद १, श्लोक ५ ।
३ सूत्र १, १-५ ।
४ दु खार्ताना समर्थानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्तिजनन काले नाट्यमेत मयाकृतम् ॥ (नाट्यशास्त्र १-८०)

१. 'दि पोएट्स आर इन ए फाइन फ्रेन्जी रोलिंग,
डथ ग्ला~स फ्राम हवन टु अर्थ, फ्राम अर्थ टु हेवन,
एंड, एज़ इमेजिनेशन बाडीज़ फोर्थ
दि फार्म्स आफ थिंग्ज़ अननोन, दि पोएट्स पेन
टर्न्स दम टु शेप, एड गि~ज़ टु एअरी नथिंग
ए लोकर्ल हेबिटेशन एंड ए नेम।'
—(शैक्सपियर दि मिडसमर नाइट्स ड्रीम)

२. 'पोएट्री इज़ ए वेन्ट फार ओवरचार्ज्ड फीलिंग आर ए फुल इमैजिनेशन'
—(केवल लेक्चर्स आन पोएट्री)

३ 'पोएट्री इज़ एन एक्सप्रेशन आफ दि इमैजिनेशन'
—(शैले)[1]

४ 'प्लेज़र नेवर इज़ एट होम, एवर लेट दि फैन्सी रोम।' —(कीट्स)

५ 'पोएट्री इज़ दि लॅग्वेज आफ दि इमैजिनेशन एंड दि पैशान्स'
—(हैज़लिट)[2]

६ 'पोएट्री इज़ दि सजेशन, बाइ दि इमैजिनेशन,
आफ नोबल माइ~ड्स फार दि नोबल इमोशन्स'
—(रस्किन)[3]

७ 'पोएट्री इज़ दि आर्ट आफ युनाइटिंग प्लेज़र विथ ट्रुथ
बाइ कालिंग इमैजिनेशन टु दि हैल्प आफ रीजन'
—(डा० जानसन)[4]

उपर्युक्त परिभाषाओं में अंगरेजी काव्य समीक्षक तथा कवि, काव्य में कल्पना की प्रधानता मानते हैं। मानों काव्यान~द सूझ (फैंसी) या कल्पना (इमैजिनेशन) के बिना असम्भव है। कोलरिज ने इसीलिए कवि कर्म को वैज्ञानिक के कर्म से भिन्न ही नहीं, बल्कि विरोधी माना था। कोलरिज के

१ कम्प्लीट वर्क्स आफ शले परिशिष्ट 'डिफे~स आफ पोएट्री'।
२ लेक्चर्स आन दि इंग्लिश पोएट्स, पार्ट १।
३ माडर्न पेन्टर्स, वा० ३, पार्ट ४, चेप्टर १।
४ लाइफ आफ मिल्टन।

अनुसार काव्य का प्रत्यक्ष उद्देश्य आनन्द है, सत्य नहीं। परन्तु पोप का मत था कि[1] 'सत्य पद्य का जामा पहिनकर सबसे अधिक रमणीक ज्ञात पड़ता है।' कार्लाइल के अनुसार काव्य का प्रधान उद्देश्य 'तथ्य की आत्मा की कारा मुक्ति'[2] है तो इमर्सन के अनुसार 'काव्य का चिरन्तन यत्न वस्तु की आत्मा को व्यक्त करना है।'[3]

भारतीय काव्य दृष्टि में 'स्व' और 'पर', ज्ञाता और ज्ञेय, तथ्य और सत्य, भावक और भावित के बीच अभेद का, यहाँ तक कि 'वाक्' और 'अर्थ' के अभेद का महत्त्व, पश्चिम के, भावना से कल्पना के, वस्तु से सत्य के और 'सब्जेक्ट' से 'आब्जेक्ट' के भेद की पार्श्वभूमि में अच्छी तरह समझा जा सकता है। यह अभेद दृष्टि हमारी संस्कृति में, हमारे दर्शन में, हमारी साहित्य चिन्ता में, हमारे काव्य और कला में सर्वत्र संव्याप्त है। काव्य में अभेद को समझने से पहले यह सांस्कृतिक दार्शनिक पीठिका जाननी उपयुक्त होगी।

ऋग्वेद (१।१६४।४६) में 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (एक ही सत्तत्त्व का मननशील विप्र लोग बहुत प्रकार से वर्णन करते हैं।) पर डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल अपने निबन्ध 'ऋषिभिर्बहुधा गीतम्' में कहते हैं[4]— 'भारतीय देश में दार्शनिक चिन्तन की जो बहुमुखी धाराएँ बही हैं, जिन्होंने युगयुगान्तर में स्वच्छन्दता से देश के मानस क्षेत्र को सींचा है, उनका पहला स्रोत उक्त 'बहुधा' पद में प्रस्फुटित हुआ था। हमारे राष्ट्रीय मानव भवन का जो बहिर्द्वारतोरण है, उसके उत्तरंगे पर हमें यह मन्त्र लिखा हुआ दिखायी पड़ता है। मन्त्र का 'बहुधा' पद उसकी प्राणशक्ति का भण्डार है, जिसके कारण हमारे चिन्तन की हलचल संघर्ष के बीच में होकर भी अपनी प्रगति बनाये रख सकी। अपने ही बोझ से जब कभी उसका मार्ग अवरुद्ध या कुंठित

---

१ 'ट्रू थ शाइन्स दि ब्राइटेस्ट क्लैड इन वर्स' (एसे आन क्रिटिसिज्म)।

२ डिसइम्प्रिजनमेंट आफ दि सोल आफ फैक्ट'।

३ 'पोएट्री इज दि परपेचुअल एण्डेवर टु एक्सप्रेस दि स्पिरिट आफ दि थिंग' (एसेज इमर्सन)।

४ प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ २१७-१८।

होने लगा है, तभी उस अवरोध पर विजय पाकर 'बहुधा' पद के प्राणवन्त वेग ने उसे आगे बढ़ाने का रास्ता दिया राष्ट्रीय जन की प्राकृतिक विभिन्नता की ओर सकेत करते हुए 'पृथिवीसूक्त' का ऋषि कहता है —

जन विभ्रती बहुधा विवाचस नानाधर्माण पृथिवी यथोकसम्[१] ॥

(भिन्न भिन्न भाषावाले, नानाधर्मोंवाले जन को यह पृथिवी अपनी अपनी जगह पर धारण कर रही है) और सबके लिए दुधार गाय की भाँति धन की सहस्त्रों धाराएँ बहा रही है। हमारे राष्ट्रीय जन को प्रकृति की ओर से ही 'बहुधापन' मिला है। पर मानवी मस्तिष्क ने उन भौतिक भेदों के भीतर पैठकर उनमें पिरोई हुई भावमयी एकता को ढूँढ निकाला। मौलिक एकता और समन्वय पर बल देनेवाले विचार अनेक रूपों में हमारे साहित्य और इतिहास में प्रकट होते रहे हैं। अथर्ववेद में कहा है —

पश्य न्त्यस्याश्चरित पृथिव्या पृथङ् नरो बहुधा मीमांसमाना ।[२]

(इस विश्व का निर्माण करनेवाली जो प्राणधारा है, उसकी बहुत प्रकार की अलग अलग मीमांसा विचारशील लोग करते है, पर उनमें विरोध या विप्रतिपत्ति नहीं है। कारण कि ये सब मन्तव्य विचारों के विकल्प मात्र हैं। मूलगत शक्ति या तत्त्व एक ही है।)'

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि, 'ब्रह्म जिस महिमा (शक्ति) द्वारा अपने को व्यक्त करता है, उसे भी 'वाक्' कहा गया है। लिखा गया है कि 'वाक' आत्मा का 'स्व' या महिमा है। उसी से वह एक से अनेक, अव्यक्त से व्यक्त होता है। हम जिस शक्ति से बोलते हैं वह स्थूल 'वाक्' है। वह सूक्ष्म 'वाक्' का व्यक्त रूप है। अव्यक्त रूप में यह 'वाक्' अवर्णा और शब्दार्थ रहित होती है।[3] श्वेताश्वतर उपनिषद् म इसी को कहा गया—'एको वर्णा बहुधा शक्ति योगात्[४]।'—

१ अथर्ववेद, १२।१।४५।
२ अथर्ववेद, ९।१।१३।
३ श० ब्रा० १, ४, ?, १७ आदि
४ श्वेताश्वतरोपनिषद ४ १।

बृहदारण्यक में कहा गया—

स वा अयमात्मा
सर्वेषां भूतानामधिपतिः
सर्वेषां भूतानां राजा
तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिताः
एवमेवास्मिन्नात्मनि
सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः
सर्वे एत आत्मानः समर्पिताः ॥[1]

(वह ही आत्मा समस्त प्राणियों का अधिपति है, समस्त प्राणियों का राजा है, जिस तरह से रथनेमि और रथनाह में सारे आरे निबद्ध रहते हैं, उसी तरह आत्मा में सब वस्तुएँ, सब देव, सब लोक और सब प्राण, ये सब आत्माएँ समर्पित हैं।)

बृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में ज्योतिर्मय सम्राज् का विस्तृत वर्णन मिलता है। वह अव्याकृत, एक, अद्वैत, द्रष्टा, ब्रह्म और सम्राज् है। वह अविनाशी है, उसमें कोई 'द्वितीय' उससे विभक्त नहीं है—

अविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात्।[2]

पूर्ण 'सम्राज्' अकर्त्ता है। वह देखता हुआ भी नहीं देखता है, सूँघता हुआ भी नहीं सूँघता है, रस ग्रहण करता हुआ भी नहीं करता है, बोलता हुआ भी नहीं बोलता है, सुनता हुआ भी नहीं सुनता है, सोचता हुआ भी नहीं सोचता है, स्पर्श करता हुआ भी स्पर्श नहीं करता है, विज्ञान करते हुए भी विज्ञान का कर्त्ता नहीं है, क्योंकि इन सब व्यापारों के लिए 'अन्य' नहीं तो 'अन्यत् इव' तो विषय रूप में होना आवश्यक ही है—

यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रेदन्योऽन्यद्रसयेदन्योऽन्यद्वदेदन्यो ऽन्यत्स्पृशेदन्योऽन्यद्विजानीयात्[3] ॥'

---

१ बृहदारण्यक, २।५।१५।
२ बृहदारण्यक, ४।३।३०।
३ बृहदारण्यक, ४।३।३१।

स्वराज् विराज् के विमर्श में यहाँ विस्तार से न जाकर इस बात पर हम बल देना चाहते हैं कि भेदों में अभेद की यह भावना हमारे दर्शन और साहित्य में बहुत पहले से चली आ रही है। कालिदास ने कुमार सम्भव में इसी भावना के अधीन 'एकव मूर्तिर्विभिदे त्रिधा सा सामा यमेषा प्रथमा वरत्वम्'[१] कहा था। अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, शिव एक ही मूर्ति के विविध रूप हो गये हैं। इनमें कौन छोटा, कौन बड़ा ? यह अभेद भावना ही हमारी संस्कृति और चिन्ता को टिकाये हुए है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अपनी बंगला पुस्तक 'भारतीय संस्कृति' के आरम्भ में कहा है —

'ऋषि कहते हैं, जीवों को भूमि ही छोड़ देनी चाहिए—'जीवनम् विसृज्य भूम्याम्' (महानारायण उपनिषद् १, ४) परन्तु मनुष्य का भूमि छोड़ने से काम नहीं चलता। मनुष्य की मनुष्यता का उद्भव हुआ है तो संस्कृति से। मनुष्य का पूर्ण परिचय तो कर्म का मृण्मय लोक छोड़कर चिन्मय जगत् से ही होता है। उसका परिचय स्थानगत होता है, यह बात है ही। गायत्री मन्त्र का भी आरम्भ 'भूर्भुव स्व' से होता है। आगे उसी में विश्वामित्र ऋषि के अनुसार परम देवता के संग धी शक्ति गत योग की चिन्मय कथा है, क्योंकि उसी चिन्मय जगत् से यथार्थ मानवत्व का उद्भव और संस्थिति है, केवल भूगोल के जगत् से वह नहीं होती। इस प्रकार देखने से यह पाया जाता है कि एक ही भौगोलिक पृथ्वी पर आवास करने पर भी संस्कृति और इतिहास के अन्तहीन वैचित्र्य में ही मनुष्य की विशिष्टता है।'

'पाश्चात्य सभ्यता का इतिहास देखने से यह पता चलता है कि वे जहाँ जहाँ भी गये हैं, वहाँ स्थानीय पुरातन सभ्यता का ध्वंस व्यापार केवल संस्कृति में अनग्रसर आस्ट्रेलिया या न्यूजीलैंड में ही हुआ हो, सो नहीं, सुसभ्य अमेरिका भी मय और आस्ट्रिक सभ्यता का उच्छेद करने पर तुला है। भारतीय संस्कृति का इतिहास अन्य प्रकार का है। यहाँ तो उस प्रकार का अन्यों का उच्छेद करना सम्भव ही नहीं है। इसी कारण भारत के इतिहास के विधाता का गूढ़ अभिप्राय अन्य प्रकार का ही रहा है। भारतीय इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि भारत में जब आर्य आये थे तो

१ कुमारसम्भव, ७।४४।

उन्होंने तत्वपूर्व अनार्य द्राविड़ संस्कृति का उच्छेद नहीं किया, किन्तु स्तर-स्तर से धीरे धीरे उसमें उनकी संस्कृति मिल गयी, दोनों पास पास पड़ोसी की भाँति घुल मिलकर रहने लगे। जैसे शान्तिनिकेतन में बैठकर कवि साधक रवीन्द्रनाथ अपनी गीताञ्जलि आदि रचनाएँ कर रहे हैं, तो पास में संथाल भादों मास के आते ही अपनी 'बोंझा' पूजा में मस्त हैं। पाश्चात्य जगत् में ऐसा विरोधों में अविरोध पाना असम्भव है।'

'अति उन्नत और अति अनुन्नत साधना एक साथ पास पास रहने के कारण धर्म और साधना के तत्व के लिए भारत जैसा उत्तम विचार क्षेत्र अन्य नहीं मिलेगा। अग्रसर अनग्रसर संस्कृति के चरम द्रष्टा तो यहाँ एक ही स्थान पर मिल जायेंगे। नाना संस्कृतियों का सप्राण योगायोग होने के कारण इस देश से कई प्रकार के साधक इंगित पा गये हैं और इसी कारण इस देश का धर्म और संस्कृति ऐश्वर्य से भरपूर है। ज्ञानालोचन की दृष्टि से जहाँ यह वैचित्र्य एक सुविधा है, वहाँ राष्ट्रीय संस्कृति और शक्ति की दृष्टि से यह बात अवश्य घातक है। नौका के यन्त्र अलग अलग चलाना नौ विद्या सिखाने की दृष्टि से ठीक हो सकता है, परन्तु इस प्रकार समुद्र के पार जाना तो असम्भव जान पड़ता है। शक्ति का मूल है संहति। पशु तो वही शक्ति मानते हैं। मानवी संस्कृति में व्यक्तित्व विकास के लिए स्थान है। पशुओं की संहति में इस प्रकार के व्यक्ति स्वातन्त्र्य को स्थान कहाँ? 'समभाव' भारतीय संस्कृति में शक्ति पूजा और व्यक्तित्व विकास दोनों विरोधी तत्वों का सामञ्जस्य है।'

'जब हिन्दू समाज में जाति भेद की प्रथा इतनी जटिल और कठोर नहीं हो गई थी, तब हिन्दुओं ने नाना देशों में जाकर नये नये उपनिवेश स्थापित किये थे। उन दिनों भारतीय संस्कृति ब्रह्मदेश, श्याम, कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा, बाली आदि द्वीपों में फल चुकी थी। यह ध्यान देने की बात है कि उन सब देशों की ओर से भारतवर्ष पर न कभी कोई आक्रमण हुआ और न उन्होंने किसी और तरह से आघात किया। जब इस देश में छुआछूत का विचार प्रबल हुआ, तभी समुद्र यात्रा निषिद्ध हुई और साथ ही साथ पृथ्वी के अन्यान्य स्थानों से भारतीय समाज का सम्बन्ध टूट गया। ऐसे ही समय

में पश्चिम की ओर से उस पर अनेक आघात हुए। पहले तो मध्य एशिया भारतीय संस्कृति का एक ज़बर्दस्त केन्द्र था। वहाँ से कुमारजीव आदि पंडितों ने चीन में जाकर भारतीय धर्म का प्रचार किया था। आज जान पड़ता है कि भारतवर्ष की इस प्राण शक्ति का विकास असम्भव है।'

'जिस व्यक्ति को कालकोठरी में बन्द किया जाता है, उसकी तन्दुरुस्ती तो जाती ही है, विद्या, बुद्धि और विचार शक्ति भी लुप्त हो जाती है। शुरू में शायद बाहर की विपत्ति से आत्म रक्षा के लिए सीमा की लकीर खींची गई थी, आज वह लकीर ही मृत्यु का कारण हो गई है। जब बाहर की भयजनक वस्तु भीतर आकर बैठी है, फिर उस व्यर्थ की सीमा रेखा से अब क्या फायदा है?'

भारतीय काव्य दृष्टि में यही विविधता में अविरोध हमें अपने प्राचीन दर्शन की महत्ता का ध्यान दिलाता है। अद्वैतवाद के प्रसंग में हिरियाण्ण ने अपने 'आउटलाइन्स आफ इंडियन फिलासफी' में पृष्ठ ३७१–७२ पर कहा है कि 'परम तत्त्व या ब्रह्म निर्विशेष वस्तु है। इसीलिये शंकर उसे अद्वैत कहते हैं, 'ऐक्य' नहीं। इस प्रकार से भेदाभेद की कल्पना को त्याग कर शंकराचार्य ने ब्रह्मपरिणामवाद से अपने सिद्धान्त को अलग किया।' यह द्वैतरहितता, प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रमुख विषय निर्गुण काव्य की अन्तर्धारा रही है। उसका विस्तार से विचार आगे होगा।

इस एकात्मता या अभेद की चर्चा भारतीय साहित्य के लिए विदेशी दार्शनिकों ने भी की है। एलबर्ट श्वाइट्ज़र ने अपने 'इंडियन थाट एण्ड इट्स डेवेलपमेण्ट' में पृष्ठ १० पर लिखा है कि 'जीवन-जगत स्वीकार और जीवन जगत् नकार के भेद के बाद पश्चिमी और भारतीय दृष्टिकोण में बड़ा अन्तर यह है कि भारतीय दृष्टिकोण अभेदात्मक, एकपरक और रहस्यमय है, पश्चिमी दृष्टिकोण द्वैताश्रित और सिद्धान्तमूलक।'

भाषाओं के साहित्य के तुलनात्मक इतिहास के अध्ययन की आवश्यकता

भारतीय काव्यदृष्टि और सांस्कृतिक विकास में सव्याप्त इस अभेद का बहुत अच्छा निर्वहन भारतीय भाषाओं के साहित्यों में मिलता है। उत्तर भारत और दक्षिण भारत की भाषाओं के साहित्यों में थोड़े से वर्षों के अन्तर से विचार प्रवाह, एक से प्रभाव और व्यञ्जना शैलियाँ मिलती हैं। तमिल और अन्य द्राविड़ भाषाओं और बाकी सभी भारतीय संस्कृतोत्पन्न तथा संस्कृत बहुल भाषाओं के साहित्येतिहासों में सामान्य विकास रेखा पाई जाती है।

आरम्भिक काल में सूक्ति, पद, स्फुट नीति वचन जैसे सब जगह मिलते है, वैसे ही सामंत युग में चारणों द्वारा राजाओं और रानियों के प्रेम और युद्ध प्रसंगों के विशद वर्णन, 'भट्टिकाव्य' और धीरे धीरे शृङ्गारपरक दरबारी रचनाओं की ओर रुझान, सभी भाषाओं में कुछ काल तक मिलती है। साहित्य के क्षेत्र में भक्ति की उद्भावना और अवतारणा होने के साथ ही साथ सभी भाषाओं में एक से सन्त कवि और रामभक्त तथा कृष्णभक्त कवि मिलते है। निर्गुण काव्य परम्परा में जैसे ज्ञानेश्वर, नामदेव और महानुभाव कवि, कबीर, दादू, सुन्दरदास या अखो या अप्पर समान दिखाई देते हैं, उसी प्रकार से विद्यापति, मीरा, सूर, तुलसी और मुक्तेश्वर, एकनाथ, रामदास, नरसी मेहता, चण्डीदास आदि एक ही वैष्णव विचारधारा से प्रेरित सारे उत्तर भारत में दिखाई देते हैं। शैव, वैष्णव मतधाराओं के ही समान, हम देखते हैं कि शाहीर लावणीकार काल (मराठी) और हिन्दी का रीतिकाल समान उत्तान शृङ्गार प्रधान प्रवृत्तियों के युग है। और अंगरेज़ों के आगमन के बाद से, उनके प्रस्थान-काल तक देशभक्ति, राष्ट्रिय जागरण, पुनरुज्जीवनवाद, गाँधीवाद, समाजवाद आदि विचारधाराएँ भी भारत की सभी भाषाओं के साहित्यों में समान रूप से पाई जाती हैं। कहीं कहीं तो कालक्रम भी प्रायः एक से हैं। संस्कृत, मराठी तथा हिन्दी के कवियों का एक कालक्रमानुसार मानचित्र मैं दे रहा हूँ

संस्कृत, मराठी और हिन्दी के बारहवीं तेरहवीं शती ईस्वी के कवि और उनकी रचनाएँ

संस्कृत के कवि

सन्	कवि	रचना
११७९ से १२६२ तक	सोमेश्वर	१ कीर्तिकौमुदी
		२ सुरथोत्सवम्
		३ रामशतक
१३वीं शती	मेदिनिकार	मेदिनिकोश
"	वीरनन्दी (जैन)	चन्द्रप्रभाचरित
"	कृष्णानन्द	सहृदयानन्द
१२०५	श्रीधरदास	सदुक्तिकर्णामृत (पद)
"	अमरचन्द्र (जैन)	१ बालभारत
		२ छन्दोरत्नावली (छन्दबद्ध)
		३ जिनेन्द्रचरितम्

मराठी के कवि

सन्	कवि	रचना
१२७०	महदंबा	ढवळें
"	लक्ष्मीचन्द्र	गीता टीका
"	गोपाल पंडित	चौपदा सुभाषित
१२८४	केशवराज	१ मूर्तिप्रकाश (ओवी)
		२ सिद्धान्तसूत्र पाठ
१२७२	दामोदर पंडित	वत्सहरण
×	नरसिंह	नलोपाख्यान
१२९१	नरेन्द्र पंडित	रुक्मिणी स्वयंवर
१२२८	पुंडलीक (विठोबाभक्त)	?
१३वीं शती	मुकुंदराज	१ परमामृत
		२ विवेकसिंधु
१२६९–१२९८	निवृत्तिनाथ	?

१२७१–१२९६	ज्ञानदेव	१ भावार्थदीपिका या ज्ञानेश्वरी २ अमृतानुभव ३ योगवासिष्ठ
१२७३–१२९७	सोपानदेव	स्फुट कविता, पद, अभंग
१२७७–१२९७	मुक्ताबाई	स्फुट कविता, पद, अभंग
१२९९	चांगदेव	हरिपाठाचे अभंग

महानुभाव-पंथ के कवि

सन्	कवि	रचना
१२५०	चक्रधर	सूत्रें
×	महीन्द्र	लीळाचरित्र
×	भास्कर	१ शिशुपाळ वध (ओवी) २ भागवत एकादश स्कंध टीका (ओवी) ३ पूजा अवसर ४ चौपद्य ५ ईश स्तुति ६ विराट शतक ७ चक्रपाणि चरित ८ दत्तात्रेय चरित ९ गीता टीका
१२७०	नागदेवाचार्य	?

हिन्दी के कवि

सन्	कवि	रचना
१०७५–११५४	जिनदत्त	
१०८८–११७९	हेमचन्द्र (निम्बार्क–११५०)	
११५९	हरिभद्र	
११८०	विद्याधर	
११८४	शालिभद्र	

हिन्दी कवि (जारी)

११९-	सोमप्रभ (मध्वाचार्य ११९९-१२७८)	
१२७७	लक्खण	
१२८३	बालचन्द्र (जैन)	द्रव्यसंग्रह टीका
१२८०	जज्जल (राजशेखर-१३१४)	
१२५५-१३२५	अमीर खुसरो	
१३२० या २३	विद्यापति	
१२७५	कुमुदेन्दु (जैन)	रामायण
१२९०	हस्तिमल्ल (जैन)	आदिपुराण
१२८१	नरहरितीर्थ (माध्व ब्राह्मण)	कविताएँ, पदादि

यहाँ हिन्दी और मराठी भाषाओं के आदान प्रदान के सम्बन्ध में विचार करना उचित होगा। दो भाषाओं में आदान प्रदान तीन प्रकार से हो सकता है। दोनों भाषा भाषी सामाजिक जीवन में और कार्य क्षेत्र में परस्पर सम्पर्क में आने से एक दूसरे की भाषाओं से शब्दों, मुहावरों, वाक् प्रचारों का अनजाने विनिमय करते हैं और एक दूसरे की संस्कृति से प्रभावित होते हैं। दूसरे, एक भाषा से दूसरी भाषा में पुस्तकों का अथवा स्फुट रचनाओं का अनुवाद होता है। तीसरे, एक भाषा भाषी दूसरी भाषा में स्वतन्त्र मौलिक रचना करता है। हिन्दी और मराठी साहित्यों के परस्पर प्रभाव तथा परस्पर ऋण का विचार करते समय कुछ परिचयात्मक बातें मराठी साहित्य के इतिहास और विकास के विषय में जाननी आवश्यक हैं।

हिन्दी और मराठी भाषा के परस्पर सम्बन्ध के लिए दो तीन बातें बहुत सहायक हैं। एक तो दोनों भाषाओं की लिपि एक सी है। अ, ल, झ, क्ष, ण की लिखावट का अन्तर भी निर्णयसागर से विजापुरे टाइप तक मराठी मुद्रण-सुलभता ने पाट दिया है, और मराठी में एक आध अक्षर ळ का अधिक होना अथवा च, झ, ज्ञ, ज्ञ की उच्चारण भिन्नता कोई बड़ी बाधा नहीं। इन गौण अक्षर भेदों को छोड़ भी दें तो दूसरा बड़ा लाभ यह है कि दोनों भाषाओं में संस्कृत के तत्सम शब्द प्राय चालीस प्रतिशत समान हैं। दोनों भाषाएँ प्राकृत से

निकली हैं, यद्यपि महाराष्ट्री और शौरसेनी प्राकृत मे व्याकरणगत कई भिन्नताएँ हैं, फिर भी 'आइल गइल, अइली गइली' जैसे भोजपुरी मैथिली प्रयोग मराठी म भी मिलते हैं और पहाडी बोली तक में मराठी के कई शब्द वैसे ही मिलते ह, जैसे उडिया म। दोनों भाषाओ का इतिहास या कह उत्तरभारत की चारों प्रमुख भाषाओं अर्थात् बँगला, हिन्दी, गुजराती और मराठी क साहित्य का इतिहास एक ही सी रेखा म विकसित हुआ ह। आरम्भ मे वही सिद्ध और निर्गुण सन्त, फिर वैष्णव भक्तिधारा, राम कृष्ण चरित पर आश्रित काव्य, फिर एक युग उत्तान शृङ्गार अथवा उग्र वीररस से भरी लोकगीत गाथाओं के रीतिबद्ध काव्य का, फिर अंग्रेजों के आगमन के बाद एक नव जागरण का प्रस्फुटन। आधुनिक काल मे भी वही प्रारम्भिक विदेशी प्रभाव क प्रति शकित चित्त अस्थिरता, फिर घोर अनुकरण, बाद म गान्धी प्रेरित राष्ट्रीयता तथा अ त में मार्क्स-फ्रायड क व्यापक प्रभाव की छाया, पुरानी लीक छोडकर चलने की छटपटाहट, सभी साहित्यों म एक सी वृत्ति लक्षित होती है। कुछ दशकों का अ तर इधर या उधर छोड द—उतना प्र येक प्रान्त का सामाजिक सास्कृतिक जागृति की गति का भेद मात्र है।

गोआ से गोंडवाना तक बोली जानेवाली, कोंकणी, अहिराणी, वऱ्हाडी बोलियों से युक्त (या कोंकणी से भिन्न ?) ढाई करोड जनता की इस भाषा का नाम मराठी है। मराठी साहित्य का आरम्भ ९८३ ईस्वी स माना जाता है, यद्यपि शोधकों को कुछ ताम्रपट इससे भी पुराने मिले है। हिन्दी के आदिकवि स्वयम्भू तथा सरह का काल सातवीं शती है, मराठी के मानभाव अथवा महानुभाव कवियों में चक्रधर, महदम्बा, उद्धव चिद्घन, मुकुदराज आदि का काल भी ग्यारहवा शती तक पहुँचता है।

प्राचीन आर मध्ययुगीन मराठी साहित्य के कालखड यों माने जाते है

१ ज्ञानेश्वर और महानुभावी सन्तो का यादवकाल (१२५०–१३५०)

२ एकनाथ दासोप त का बहमनीकाल (१३५०–१६००)

३ रामदास तुकाराम का शिवकाल (१६००–१७००)

४ मोरोप त रामजोशी का पेशवाकाल (१७००–१८००)

सन् १८१८ म पेशवाइ के पतन के पश्चात आधुनिक काल का आरम्भ

होता है, जिसमें १८५६ ईस्वी में चिपळूणकर की 'निबन्धमाला' के प्रकाशन के बाद आधुनिक मराठी गद्य का विशेष विकास हुआ।

प्रत्येक काल के एक एक प्रमुख सन्त कवि को ले तो ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास आदि सभी की मराठी रचनाओं के साथ ही कुछ कुछ फुटकर पद रचना हिन्दी में भी मिली है। सन् १८९४ में प्रकाशित 'अनेककविकृत पदे, कटाव, लावण्या वगैरे पद संग्रह भाग पहिला' नामक ग्रन्थ में अनेक पुरानी हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर संशोधित और संकलित मराठी के प्राचीन कवियों के कुछ हिन्दी पद भी मिलते हैं। मैं उदाहरण स्वरूप प्रत्येक पद की कुछ पंक्तियाँ ही यहाँ दे रहा हूँ। ज्ञानेश्वर या ज्ञानदेव का पद १२९० ईस्वी के करीब का

सोही कच्चा वे कच्चा वे। नही गुरू का बच्चा॥
दुनिया त्यजकर खाक रमाई जाकर बैठा बन मों।
खेचरि मुद्रा वज्रासन मों ध्यान धरत है मन मों॥
हुकुम निवृत्ति का ज्ञानेश्वर कू तीन ऊपर सैना।
सद्‌गुरू की कृपा भई जद आपी आप पिछाना॥

नामदेव (१२७० से १३५० ई०) के एक पद 'गौळणी ठकविल्या' में कुछ पंक्तियाँ हिन्दी में हैं —

देख कन्हैया। मैं इज्जत की बड़ी॥
कदम पकडूँगी। मैं थाकूरो जड़ी॥
मेरी चुनरी दे। मेरी दे चुल्लडी॥

और दूसरा एक पद है 'धाम्ब धाम्ब रे, भज ले रे राजा', इसमें मराठी प्रभाव स्पष्ट है, जैसे —

जिने जन्म में डारा है तुजकूँ। विसर गया उनकू ध्यान॥
फिर पस्तायेगा दगा पायेगा। निकस जायेगा अवसान॥
लख चौरासी का फेरा आवेगा। तब चुपी मिलाये बन्दुकु॥
फिरता फिरता तु रमता है बाबा। कौन रखे तेरे तनकु॥
जिस माय उदरी जन्म लियेगा। तेरे सगत दुख उनकु॥
गरभी की यातना सुन मेरे भाई। नवमास बन्धन डारे॥

नहीं लगा हलने चलने कु बावा । छाडनकु कोई नहीं आवे ॥
आग लगी है देखन अन्धे । काय कूं खाता खोया ॥

बम्बई में अभी भी जो हिन्दी साधारण मराठीभाषा भाषी जनता बोलती है उसमें यह 'हमकू तुमकू', 'कायके वास्ते' वगैरह सुनाई देंगे ।

एकनाथ (१५३३–१५९९ ई०) के पद १११ से १२० हिन्दी में हैं जिनकी प्रथम पंक्तियाँ हैं —

१ बन्दे हुशार रहना वे । साहब राजी रखना वे ।
२ गुरूकृपाजन पायो मेरे भाई । राम विना कुछ जानत नाहीं ।
३ राम मीठा लगा । सब सुख हम त्यागा ॥
४ गोरस बेचन चल गोरी मथुरा । तुम केव ठाडे नन्दकिसोरा ॥
५ एकना एक हजार नीरो । इसमें मेरा मौला बसे ॥
६ मलगु फकीर, ऐसा मलगु फकीर ॥
७ गाफल हुआ । आगे गफलत का कुवा ॥
८ छोडा तन धन गहे का काम । ज्यामे हरि से बदलाम ॥
९ भजन बिन धिग चतुराई ग्यान ॥

एकनाथ के शिष्य त्र्यंबक कवि का भी एक हिन्दी पद मिलता है—
'जिसने तुजकू पेदा किया कर उसका सन्दोग रे ।'

तुकाराम (१६०८–१६५० ई०) की गाथा में 'गौळणी और विराणी' के कुछ अंशों में हिन्दी पद हैं और फुटकर पदों में १६ पद हिन्दी में मिलते हैं, जिनकी कुछ प्रथम पंक्तियाँ हैं —

आज लहूँ निरवान ।
छोडे धन मन्दिर बन बसाया ।
मन्त्र तन्त्र नहीं मानत साखी ।
हरिसों मिलन दे एकहि बेर ।
क्या कहूँ लह बुझत लोका ।
कब मरू पाई चरन तुम्हारे ।
दासों पाछे दौरे राम ।
काहे रोवे अगले मरना ।

काहे भुला धनसमती घोर ।
देखत आखों झूटा कोरा ।
क्या मारे लाल करन चुकी भइ ।

रामदास (१६०८–१६८१ इ०) के चार पाँच पद हिन्दी में मिलते है, जैसे—
चातुर चातुर से भटका, रघुराज क दरबार धमडी गाजतु हैं,
सिवाँ मनु सनु आसा लगाव घो, हात चक्र त्रिसूल विराजे, आदि ।

दक्षिण हैदराबाद के सन्त कवि केशवस्वामी (१६२८ ई०) के आठ पद हिन्दी म मिलते है, जिनमे उर्दू शब्दों का बाहुल्य है —

१ दुनिया का धन्दा सारा छोड़ दिया भाइ ।
हुसयार से नजर पड़े साहब सा लाइ ॥

२ काहा का पाप काहा का पून । हम तो भये ह सून में सून ॥

३ बचा ! करल विवेक । सब स मन सा एक ॥
बचा ! बाहरे मत देख । त ही तू अलेख ॥

४ हार मुझे हुपार मुझे देख मुझे दाई ।
डोंगी नजर देख बाबा नजीक इलाही ॥

[नोट—यह प्रबन्ध १९५३ में लिखा गया था । तत्पश्चात् डा० विनयमोहन शर्मा का ग्रन्थ 'मराठी सन्तों की हिन्दी को देन' प्रकाशित हुआ है, जिसमें सभी उदाहरण हैं ।]

अध्याय २

प्रस्तुत अध्ययन में विशेष दृष्टिकोण

हिन्दी और मराठी के निर्गुण सन्त काव्य का यह अध्ययन प्रस्तुत करते समय मैंने चार दृष्टियों से विशेष रूप से विचार किया है —

१ निर्गुण सन्त काव्य का काव्य कला की दृष्टि से साहित्यिक अध्ययन और समीक्षा।

२ निर्गुण सन्त काव्य के निर्माण के पूर्व की दार्शनिक परम्पराओं और प्रभावों का विश्लेषण।

३ निर्गुण सन्त काव्य के प्रादुर्भाव के काल का ऐतिहासिक विवेचन, समाजस्थिति और जातियों के सम्बन्ध का विचार।

४ निर्गुण सन्त काव्य के मूल में दाक्षिणात्य शैव मत, शिव-शक्ति संयोग।

आरम्भिक अध्याय में काव्य के लक्षण और प्रयोजन की चर्चा की गयी थी। सन्त काव्य को कहाँ तक काव्य माना जाय यही आरम्भ में विचारणीय है। साहित्यिक अध्ययन और समीक्षा का अर्थ इधर केवल ऐकान्तिक या 'साहित्य के लिये साहित्य' की दृष्टि से लिया जाने लगा है। साहित्य समीक्षा में केवल साहित्यिक मान दण्ड काम में लाये जाय, साहित्येतर विज्ञान या अन्य विषयों का प्रवेश निषिद्ध हो ऐसा भी नारा उठाया जाने लगा है। मानो इन आलोचकों की दृष्टि में साहित्य का मानव जीवन और विस्तृत जगत् से कोई लौकिक सम्बन्ध नहीं है। साहित्य की सृष्टि व्यष्टि मानव द्वारा समष्टि मानव के लिये होती है। अतः साहित्य का भावन या रस प्रक्रिया भी एक लौकिक व्यापार है। वह मानव सापेक्ष है, यह दुहराना एक स्वयंसिद्ध सत्य को पुनः सिद्ध करने के समान है। यह सच है कि मानव के अन्य चिन्तन व्यापारों की भाँति साहित्य की भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। जैसे दर्शन, इतिहास, राजनीति आदि ज्ञान विषय हैं, साहित्य-शास्त्र भी एक ऐसा ही ज्ञान विषय

है। परन्तु यह दिक्कालातीत, केवल शून्य में रहनेवाला कोई वस्तु अब नहीं मानी जाती। मनोविज्ञान और समाजविज्ञान के निरन्तर बढ़ते हुए अध्ययन से यह सिद्ध हो रहा है कि मानव विकास एक सीधी रेखा नहीं है, न ही उसका अंग विच्छेद करके कोई ज्ञान सम्भव है। मानव द्वारा की गयी कोई सृष्टि चाहे ललितकला हो चाहे साहित्य, एक नित्यविकासशील, सभ्यता के साथ साथ आन्दोलित प्रभावित होनेवाली, स्पन्दनमयी कृति है। अतः उसके निर्माण में भी सूक्ष्मतः, जाने अनजाने, निर्माता के सामाजिक संस्कारों का, युग और परिस्थितियों की चेतना का, उस काल की संचित ज्ञानराशि का प्रभाव अवश्यम्भावी है। कलाकृति में कलाकार किस सीमा तक अपनी परम्पराओं से ग्रहण करता हुआ और कितनी दूषित या हतप्रभ रूढ़ियों को झुठलाता हुआ आगे बढ़ता है, यह उस कलाकार की स्वतन्त्र मेधा और प्रतिभा तथा तत्कालीन समाज स्थिति के चतुर्दिक् दबाव या उत्प्रेरण पर निर्भर है। जो सप्राण कला कृति या साहित्य रचना निर्मित होती है वह भी अपने निर्माता से सर्वथा निर्लिप्त और अपने आस पास के मण्डल या वातावरण को सर्वथा अप्रभावित करनेवाली नहीं हो सकती। जब कि प्रकृति में छोटे से छोटे अणु स्पन्दन की, परिवर्तन की, महत्ता है, तब मानव द्वारा मानव के लिये निर्मित वस्तु ऐसी जड़ कैसे हो सकती है?

साहित्य समीक्षा के विषय में स्वर्गीय आचार्य अकादमीशियन बारान्निकोव ने द्विवेदी अभिनदन ग्रन्थ में 'आन डिफरेन्ट परसेप्शन्स आफ लिटररी फैक्ट्स'[1] लेख में लिखा था 'साहित्य के इतिहासकार का ध्यान साहित्यिक तथ्यों के अध्ययन में तीन बातों की ओर साधारणतः खिंचता है ग्रन्थ या कृति, उसका रचयिता और प्रस्तुत कृति में प्रतिबिंबित सामाजिक परिस्थितियाँ या वातावरण। पाठक की मानसिक प्रतिक्रिया के पर्यवेक्षण की समस्या की ओर सामान्यतः बहुत कम ध्यान दिया जाता है। यह पूर्णतः स्पष्ट है कि किसी भी साहित्यिक कृति का ज्ञान जिस भूमि में वह निर्मित हुई है वहाँ की जातीयता के चौखटे में देखने से अधिक संपूर्ण होगा, क्योंकि यह जातीयता साहित्यिक परम्पराओं की लम्बी जटिल शृङ्खला की एक कड़ी

१ पृ० ३७२

मात्र है। इसी जातीय साहित्यिक परम्परा की पृष्ठभूमि में ही किसी भी साहित्यिक कृति का कौशल, मौलिकता और सामाजिक मूल्य जाँचा जा सकता है, क्योंकि साहित्यिक कृति वर्तमान समय के हजारों तन्तुओं से ही सम्बद्ध नहीं बल्कि जनता के या किसी जातिविशेष के इतिहास से भी निगडित होती है।"[1] सन्त साहित्य के विषय में विचार विमर्श करते समय यह बात विशेष रूप से देखनी चाहिये। भारत के मध्ययुग की सांस्कृतिक साधना परम्परा का एक फल है सन्त काव्य। यह चिंतनपरक होने के कारण काव्य ही नहीं है, ऐसा माननेवालों के विचार में सामाजिक परिपार्श्व मानो शून्य हैं।

सन्त काव्य से पर्याप्त रसोद्बोधन नहीं होता, ऐसा कई समीक्षकों का सामान्य आक्षेप है। नाट्य शास्त्रकार भरत के समय तक रस लौकिक 'आस्वाद्य' में निहित था, परन्तु बाद में विज्ञानवादियों और वेदान्तियों के प्रभाव से अभिनवगुप्त के समय तक आते आते वह 'आस्वाद' जैसी अमूर्त, अरूप, अलौकिक भाव वस्तु मात्र बन गया। 'रस' की कल्पना का ऐतिह्य विवेचन प्रो० बारलिंगे ने मराठी मासिक 'नवभारत' के नवम्बर, १९५१ के अंक में किया है। 'रस' का यह बाद का आत्म निष्ठ स्वरूप, जो कि आस्वाद्यमानता पर अधिक निर्भर है, डा० भगवानदास ने अपने 'रस मीमांसा' निबन्ध में अच्छी तरह विवेचित किया था। और वे भी इस निर्णय पर पहुँचे थे कि

१ 'प्रोब्लेम्स यूजवली ड्यु दि एटेंशन आफ ए हिस्टोरियन आफ लिटरेचर ह्वाइल स्टडीइंग लिटरेरी फेक्ट्स दि वर्क इट्सैल्फ इटस आवर एंड दि सोशल एनवाइरनमेंट रिप्रेजेंटेड इन दि वर्क दैट इज बीइंग स्टडीड वेरी लिटिल एटेंशन इज जेनेरली पेड टु दि प्राब्लेम आफ परसेप्शन टु दि साइकोलौजिकल रीएक्शन आफ दि रीडर टु दि वर्क अण्डर एक्जामिनेशन इन इज परफेक्टली क्लीयर दैट दि परसेप्शन आफ ए गिवन लिटरेरी वर्क विल बी मोस्ट कम्प्लीट इन दि फ्रेमवर्क आफ दि नेशनैलिटी आन हूज स्वाइल इट हैज बीन क्रिएटेड, बीइंग वन आफ दि लिंक्स आफ ए लौंग एण्ड काम्प्लेक्स चेन आफ लिटरेरी ट्रेडीशन्स ओनली आन दि बेकग्राउण्ड आफ दिस नेशनल लिटरेरी ट्रैडीशन कैन दि स्किल, ओरिजिनेलिटी एण्ड सोशल वैल्यू आफ ए गिवन लिटरेरी वर्क बी एप्रीशियेटेड, सिन्स इट इज कनेक्टेड विथ इन्यूमरेबल थ्रेड्स नाट ओनली विथ प्रेजेंट टाइम, बट आल्सो विथ दि हिस्ट्री आफ दि पीपल'।

का आस्वाद या रस 'लोकोत्तर' भी कैसे कहा जा सकता है ? लोक में ही तो, और लौकिक विशेष अनुभवों को लेकर ही तो काव्य साहित्य में 'रस' की चर्चा है।[1] डा० भगवानदास की इस मीमांसा से कुछ प्रयोजनीय उद्धरण देने का मोह मैं संवरण नहीं कर सकता। सन्त काव्य में प्राप्त रस की दार्शनिक पृष्ठभूमि को सम्यक् रूप में समझने में ये अंश बहुत उपयोगी सिद्ध होंगे—

'अबुद्धिपूर्वक-अनिच्छापूर्वक-'स्वाद' नहीं, किन्तु बुद्धिपूर्वक, इच्छापूर्वक, 'आस्वादन' का अनुशयी वृत्ति का नाम 'रस' है। भाव (क्षोभ, संरम्भ, संवेग, आवेग, उद्वेग, आवेश, अंगरेजी में इमोशन) का अनुभव 'रस' नहीं है, किन्तु उस अनुभव का स्मरण, प्रतिसंवेदन, 'आस्वादन', 'रसन' रस है। 'भाव स्मरण रस' और आस्वादन का रूप यह है—'मैं क्रोधवान् हूँ' या 'करुणावान् हूँ' आदि। अर्थात् मैं हूँ यही रस का सार तत्व है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है—' पुरुषे त्वेवाविस्तरामात्मा, स हि प्रज्ञानेन सम्पन्नतम, विज्ञातं वदति, विज्ञातं पश्यति, (पशव) न विज्ञातं वदन्ति, न विज्ञातं पश्यन्ति ।' पशु जानते हैं, देखते हैं, बोलते हैं, पर यह नहीं जानते कि हम जान, देख, बोल रहे हैं। मनुष्य जानता, देखता, बोलता है और साथ ही यह भी जानता है कि हम जान, देख, बोल रहे हैं। इसलिये पुरुष में आत्मा का आविर्भाव सब प्राणियों से अधिक है, उसमें प्रज्ञान भी है।'[2]

इसी 'प्रज्ञान' को या 'बुद्धिवृत्ति' को विविध दर्शनों में अलग अलग नाम दिये हैं—'अनुव्यवसाय, प्रतिसंवेदन, प्रत्यभिज्ञान, प्रत्ययानुपश्यता, निजबोध, प्रत्यक्चेतना, आत्मविज्ञान प्रभृति।' बाह्य पदार्थों के अनुभव के साथ साथ यह आत्मानुभवरूपिणी वृत्ति सत्-विद्यमान है, चित्-चेतन है, आनन्द-सुखमय है। इस 'मैं हूँ' में जो आनन्द का अंश (अंग, अवयव, कला, मात्रा, रूप, भाव, पहलू) है वही रस बुद्धि है, उसी का पर्याय रस है। इसीलिये उपनिषदों में आत्मा के विषय में कहा है—'रसो वै सः', 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति', 'कृत्स्नो रसघन एव', 'अङ्गिरसो अङ्गानां हि रसः' इत्यादि।

---

१ द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ—पृष्ठ ९।

२ वही, पृष्ठ ७।

'अहम् अस्मि'—यही सन्मय, चिन्मय, आनन्दरसमय है। आत्मा का किसी 'अनात्मा' के बहाने आस्वादन—यही रस, लीला, क्रीडा, नटन है—यही कविता म श्रेष्ठ नाटक है (काव्येषु नाटकं श्रेष्ठम्)। नाटक म पात्र 'बनते' है—अपने को अपने से अन्य 'बताते' हैं,—बुद्धिपूर्वक, लीला से, माया से ('या-मा') 'जो नही है' वही 'बन' जाते ह, और उसमें बडा रस मानते ह, आनन्द पाते है।[1]

'चैतन्य का परोक्ष नाम आत्मा है। 'अपरोक्ष' नाम 'अहम्' है। ओऽम् तो उसका नाम है, पर थोडा अव्यक्त सा है। 'अहम'—यह दिन दिन क व्यवहार म कुछ अधिक व्यक्त जान पडता है। सस्कृत वर्णमाला का आदिम अक्षर 'अ' और अतिम 'ह' है। इन दोनों के बीच म अन्य सब अक्षर हैं। अक्षरो के सयोग म सब वाक्य हैं जो सब ज्ञान, इच्छा, क्रिया के वाचक बोधक हैं। तत्रशास्त्र म एक एक अक्षर से एक एक तत्त्व, एक एक पदार्थ की, जिनका वर्णन साख्य आदि दर्शनो म किया है, सूचना होती है। 'अहम्' आत्मा की निगूढ़ सर्वज्ञता इस आद्य अन्त्य अक्षरो के सयोग से सूचित होती है।

इस 'अहम्' म, 'अस्मि' मे, आप दाश 'रस' ह ऐसा कहा। पर यहाँ एक धोखा होने का भय है। उसका निवारण होना चाहिये। 'अहम्' नाम परमात्मा (वा प्रत्यगात्मा) का भी है और जीवात्मा का भी। दोनो मे एकता होते हुए भी जो भेद ह वह प्राय प्रसिद्ध है। देश काल द्रव्य आदि से परिच्छिन्न, अवच्छिन्न, परिमित, विशेषित, आधिभौतिक शरीर की उपाधि से उपहित चेतन्य को जीवात्मा कहते ह। इन सबसे अतीत चैतन्य को परमात्मा कहते ह। ऐसी ही एक 'अस्मिता' परमात्मा की और एक जीवात्मा की होती है। पुराणो म, दर्शनसूत्रो में बताया है कि परमात्मा मे विद्या अविद्या दोनों भासती ह। जैसे दूब म से 'पोर' निकलती है वैसे अविद्या में से भी 'पर्व' निकलते ह। पहली पोर स्वय 'अविद्या', दूसरी 'अस्मिता', तीसरी 'राग', चौथी 'द्वेष', पाँचवा 'अभिनिवेश'। इसलिये 'पचपर्वा' अविद्या। विद्या के साथ रहनेवाली 'अस्मिता' पारमात्मिक, पारमार्थिक, 'अविद्या' के साथ रहने वाली 'अस्मिता' सासारिक, व्यावहारिक, जैवात्मिक। जैसे पारमार्थिक

---

१ द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ-पृष्ठ ८।

अस्मिताऽऽनुभवरूपा 'रस', पारमार्थिक 'आनन्द', ब्रह्मानन्द का पर्याय है जैसे ऐहायिक व्यावहारिक अस्मिताऽऽनुभवरूपी 'रस' लौकिक काव्य साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाले 'आनन्द' का पर्याय है। यह आनन्द उस आनन्द की, यह रस उस रस की, छाया है। ब्रह्मास्वाद का सहोदर काव्यास्वाद कहा, परन्तु उसका प्रतिबिम्ब, विवर्त, रूपक, नकल, छाया मात्र है। तथा उसमें 'वेद्यान्तर' रहे है, ब्रह्मास्वाद में 'वेद्यान्तर' का निषेध है (नेह नानास्ति किंचन)[1]।

यहाँ यह लम्बा उद्धरण देने का कारण केवल यह है कि 'रस' का लौकिक अर्थ—जैसे धीरे धीरे उपनिषद् वेदान्त के अद्वैतवाद के प्रभाव से अलौकिकत्व प्राप्त करता गया, उसी प्रकार से 'आत्मन्' या 'अहम्' की कल्पना भी बराबर परिवर्तित होती रही है। भारतीय दर्शन में यह आत्म तत्त्व एकदम 'कूटस्थमचलमध्रुवम्' नहीं रहा है। ऋग्वेद में कहीं भी कोई विरक्ति या निवृत्ति की बात नहीं है। ऋग्वेद एकदम लौकिक और अस्पष्टार्थबोधक है। बल्कि देवताएँ 'परोक्षप्रिय' हैं (ऐतरेय ब्राह्मण २, ३३, ७, ३०। तैत्तरेय ब्राह्मण १, ५, ९, २। शतपथ ब्राह्मण ६, १, १, २, १४, ६, ११, २)। वैदिक देवताएँ जो कुछ अस्पष्ट हो उससे प्रेम करती है। स्पष्ट और स्थूल से घृणा करती हैं।[2] जिस किसी देवता की स्तुति वे करते हैं वही उनके लिए देवाधिदेव हो जाता है। ऋग्वेद के द्वितीय मंडल (१२, ५) से पता चलता है कि 'क्या इन्द्र प्रत्यक्ष अस्तित्व में है?' इस प्रश्न का उत्तर है, 'किसने उसे देखा है?' सृष्ट्युत्पत्ति के विषय में भी वेदों में ऐकमत्य नहीं। कोई ऋषि इन्द्र को, कोई विष्णु को, कोई बृहस्पति को, कोई द्यौपृथिवी संगम को, कोई जल पर स्थित अग्नि को, सृष्टि का निर्माता कहते हैं। सवितृ अकेले इस रहस्य को जानते हैं। इस प्रकार से जीवोत्पत्ति के विषय में भी ऋग्वेद संदिग्ध स्थिति में है। वैदिक ऋचाओं में आर्य लौकिक वस्तुएँ मांगते हैं। जैसे ऋग्वेद के तृतीय मंडल (५३, ४–६) में सुन्दर सौम्य स्त्री मांगी गई है, तो दशम मंडल (८५, ४५) में पुत्र, प्रथम मंडल (१८, २, १२३, १) और द्वितीय मंडल (११, २;) में स्वर्ण और अष्टम मंडल

[1] द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ ९।

[2] ओल्डेनबर्ग दि रिलीजन ऑफ वेदाज, पृष्ठ ४,५०२ (लाइप्जिग, १९१७)।

(५४, ११ ४२) में गोष्ठ। यह सब भौतिक एषणाएँ हैं। और देवताओं की अनेकता स्पष्ट है। दशम मडल में (१२१) प्रजापति का एक होना और 'एकम् सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (प्रथम मडल, १६४, ४६) आर्यों पर द्राविड चिन्ताधारा के प्रभाव का द्योतक है। द्राविड लोग एकेश्वरवादी थे। यह प्रभाव इडियन हिस्टारिकल रिसर्च इस्टिट्यूट के सचालक रेवरड एच हेरास एस जे ने 'दि रिलीजन आफ दि मोहेनजादारो पीपल एकार्डिंग टु दि इन्स्क्रिप्शन्स'[1] नामक लेख में स्पष्ट किया है। उनके अनुसार 'प्रकृति की सब शक्तियों में देवत्व का आरोप करते करते वह एक देव की कल्पना की ओर बढ़े। यह सर्वदेववाद (पैन्थीइज्म) एकदम भौतिकवादी था, और उत्तर उपनिषदों के आध्यात्मिक तथाकथित सर्वात्मवाद से विरोधी और भिन्न था।'[2]

इस भिन्नता की कारणमीमासा करते हुए हेरास कहते हैं कि जदुनाथ सरकार ने 'इडिया थ्रू दि एजेज़' (कलकत्ता १९२८, पृष्ठ २५ २६) में जो यह कहा कि 'वैदिक दर्शन से भिन्न उच्च दर्शन आश्रमों में से पनपा, जनक जैसे क्षत्रिय राजाओं के दरबारों से होता हुआ। और अन्त में इसमें हुए शाक्यमुनि गौतम। ब्राह्मणों के कर्मकाड के विरोध में यह शाक्य सिंह खड़ा हुआ और उसने दहाडा' अनैतिहासिक है। सच तो यह है कि निवृत्तिवाद नव्युपनिषद् सिद्धान्तों के बहुत बाद में फैला। कर्मकाड के विरुद्ध प्रतिक्रिया इन नये विचारों का कारण नहीं, अपितु परिणाम थी। उपनिषदों में वेदों से भिन्न जो पाँच नये तत्त्व दिये—वे थे आत्म, कर्म, पुनर्जन्म, साक्षात्कार और निवृत्ति।

आत्मतत्त्व के विषय में हेरास के अनुसार उपनिषदों में यह विशेषताएँ दीं—१ आत्मन् अपरिभाषेय है, २ आरम्भ में आत्मन् ही था—जब कुछ न

---

१ जर्नल आफ दि यूनिवर्सिटी आफ बाम्बे ५, भाग १, पृष्ठ १ से १६

२ दिस अर्ली इण्डियन पैन्थीइज्म, बार्न फ्राम ए टोटली मटीरियलिस्टिक एलीमेण्ट आफ दि मल्टीप्लिसिटी आफ नेचर-गाड्स कैन नौट बट बी मटीरियलिस्टिक, एज मटीरियलिस्टिक एज दि मटीरियलिज्म आफ स्पिनोजा, एण्ड वाज माके डली इन परफेक्ट अपोजीशन टु दि मोअर स्पिरिच्युअल सो-काल्ड पैन्थीइज्म आफ दि लेट उपनिषदिक पीरिअड (हिस्टारिकल इण्ट्रोडक्शन टु दि मिस्टिक टीचिंग्ज आफ दि हरिदासाज, गोल्डन ज्यूबिली पब्लिकेशन्स, कर्णाटक विद्यावर्धक सघ, धारवाड १९३७ पृष्ठ १२)।

था, तब भी वही था, ३ आत्मन् सृष्टिकर्त्ता है, ४ आत्मन् अमर है, ५ आत्मन् अज्ञात है, ६ आत्मन् परम है, ७ आत्मन् स्वयभू, स्वयचालित, स्वयपूर्ण है, ८ आत्मन् सब जीवों मे है, ९ आत्मन् सब जीवों से भिन्न भी है, १० यही आत्मन ब्रह्म है।[1] प्रो० फार्मिची के अनुसार यह आत्मन् एक प्रकार का व्यक्ति-ब्रह्म है जो जगत् से भिन्न है ('इल पेन्सीरो रिलिजिओसो देल इंडिया प्राइमा डेल बुद्धा' पृष्ठ २५९, बोलोना, १९२५)।

'आत्म तत्त्व' या धीरे धीरे बदलता हुआ लौकिक से आध्यात्मिक अर्थ ग्रहण करने लगा। आत्मा के आनन्द तत्त्व रस की भी व्याख्या धीरे धीरे बदलती हुई भौतिक से निरिन्द्रिय निराकार रूप लेने लगी। रूप से अरूप की ओर भारतीय चिन्ताधारा की इस विकास रेखा में मध्ययुगीन सन्तों के काव्य का विशेष योगदान है, क्योंकि उन्होने कायानन्द को ब्रह्मानन्द के निकट जाकर रखा। दोनों आनन्दों की आत्मा एक ही है, यह बताया। अन्तर केवल तारतम्य का है, तत्त्व का नही, यह अपनी मस्ती से भरी कृतियों से सिद्ध किया। स्पष्ट है कि उनकी रचनाओं का रसास्वाद बाद के पडिताऊ रीतिवादी मानों से नही हो सकता। 'हद बेहद दोनों गया, कबिरा देखा नूर' का आत्मसुख भिन्न प्रकार का है। वह परवर्ती अलकारों के साँचे से नहीं बाँधा जा सकता। निर्गुण सन्त काव्य का कला की दृष्टि से अध्ययन या समीक्षा प्राय नहीं के बराबर हुई है, क्योंकि मानवी रसात्मबोध का सामाजिक परिपार्श्व से जो वैज्ञानिक, ऐतिहासिक सम्बन्ध है, उनकी ओर से उदासीन होकर चर्चाएं की गयी है। यहाँ तक कि रा० द० रानडे जैसे विद्वान के ५०० पृष्ठों के ग्रन्थ 'मिस्टिसिज़म इन महाराष्ट्र' में प्रस्तुत प्रसग मे केवल एक परिच्छेद[2] है 'ज्ञानदेव के समय महाराष्ट्र की स्थिति' पर, और वह भी बहुत सतही है।

४ निर्गुण सन्त कवियों के आविर्भाव-काल से पहले ऐतिहासिक सामाजिक परिस्थितियां क्या थीं, यह विचारणीय है। १०३७ ईस्वी के करीब अलबेरूनी भारत में आया था। उसके विवरणों से पता चलता है कि धार्मिक विश्वास

---

१ वही पृष्ठ–१७।

२ पृष्ठ ७५।

कई सम्प्रदायों में बँट चुके थे।[1] और राजनैतिक परिस्थितियाँ भी अस्थिरता से भरी हुई थी, सामन्त लड़ते थे और जनता को एक या दूसरे का पक्ष लिये बिना कोई चारा नही था।[2] ऐसे समय संत कवियों ने यदि चारण कवियों से भिन्न मार्ग अपनाया तो उसमें क्या आश्चर्य है ? डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने अपने निर्गुण कवियों के बहुत मूल्यवान अध्ययन में गोरखनाथ के किसी शिष्य के ग्रन्थ 'काफिरबोध' का एक उद्धरण दिया है—'हिन्दू मुसलमान खुदाई के बन्दे। हम जोगी न रख किस ही के छन्दे।'[3] जब जब किसी भी देश या जाति के साहित्य में ऐसे सांस्कृतिक आक्रमण या दो संस्कृतियों के बीच संघर्ष होते हैं, तब सन्त जैसे मनीषी, विचारक, स्रष्टा, कलाकार उससे कुछ अलिप्त होकर ही उसके बारे में सोचते हैं। वे दूर की बात रखते हैं। जब कि वीर पुरुष, नेता, सेनापति आदि निकट के समझौते, विग्रह, प्रतिविग्रह को लेकर चलते हैं। सन्तों की मुस्लिम आक्रान्ताओं के प्रति उदासीनता, या हिन्दू मुसलमान दोनों के दोषों की समानभाव से निन्दा या आलोचना यही अर्थ रखती है। सन्तों के इस सारे समाजकार्य को समझने से पहले उनके ऐतिह्य सामाजिक परिपार्श्व को और उनकी दार्शनिक परम्पराओं को समझना उचित होगा।

मुसलमानों का उल्लेख प्राय इस विषय पर लिखनेवाले सभी विद्वानों ने किया है, और वह वस्तुनिष्ठ, तटस्थ ऐतिहासिक घटना के रूप मे नहीं, परन्तु कुछ भावुकता से संयुक्त होकर किया है। यह शास्त्रीय विवेचन में अनुचित है। जैसा कि मै आगे सिद्ध करूँगा, मुस्लिम या ईसाई हवाओं के छूने से पहले ही हिन्दू दार्शनिक पन्थों में यह निर्गुण बीज अंकुरित हो चुके थे, और वे इतने पक्के थे कि इन घटनाओं का कोई उल्लेखनीय अनुकूल या प्रतिकूल असर सन्तमत पर कम हुआ।

डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के प्रबन्ध के प्रथम अध्याय के द्वितीय परिच्छेद

---

१ सन्तराम बी० ए० अल्बरूनी की भारत यात्रा (नागरीप्रचारिणी सभा भूमिका भाग २)।

२ गौरीशंकर हीराचन्द ओझा मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति (हिन्दुस्तानी एकेडमी)।

३ दि निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोएट्री अध्याय १, पृष्ठ–९ (इण्डियन बुक शाप बनारस)।

का शीर्षक ही है—'इस्लाम की कोपदृष्टि में भारत'। ११९७ ई० में मुहम्मद बिन बख्त्यार ने नालन्दा विद्यापीठ नष्ट किया और रत्नावली पुस्तक संग्रह जला दिया, और अन्य मुस्लिम शासकों ने जो अत्याचार किये, उनका ईश्वरीप्रसाद के 'मेडीवल इण्डिया' के आधार पर बड़थ्वाल ने वर्णन किया है और कहा है कि मुस्लिम असहिष्णु थे, वे धार्मिक स्वतन्त्रता नहीं देना चाहते थे। महमदीय धर्म प्रसार और साम्राज्यस्थापन एक साथ चलते थे। कुफ्र का विनाश गाजी का प्रधान धर्म था। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि सूफी फकीरों का एकेश्वरवादी विश्वात्मवाद (मोनोस्टिक पैन्थीइज्म) हिन्दू दर्शन की देन थी। यही मत चन्द्रबली पांडेय के 'तसव्वुफ और सूफीमत' के परिशिष्ट[1] (२) में विस्तार से प्रतिपादित किया गया है—'तसव्वुफ पर भारत का प्रभाव'। इसमें सुलेमान नदवी के ग्रन्थ 'अरब व हिन्द के ताल्लुकात' के आधार पर विस्तार से बताया गया है कि मुसलमान हिन्दुओं से स्मिथ ईश्वरीप्रसाद वर्णित ढंग पर केवल नफरत ही नफरत नहीं करते हैं, बल्कि आपस के सम्बन्धों से ज्ञान, दर्शन आदि क्षेत्रों में उन्होंने कुछ पाया भी। यहाँ तक कि वहाबी मुसलमान सूफियों को 'अहलेहनूद' तक कहने लगे। आदम का पता 'गिज़ा ए गन्दुम' से हुआ और वह दक्षिण में सरन द्वीप में २०० बरसों तक रहा। भारत में आरम्भ में पाणि जाति थी (जिसे वसु महोदय 'फोनीशी' कहते हैं)।[2] वे आर्यों के आक्रमण के बाद पश्चिम में भागी। जैसे आदम सरन से अरब में। कुरआन में जिस काली मिट्टी की कीचड़ से आदम को बनाने का उल्लेख है, वह भी भारत में ही रही होगी। वेल[3] के अनुसार 'हिन्द' शब्द का प्रयोग यूनानी लतीनी भाषाओं में बहुत अस्पष्टार्थवाची होता रहा था। अरब और हिन्दुस्तान के 'तिजारती ताल्लुकात' दो हजार बरस पुराने थे। सुलेमान के जहाज 'ओफिर' बन्दरगाह तक आते थे। और हिन्दुस्तान का बहुत सा द्रव्य ले जाते थे। स्थल मार्ग का व्यापार यहूदियों के मार्फत था। इब्रानी के 'तुकी' और 'अहलिम' द्रविड़ भाषा के 'मोर' और 'चूदार लकड़ी' के पर्यायवाची हैं। शामी जातियों का भारत से केवल व्यापार ही

१ पृष्ठ २११ से २४८।

२ दा सोशल हिस्टरी आफ कामरूप, प्रथम भाग, द्वितीय अध्याय।

३ दी ओरिजिन आफ इस्लाम, पृष्ठ २१।

नहीं था परन्तु वस्तुओं के साथ विचारों का आदान प्रदान भी होता था। वसु के अनुसार हित्ती और मित्यानी क्षत्रिय और मित्रानिक के रूप हैं।[1] मनु (१०, ४३ ४४) में भारत से क्षत्रियों का बाहर जाना और संस्कार विरहित बनकर शूद्र बनकर लौट आना लिखा है। असीरिया के मूल का 'असुर' और छान्दोग्य के 'उलूलव' और शतपथ के 'हेलव हेल्व' के मूल में शायद शामी शब्द 'इलो' (इब्रानी भाषा में इसका अर्थ 'देवता' है) हो। परन्तु चन्द्रबलीजी का छान्दोग्य के 'तज्जलन्' का 'तजल्ली' से साम्य बतलाना भाषाशास्त्र सम्मत नहीं। उसी प्रकार से उपनिषद् और कुरआन में साम्य की खोज में भी बड़ी खींचतान है। अलबत्ता नूह का श्रोणीपुरम् से सम्बन्ध[2] विचारणीय है। हनीफ का पणि से और शैवी का शैवों से सम्बन्ध भी चन्द्रबली पाडे द्वारा उपस्थित किया हुआ एक मौलिक विचार बिन्दु है। आर्यपूर्व सभ्यता में 'आण, अणिल तथा अमा' नामक त्रिमूर्ति देव का उल्लेख मिलता है जो शिव, कार्तिकेय और पार्वती के पर्याय थे। कार्तिकेय या सुब्रह्मण्य का प्राचीन द्राविड नाम 'मूरुगन' भी था। मरुद्गणों से उसका साम्य दर्शनीय है।

जो लोग सन्तों के अद्वैत पर मुस्लिम एकेश्वरवाद का प्रभाव सोचते हैं, उन्हें यह नवीन तथ्य जानने चाहिए कि मोहेनजोदाड़ो से प्राप्त शिलालेखों से उस काल के लोगों के धार्मिक विश्वासों का जो पता चला है वे भी बहुत कुछ एकेश्वरवाद समर्थक हैं, औपनिषदिक विश्वासों के बीज उनमें मिलते हैं—

१ ईश्वर का नाम 'दुरुवन' पाया गया है। इसका अर्थ है, 'वह जो है'।

२ मृत्यु का नाम 'वन तेर' है। इसका अर्थ है 'आकाश तक पहुँचना', और उपनिषद् में आत्मा के 'चन्द्रमनस्' तक पहुँचने की बात का साम्य है।

३ 'वन तेर ओर मीनकण वेल'। अर्थ है—'जिसकी मीन जैसी आँखें हैं, वह मरते समय सुखी रहे।' मीन सी आँखें होने का अर्थ है ईश्वर जैसी आँख होना और ईश्वर जैसा ज्ञान होना। जो मीनाक्ष हैं वे ही मृत्यु के बाद सुखी हो सकते हैं।

---

१ दी सोशल हिस्ट्री आफ कामरूप, पृष्ठ १३०।

२ स्टडीज इन टैमिल लिटरेचर एण्ड हिस्ट्री, पृष्ठ ८९।

४ 'पेवक आ गट ग्डा अहु' (अर्थ है—सात बार मरे हुए मनुष्य के ये आठ कवच है।) यह सूत्र पुनर्जन्म की ओर इङ्गित करता है।[1]

आर्यपूर्व मोहनजोदाड़ो सभ्यता के मिले हुए यह खण्ड हमारे हिन्दू मुस्लिम विरोध या समन्वय के विश्वासों को पुनः एक बार झकझोर देते हैं। वस्तुतः निर्गुण, एकेश्वरवाद, सर्वान्तर यामि विश्वात्मा की मान्यता के बीज उपनिषद् से भी पुराने हैं। सूफी या इस्लाम तो सभ्यता की इस सहस्रपाद संस्कृति में बहुत बाद में आये।

जिस शैव मत के विध्वंस की बात की जाती है उसके मूल में ये निर्गुण एकेश्वरवादी बीज थे, और उस शिवमूर्ति के चाहे सहस्र टुकड़े हुए हों—विचारों के क्षेत्र में उस सूक्ष्म प्रभाव से इस्लाम भी नहीं बच सका। बल्कि यों कहना चाहिये कि सभ्यता के विकास में निर्गुण और सगुण मतवाद का 'प्रतीत्यसमुत्पाद' सा होता आ रहा है। निर्गुण जैसे मुख्य आधारभूत तत्व है, उस पर सगुण मत की तरंग बीच बीच में उठती है और फिर विलीन हो जाती है।[2] हिन्दू जाति भी उस समय बहुत पतनोन्मुखी थी, वर्णाश्रम धर्म ने उसे खोखला और खण्डित कर दिया था, कर्मकाण्डी कट्टरपन ने उसमें दरारें पैदा कर दी थीं।

शैवमत के मूल में भी निर्गुण बीज थे, यह तमिल शैव कवियों की कई रचनाओं से पता चलता है। तिरुनावुक्करसु स्वामी, जिन्हें अप्परस्वामी कहकर पुकारा जाता है, सम्बन्दर के मित्र थे। 'तिरुनावुक्करसु' का अर्थ है—जिह्वा के स्वामी। इनकी मूर्ति जो कोलम्बो म्यूजियम में पायी गयी है, उसके हाथों में एक घास खोदने की खुरपी सी है, इसी से वे पत्थरों से शिल्प खोदा करते थे। जैनियों ने इनका बहुत पीछा किया। इनके विषय में लोकोक्ति है कि 'देवाराम' या शैव स्तोत्रग्रन्थ के तीन रचयिताओं में ये सर्वश्रेष्ठ थे। 'शिव कहते हैं कि सम्बन्दर ने अपनी ही स्तुति की, सुन्दर ने ऐश्वर्य के लिए मेरी स्तुति की, परन्तु मेरे अप्पर ने स्वयं मेरी स्तुति की।' इन्हीं अप्पर का पद है, जिससे स्पष्ट होता है कि परमात्मा मूलतः अज्ञेय,

---

[1] हेरास का पृ. ५७ टिप्पणी १ में उल्लिखित लेख।

[2] ए० सी० बोके कम्परेटिव रिलीजन, अध्याय-११, पृष्ठ-२०।

अनाकलनीय है। केवल वह अपनी कृपा से चाहे तो 'शक्तिपात' करता है। यह गीत दक्षिण अरकाट जिले के अथिहाई वीरस्तानम के देवस्थान से सम्बन्धित है लक्ष्मीपति विष्णु ने और चतुर्मुख ब्रह्मा ने सब ऊँचाइयाँ और गहराइयाँ खोजी, परन्तु तेरे चरण वे न देख सके। फिर भी ओ एकमेव स्वामी, जो अथिआई में रहते हो, तुम निराकार हो, अपनी कृपा से, उसे देखने की शक्ति मुझे दो'।[1]

और अप्पर का एक और पद है—'मैंने उसे खोजा और पा लिया। ब्रह्म व्यर्थ ऊँचे पर खोजता रहा। विष्णु व्यर्थ धरती के नीचे पैठता रहा। मैंने तो उसे अपनी आत्मा के अन्दर पा लिया'।[2] 'मुझको कहाँ ढूँढ़ता बन्दे मैं तो तेरे पास में' का यह ईस्वी सन् ६४० के करीब का द्राविड सूत्र है। दक्षिण भारत में 'लिङ्गोद्भवमूर्ति' पायी जाती है, प्रायः सभी शैव मन्दिरों में, और उनसे द्राविड और आर्य देवताओं का अन्तर समझा जा सकता है। इस मूर्ति में मध्यभाग में एक प्रचण्ड लिंग के रूप में स्वयं शिव दर्शन देते हैं। दर्शन लेते हैं ब्रह्मा और विष्णु, जो हंस और वराह के रूप में दिखाये जाते हैं। शिव का यह वराह रूप दान्ते की कथा में भी व्यक्त है, जहाँ पत्नी शिकार पर जाती है और शिव की किरात रूप में भेंट होती है। वस्तुतः शिव की अष्टमूर्तियों से ही बाद में विष्णु के अष्टावतार बने, जिनमें वराह एक है। किंग्जबरी फिलिप्स ने अपनी पुस्तक 'हिम्स आफ तमिल शैवाइट सेंट्स' की भूमिका के अन्त में तमिलनाड की शिव विषयक चार लोककथायें दी हैं। इनमें

---

१ मूल तमिल पद की प्रथम पंक्ति इस प्रकार है —

तिरुविनाळ कोलुननारुन्दिशैमुहमुडैयक कोवुम्
इरुवरुमेलु दुम् वील दम्मिणैयडिकाणमाहार।

(हिम्स आफ तमिल शैवाइट सेंट्स किंग्जबरी-फिलिप्स १९२१, पृष्ठ-३९)

२ मूल तमिल पद की प्रथम पंक्ति इस प्रकार है —

तोरुवनेयेम्पिरानेयुनरिकुप्पादज्काणपान्
अरुवनेचरुन्वेण्डुमदिकैवीरट्टनारे

(वही, पृष्ठ-७५)

से मरुम थन क गाद नालकठ क हलाहल प्राशन का तथा रावण क कैलाश विजय क अहकार म शिव क अँगूठ द्वारा कुचलने पर क्षमा माँगने की कथाएँ उत्तर भारत म भी प्रचलित हैं, परन्तु अन्य दो कथाएँ[1] बहुत अर्थपूर्ण है, और उनका सम्बन्ध आगे भी आयेगा, इसलिए यहाँ दे रहा हूँ।

१ ब्रह्मा और विष्णु न एक बार एक ऐसा अग्नि का स्तम्भ देखा जो धरती क मूल म से उगता जा रहा था और जो सप्तस्वर्गों से भी ऊपर चला गया था। व बहुत उत्सुक हुए कि इसक तल और शीर्ष दोनों छोरों का पता चलाय। यह तय हुआ कि ब्रह्मा हस बनकर ऊपर उडता हुआ इस खम्भे के सिरे पर पहुँचे और विष्णु एक वराह बनकर उसक मूल तक जमीन खोदता जाए। हस ऊपर उडता गया, उडता गया[2] पर कभी वहाँ तक नहीं पहुँचा। वराह अपने दाँतों से जमीन खोदता चला गया पर उसने इस स्तम्भ का मूल नहा पाया। ब्रह्मा और विष्णु को अपनी मर्यादाएँ स्वीकार करना पड़ी और उन्होंने स्तम्भ की पूजा की। तब उसम से शिव निकले। शिव ने स्तम्भ का रूप ग्रहण कर लिया। बड़ से बडे लोग और धीमान् से धीमान् लोग भी खोजने से परमात्मा को नहीं पा सकते। परन्तु जो विनम्र हैं, उन्हे वह स्वय दर्शन देता है।

इस कहानी में धीमानों का प्रतीक हस और श्रीमानों का प्रतीक शूकर या वराह बहुत अर्थपूर्ण है।

२ दूसरी कथा यों है कि तीन असुर या अमानवी प्राणी थे। उन्होंने तपस्या के बल से शिव से तीन दुर्ग पाय—एक सोने का, एक चादी का, एक लोह का। इन दुर्गों की यह विशेषता थी कि ये जब चाहे तब उड सकते थे अत य मनमाने ग्राम नगर पर जाकर जम जाते, जिससे कई जीवों का सहार होता। कुछ समय बाद असुर बड़े अहकारी हो गये और शिव को भूल गये। उन्हें दड देने के विचार से शिव एक ऐसे रथ पर आरूढ हुआ

१ वहा, भूमिका, पृष्ठ–७।

२ हम जेमन मानसयात्रा, नमनि सारा दिवसरात्री, एकटि नमस्कारे प्रभु एकटि नमस्कारे (गीताजलि—रवीन्द्रनाथ)।

जिसके सूर्य चन्द्र थे चक्र और पृथ्वी थी आसन। ब्रह्मा था सारथी, चार वेद थे घोड़े, मेरु पर्वत धनुष था, आदिशेष उसकी ज्या या प्रत्यंचा था और विष्णु बाण था। यह सब तयारी देखकर देवता फूलकर कुप्पा हो गये कि शिव अपने शत्रुओं को उनके बिना नहीं जीत सकता। इस पर शिव ने केवल एक अट्टहास किया और तीनों दुर्ग एक क्षण में भस्मसात् हो गये।

इस शिव के ही नटराज और अर्द्धनारीनटेश्वर जैसे रूप हैं। सेन राजाओं की रामपाल राजधानी के प्राचीन शहर के आसपास के एक देहात को नटेश्वर कहते हैं। इसमें एक बड़े देवालय के भग्नावशेष हैं। टिपरा जिले के ब्राह्मण बरिया विभाग में एक गाँव का नाम नटघार है। यहाँ ८०० वर्ष पुरानी नटराज की मूर्ति मिली है। मत्स्यपुराण (अध्याय २५९) में भी नृत्यमयी शिवमूर्ति का वर्णन है। उत्तर भारत की शिवमूर्ति के पैरों के नीचे बैल होता है। दक्षिण भारत की मूर्तियों में अपस्मार नामक राक्षस। कुछ मूर्तियों में बैल पीछे भी पाया गया है। जैसे बदामी की पहली गुफा के मुख के पास। इस नटराज को कहीं चार, कहीं दस, कहीं बारह और कहीं सोलह हाथ होते हैं।[1]

शिवशक्ति की एकत्र और स्वतंत्र उपासना का शाक्त तन्त्रों में बड़ा विस्तृत विधान है। विष्णुक्रान्त, रथक्रान्त, अश्वक्रान्त तीन भूखंडों में से प्रत्येक में ६४ तन्त्र प्रचलित थे-उनमें शाक्त, शैव, वैष्णव, सौर, गाणपत्य और बौद्ध भी थे। वेदान्तियों की माया और शाक्तों की शक्ति एक सी है। केवल वेदान्ती उसे आवरण मानते हैं, शाक्त उसे प्रमुख और यथार्थ मानते हैं। शाक्तों के अनुसार यह शिवशक्ति ही परमतत्त्व है। सत्य तो अद्वैत, सच्चिदानन्द है। वह निर्गुण इस अर्थ में है कि उसमें कोई रूपभेद नहीं है। उससे अपर कोई, कुछ कहीं नहीं है। वही है। शाक्त अद्वैतवादी थे। शक्ति के दो रूप वे मानते हैं विद्या या चित्, प्रकाश, अविद्या या माया या विमर्श। यह माया विश्वमयी होकर भी विश्वोत्तीर्ण है। यह विश्वमाया शिव जैसे पाँच प्रेतों पर बैठी, मणिद्वीप के कल्पद्रुमों के कुंजों में रहती है। इस मणिद्वीप की सुवर्ण-

१ महाराष्ट्र ज्ञान कोश (डा० श्री व केतकर) 'न' खण्ड, पृष्ठ–११।

भिन्नताओं को अमृत की तरंग धोती रहती हैं।[1] इस विषय में और विस्तार से चर्चा आगे नाथिक प्रभाव प्रसंग में होगा।

उत्तर बौद्ध और उत्तर शैव मतों में भी काफी साम्य होने लगा था। इस बात का पता हम अर्द्ध नारीनटेश्वर की मूर्तियों तथा अवलोकितेश्वर की मूर्तियों के अध्ययन से चलता है। इसी सम्बन्ध में 'आदिबुद्ध' कल्पना का भी विचार कर लेना अनुचित न होगा। ए० सी० बोक्ट ने अपने 'कम्परेटिव रिलिजन' में विभिन्न देशों का विभिन्न देवता मूर्तियों की पुरुष या नारी रूप प्रतिष्ठा का एक विवरण दिया है, वह अर्द्धनारीश्वर के अध्ययन के पूर्व हम देख लें

पु—पुरुष, ना—नारी

देश	सूर्य	देवदूत	चन्द्र	भाग्य या नियति	पृथ्वी	प्रजा	मद्य	मृत्यु पाताल	प्रकाश	कृषि	शिकार
चीन				पु	पु	ना		पु		पु	
इंग्लैंड	पु					ना		पु, ना		पु	
मिस्र	पु, ना		पु	ना	ना			पु			
यूनान	पु	पु		ना	ना	ना		पु, ना			
जापान	ना			पु	पु	ना			पु	पु	
रोम		पु								पु	
सुमेरिया	पु	पु	ना	ना	पु	पु, ना		ना		पु	पु
सीरिया								पु			
ईरान पूर्व	पु				ना						
जर्मन जातियाँ	पु			ना	ना	ना		ना			
भारत	पु	पु	पु		ना		पु				

१ दि शाक्त न न लेखक पी० एम० पी० महादेवन, प्रबुद्ध भारत, जनवरी १९५३, पृष्ठ-४०।

देश	पर्जन्य या जल	अग्नि	युद्ध	द्यौ	आकाश	वसन्त
चीन					पु	
इंग्लैंड			पु, ना			
मिस्र			पु		पु	
यूनान			पु		पु	
जापान		पु	पु			
रोम			पु			
सुमेरिया		पु, ना	पु			
सीरिया						
ईरान पूर्व		पु		पु		
जर्मन जातियाँ		पु			पु	
भारत	पु	पु	पु	पु	पु	

देश	मरुत	ब्रह्मा	नदी	उषा	सत्य	देव	नाश कर्ता	सुख दाता	कला कौशल	दुष्टता या पाप
चील						पु				
इंग्लैंड			ना						पु	
मिस्र			पु, ना		ना	पु	पु			
यूनान				ना						
जापान										
रोम										
सुमेरिया		पु							पु	
सीरिया										पु
ईरान पूर्व										पु
जर्मन जातियाँ	पु	पु							पु	पु
भारत	पु		ना			पु	पु, ना	पु	पु	पु

देश	समुद्र गर्जन	समुद्र	स्रष्टा	प्रेम या काम	सहोदर	मन या बुद्धि	उपचार	प्रसूति में मृत माता
चीन			पु					
इंग्लैंड	पु	पु				पु		
मिस्र								
यूनान								
जापान								
रोम								
सुमेरिया	पु	पु		पु			पु	
सीरिया			पु					
ईरान पूर्व			पु					
जर्मन जातियाँ	पु	पु						
भारत	पु		पु	पु		पु, ना		ना

इस मानचित्र में जोकेट में भारत के कई खाने छोड़ दिये हैं। वे इस प्रकार हैं चन्द्रमा (पु), नियति (ना), प्रजादात्री-प्रजापति (पु, ना), यम (पु), प्रवास-कृषि-मृगया का कोई विशेष देवता नहीं है, वसन्त (पु), नदी (ना), सत्य (पु), सागर (पु), सहोदर अश्विनीकुमार (पु), तथा उपचार का एक देवताविशेष नहीं है, यद्यपि धन्वन्तरि अश्विनी कुमार आदि को मानते हैं।

महाराष्ट्र-ज्ञानकोशकार ने अर्द्धनारीश्वर की मूर्तियों के विषय में सविवरण लिखा है—'अर्द्धनारीश्वर की मूर्तिकल्पना केवल भारत में है, ग्रीस, रोम, पेरू आदि विदेशों में नहीं। शैव मत जहाँ अधिक प्रबल था उस दक्षिण में उमा महेश्वर की ऐसी प्रतिमाएँ अधिक मिलती हैं। मत्स्यपुराण में २६०वें अध्याय में अर्द्धनारीश्वर का रूप वर्णित किया है।'

इसी में बाद में अवलोकितेश्वर और आदिबुद्ध की कल्पनाएँ मिल गयी। दार्शनिक परम्पराओं में सामाजिक विश्वास मिलते गये।

अध्याय ३

निर्गुण सन्त-काव्य का वैज्ञानिक और शास्त्रीय अध्ययन आवश्यक

निर्गुण सत काव्य का वैज्ञानिक अध्ययन पहले परिभाषा से आरम्भ करें। 'निर्गुण' शब्द की चर्चा स्वय स-तों के शब्दों म आग के विवेचन में होगी। यहाँ उस मत पद्धति के मूल की दार्शनिक विचारधाराओं का ऐतिहासिक सूत्र प्रस्तुत किया जायगा। परन्तु उससे भी पहले 'सन्त' शब्द का अर्थ लें। 'सन्त' शब्द का प्रयोग कालिदास[1] या भर्तृहरि[2] जैसे कवियों ने ऐसे सज्जन के अर्थ म किया है, जो कि 'पानी पीना छान कर, गुरु करना पहचान कर' की तरह ठोंक बजाकर सत्य ग्रहण करता है या कि जो परहितरत रहता है। परशुराम चतुर्वेदी[3] के अनुसार 'सत' का यह एक रूप है। पाहुडदोहा के 'सतु णिरजणु सोजि सिउ तहि किज्जउ अणुराउ' और तुलसी के उत्तरकाड से 'जानेहु सत अनत समाना', गरीबदास क 'साईं सरीखे सत हैं या म मीन न मेख' और पलटूसाहब के 'सत और राम को एक के जानिये दूसरा भेद ना तनिक आनै' आदि के साक्ष्य साथ में उन्होंने प्रस्तुत किये है। परन्तु यहाँ हिन्दी और मराठी दोनों भाषाओं क सतों का एकत्र विचार होने से दोनों भाषाओं मे इस शब्द के प्रयोग म जो भिन्नता है, वह ध्यान में रखनी होगी। हिन्दी म कबीर आदि सिद्ध योगियों-नाथपंथियों से प्रभावित निर्गुणियों को सत कहा गया है[4], जब कि मराठी में भक्त भी इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं। प्रो० रानडे ने तो यहाँ

---

[1] स त परीक्ष्या यतरद्भज ते मूढ परप्रत्ययनेयबुद्धि।

[2] स त स्वय परहिते विहिताभियोगा।

[3] उत्तरभारत की स त परम्परा, पृष्ठ ९।

[4] हि दी साहित्य की भूमिका, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, अध्याय ३, पृष्ठ ३०-३१।

तक कहा है कि 'विट्ठल सम्प्रदाय में संत एक पारिभाषिक शब्द है जो कि वारकरी सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिये ही प्रयुक्त होता था।' अपने लेख 'मराठी व हिन्दी संत' में मा० कृ० पारधी[1] ने 'हिंदीचा पक्तिभेद' (हिंदी का पंक्ति भेद) में जो कहा है वह यहाँ 'संत' शब्द के विषय में महाराष्ट्रीय दृष्टि का सही द्योतन करता है। वह अंश इस प्रकार है —

'मराठी संत परम्परा चक्रधर ज्ञानेश्वर से यानी तरहवी सदी से शुरू होती है, तो हिन्दी संत परम्परा कबीर से यानी करीब सौ वर्ष बाद शुरू होता है। भक्ति सम्प्रदाय की लहर पहले दक्षिण से उठी और धीरे धीरे उत्तरभारत में फैलती गई, इस बात के लिये पर्याप्त आधार है, और समीक्षकों में इस प्रकार का एक मत प्रचलित भी है। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का भी यही मत है। डा० बड़थ्वाल का मत है कि हिन्दी संत परम्परा का उत्स रामानन्द में है और रामानन्द रामानुज मध्व निम्बार्क आदि दाक्षिणात्य आचार्यों की दार्शनिक परम्परा में थे। उस समय का ऐतिह्य भी इसी मत का समर्थक है पहले तमिल और कन्नड संतपरम्परा शुरू हुई। उसके बाद महाराष्ट्र में, और उसके बाद उत्तरभारत में यह परम्परा चली। कबीर के जन्म से पहले ज्ञानेश्वर आदि संत काशी की यात्रा कर चुके थे। नामदेव का और भी उत्तर में बोलबाला हो चुका था। परन्तु यह मत श्री परशुराम चतुर्वेदी नहीं मानते। उनके अनुसार उत्तरभारत की संत परम्परा स्वतन्त्र है और दाक्षिणात्य संत परम्परा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, बल्कि दाक्षिणात्यों से वह प्रभावित भी नहीं है। भिन्न भिन्न युगों में विशिष्ट विचारों की तरंग उठती है और वे देश मर्यादाएँ लाँघकर फैलती जाती है, अलग-अलग स्थानों में उनसे झरने फूटते है, ऐसी भी एक मान्यता है। भक्ति सम्प्रदाय एक विशिष्ट युग में उठी हुई तरंग है और उसकी कल्पना भिन्न भिन्न प्रदेशों में स्फुरित हुई और उसकी समान अभिव्यंजना हुई ऐसा भी कह सकते है। लेकिन किससे कितना ऋण ग्रहण किया यह स्वीकार करने में किसी को भी हीनता की भावना नहीं होनी चाहिये।'

---

१ सत्यकथा, मार्च १९५३।

'परन्तु संत शब्द को लेकर, हम और मराठी में हिंदी में कुछ विचारों की अस्पष्टता है। श्री चतुर्वेदी ने अपने ग्रन्थ 'उत्तरभारत की संत परम्परा' में संत शब्द की उत्पत्ति और व्याख्या देकर संतों के लक्षण बताये हैं, परन्तु वे उतने समाधानकारक नहीं हैं। उनकी अपेक्षा न० र० फाटक के 'ज्ञानेश्वर वाङ्मय आणि कार्य' ग्रन्थ में दी हुई व्याख्या अधिक समीचीन है। भक्ति मार्ग, आध्यात्मिक जीवन धारणा और लोकजीवन के प्रति लगन यह तीनों बातें संतपन के लिये आवश्यक हैं। यह कम से कम मराठा संतों में दिखाई देता है और यह तीनों बातें प्राचीन चक्रधर से आधुनिक तुकडोजी तक सब संतों के लिये सही है। हिंदी में यह बात नहीं है। हिन्दी में संत केवल निर्गुणिये माने जाते हैं। संत, सूफी और भक्त यह तीन भिन्न भिन्न भेद एक ही भक्ति सम्प्रदाय के हिंदी ने माने हैं। इस कारण हिंदी संतों के बारे में जो ग्रन्थ लिखे गये हैं उनमें पूना की पेशवाई के वस्त्र फेंककर उत्तर में कफनी धारण किये हुये शामराव पेशवा उर्फ तुलसी साहब का बड़ा स्थान मिलता है। परन्तु गये चार सौ वर्षों तक हिन्दीभाषियों के लोकजीवन में अम्लान भाव से परिमलित होनेवाले रामचरितमानसकार को संत नहीं कहते। मीरा, सूरदास आदि भक्तों को भी संतों के इस मेले में स्थान नहीं है। इन भक्तों को संत न कहना मराठी मन को विचित्र जान पड़ता है। परन्तु यह पंक्तिभेद हिन्दी में बराबर चलता है। डा० बड़थ्वाल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, राहुल सांकृत्यायन आदि शोधकर्ताओं को भी यह 'पंक्तिभेद' मान्य है।'

इस लेख में आगे चलकर निर्गुण सगुण भेद पर विस्तार से कहा है। श्री पारधी के मत से 'संत' शब्द अधिक व्यापक है और उसमें भक्त भी आते हैं, यह बताया गया है। परन्तु हमारे मत से हिन्दी में रूढ़ यह शब्द भेद अधिक सार्थक है क्योंकि शुद्धाद्वैतवादी और भगवत्पंथियों में यह भेद अर्थपूर्ण है। महाराष्ट्र में चूंकि ऐसा स्पष्ट भेद नहीं था, संत शब्द का उपयोग सबके लिये एक सा किया जाता है। न० र० फाटक के जिस 'संत' विषयक विवेचन की ऊपर चर्चा है, वह इस प्रकार है[1] —'संत' शब्द 'सत्' से हुआ यह सहज ध्यान में आ सकता है। संत यानी जो कुछ

१ न० र० फाटक ज्ञानेश्वर वाङ्मय आणि कार्य, पृ० २ से ९ तक।

अस्तित्व म है। उसके मूलार्थ की थामे धीमे आगे अनेक शाखाएँ हुईं। भगवद्गीता के १७वें अध्याय म 'ॐ तत्सत' शब्द म 'सत्' का अर्थ स्पष्ट करते हुए सद्भाव (विद्यमान होना), साधुभाव, प्रशस्त कर्म, उसी प्रकार—

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीय सदित्येवाभिधीयते॥ २७॥

यज्ञ, दान, जप करते रहने को 'सत' कहते ह। उसके लिये किये जानेवाले कर्म के लिये भी 'सत्' शब्द प्रयुक्त करते ह। 'ब्रह्म' है 'सत् कारण'। उसके अस्तित्व में कोई बाधा नहीं होती। उसी प्रकार 'सत्' (होना) इस शब्द क मूल अर्थ ने प्राचीन वाङमय में ठेठ 'ब्रह्म' से अपना नाता जोड़ा। इतना ही नहीं, 'सत्य' के 'सच्चा' और 'टिकनेवाला' जैसे अनेक पर्याय ध्यान में लेने से 'सत' शब्द का एक अर्थ अच्छा, भला भी होता है। 'सत' शब्द 'सत्' के बहुवचन रूप में मराठी में श्रेष्ठ पुरुषों के अर्थ में रूढ है। सस्कृत में प्राय 'सत्' बहुवचन म प्रयुक्त है, अत यह 'सत' मराठी में बना।

'सत का स्वरूप और कार्य समझने के लिये उसका स्पष्टीकरण आवश्यक है, क्योंकि 'सत्' का अवतार 'सत' अनेकों की प्रतिकूल आलोचना का विषय बना हुआ है। 'सत' शब्द से आजकल स्त्री पुत्रादि परिवार गृहस्थी छोड़कर दुनिया से विरक्त मनुष्य की कल्पना सामने आती है। जिसने दुनिया से पीठ फेर ली है, बदन म राख मली है, जटाए बढ़ा ली है ऐसे मनुष्य को सत, साधु, बैरागी कहने की प्रथा प्रचलित है। 'सत' की भाति 'बैरागी' शब्द की भी काफी निन्दा की गई है। सत के साथ 'महत' का भी प्रयोग किया जाता है। 'महान्' (श्रेष्ठ) शब्द का सस्कृत बहुवचन 'महन्त' है और उसी शब्द से महत बना। मूलत इन सब शब्दों का अर्थ अच्छा था। आजकल दुनियादारी से विरक्त मलग के लिये यद्यपि ये शब्द काम में लाये जाते ह फिर भी सत, महत, साधु का उपयोग जगत्कल्याणकर्ता के अर्थ में किया गया था। छांदोग्योपनिषद् (अध्याय २ मत्र १५) में 'साम' का वर्णन है। साम की उपासना उत्तम है, जो कुछ बुरा है वह 'असाम' माना गया है—

समस्तस्य खलु साम्न उपासन साधु यत्खलु साधु।
तत्सामेत्याचक्षते। यदसाधु तदसामेति।

इस मन्त्र में दुष्टता, आततायीपन, औद्धत्य के अभाव को 'साधु' माना गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में भी 'साधुकारी साधुर्भवति' (जो अच्छे बरताव करता है वह साधु है) कहा गया है।'

'संत' की उत्पत्ति में आगे चलकर इस विवेचन में न र फाटक ने तैत्तिरीय उपनिषद् की एक उक्ति दी है —

'असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदु ॥'

अर्थात् "जो ब्रह्म का अस्तित्व नहीं मानता, वह स्वयं के अस्तित्व के बारे में भी अमान्यता दरसाता है। परन्तु जो 'ब्रह्म है' ऐसा मानता है उसके अस्तित्व के बारे में किसी को शंका नहीं होती।" शंकराचार्य ने ब्रह्म का अस्तित्व जो मानता है वह सदाचारी और जो नहीं मानता वह दुराचारी, इस प्रकार से इस सूक्ति का भाष्य किया है।

महाभारत में संत शब्द अनेक बार आया है। वन पर्व में सावित्री जब यम के पीछे जा रही थी, तब उसने बार बार कहा है कि अच्छे लोग धर्म को श्रेष्ठ मानते हैं—'तस्मात्सन्तो धर्ममाहु प्रधानम्' और सत्पुरुष सब के प्रति अद्रोह और मैत्री का भाव रखते हैं—'सन्तस्त्वेवाप्यमित्रेषु दया प्राप्तेषु कुर्वते'। इसी प्रसंग में सावित्री ने कहा है कि 'मनुष्य को अपना जितना विश्वास नहीं होता, उतना संतों का होता है। इस कारण सभी संतों के प्रेम की कांक्षा रखते हैं। संत कभी किसी से द्वेष नहीं करते, इसलिये उन पर विश्वास होता है। सूर्य की गति, पृथ्वी की स्थिरता, गतकाल और भविष्यकाल आदि की व्यवस्थादि घटनाएं संत महिमा से होती हैं।'

'वनपर्व के अंत में यक्ष के प्रश्न 'का दिक्?' (दिशा कौन सी है?) के उत्तर में 'सन्तो दिक्' (संत ही दिशा है) कहा गया है। संत जनता के सच्चे मार्गदर्शक हैं, संतों का व्यवहार ही लोकहित की दिशा है यह संकेत यहाँ स्पष्ट है। योगवाशिष्ठ में जीवन्मुक्त, साधु, पंडित, शिष्ट, प्राज्ञ, बुद्ध आदि अनेक शब्दों से संतों का वर्णन मिलता है। निर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध में ९८वां अध्याय साधुवर्णनपरक है। उसमें कहा गया है—'जो विवेकी विरक्त होते हैं, उनके लोभ मोहादि शत्रु अल्पत्व को प्राप्त होते हैं।

न इष्टप्राप्ति से हृष्ट नहीं होते। विषयसमूहों का संग्रह नहीं करते। लोगों के कारण वे उद्विग्न नहीं होते और स्वयं किसी को उद्विग्न नहीं करते। वे कर्मण्य नहीं होते। उनके सब आचार रमणीय और सुग्राह्य होते हैं। वे सदा अत्यंत प्रिय और सौम्य भाषण करते हैं वे मानो सब के चतुर नायक होते हैं। शास्त्रार्थ का उन्हें बड़ा प्रेम होता है। लोगों के उच्च नीच भाव अवगाह्य वाच्य व्याज्य को वे सही सही अर्थ में ग्रहण करते हैं। जनता के पाप का उपशमन करनेवाले व जनता को अपने गुणों से वशीभूत करते हैं। और —

भूभृद्भगकरं धीरा देशभगदमाकुलम्।
रोधयन्त्यायतं क्षोभं भूकम्पमिव पर्वता ॥

अर्थात् राजा का देशघातक क्षोभ, अकाल, परचक्र, जनक्षोभ इत्यादि का वे सम ही निवारण करते हैं जैसे पर्वत भूकंप का। विपत्ति में उत्साह और संपत्ति में सुख देनेवाले होते हैं।

'संत' को जो सर्वसंगपरित्यागी और आत्मसुख में तल्लीन समझते हैं, उन्हें योगवासिष्ठ का यह अवतरण धक्का देनेवाला है।

अमरकोश में 'संत' के २१ अर्थ दिये हैं।[1] हेमचन्द्र में २४।[2] उन अर्थों में सत्यावान् का अर्थ है जिसका ज्ञान (ख्याति) सम्यक् है। 'कृष्टि' का अर्थ है विज्ञी और 'लब्धवर्ण' का प्रसिद्ध। अमर ने ये सब अर्थ ब्रह्मवर्ग में रखे हैं तो हेमचन्द्र ने 'मर्त्य' वर्ग में। शंकराचार्य के अनुसार 'शांत वृत्ति के और उदार अंतःकरण के संत, वसंत ऋतु की भाँति लोकहित करते हैं।'[3] तात्पर्य यह कि बुद्धि, विद्वत्ता, निपुणता, विवेक, प्रख्याति, दूरदर्शिता, उद्योग, चातुर्य,

---

१ विद्वान् विपश्चित् दोषज्ञः, सत् सुधीः कोविदो बुधः।
धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पण्डितः कविः ॥
धीमान् सूरिः कृती कृष्टिर्लब्धवर्णो विचक्षणः।
दूरदर्शी दीर्घदर्शी ' ॥

२ विद्वान् सुधीः कविविचक्षणलब्धवर्णो ज्ञः प्राप्तरूपकृतिकृष्ट्यभिरूपधीराः।
मेधाविकोविदविशारदसूरिदोषज्ञः प्राज्ञपण्डितमनीषिबुधप्रबुद्धाः ॥

३ शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।

दूसरों के गुण ग्रहण करने की वृत्ति आदि गुण संतों में पाये जाते हैं। महाराष्ट्र में यह पद ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास इन पाँचों के लिये ही प्रयुक्त हुआ। प्रस्तुत विवेचन में हमें पहले तीन से ही प्रयोजन है।

इन संतों में 'वैराग्य' की भावना अधिक क्यों बढ़ी, 'समचित्त' और 'मुक्त' पुरुषों में यह यतीपन क्यों आया इसके लिये विवेच्य काल से पूर्व की दार्शनिक विचार परंपरा का संक्षिप्त रेखाचित्र उपस्थित करना आवश्यक है। जे० एन० फरकुहर ने 'एन आउटलाइन आफ दि रिलिजस लिटरेचर आफ इंडिया' में इसका बड़ा ही सूक्ष्म विवेचन किया है। उसके ग्रंथ के पाँचवें और छठे अध्यायों के आधार पर नीचे एक तुलनात्मक दृष्टिकोण नक्शे के रूप में हम प्रस्तुत करते हैं —

५५० ईस्वी से ९०० ईस्वी	९०० ईस्वी से १२५० ईस्वी
१ दार्शनिक मत कर्ममीमांसा	
१ गुरु प्रभाकर और कुमारिल भट्ट के शाबरभाष्य मिलते हैं, जो परस्पर विरोधी हैं। कुमारिल ईसा की आठवीं शती के प्रथम भाग में था, उसने श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक और टीका लिखी है। प्रभाकर की बातों का शालिकानाथ ने और कुमारिल की बातों का मंडनमिश्र सुरेश्वराचार्य ने समर्थन किया। प्रभाकर और कुमारिल दोनों ही ईश्वर की आवश्यकता नहीं मानते। जगत् को यथार्थ मानते हैं। परन्तु दोनों के आत्माविषयक मतों में और निगमन तथा प्रमाण संबंधी बातों में अंतर है। कुमारिल बौद्धों का घोर खंडन करता था। कुमारिल के समय वैदिक यज्ञ विधि क्षीण से क्षीणतर होती जा रही थी। दोनों के मत में पहली बार 'मुक्ति'	१ इस काल में मीमांसामत लुप्तप्राय हो गया था। केवल मिलते हैं १३०० ईस्वी में पार्थसारथि मिश्र। इनकी तिथि का निश्चय नहीं है परन्तु उनकी शास्त्रदीपिका का उल्लेख माधवाचार्य के न्यायमालाविस्तार में मिलता है। इसे १८९४ में बनारस से प्रकाशित मीमांसाश्लोकवार्तिक की भूमिका में राममिश्र शास्त्री ने कहा है। यह कुमारिल के चेले थे। प्रबोध चन्द्रोदय (१०६५ ईस्वी) में इस मत का उल्लेख है। बहुत से ईश्वरवादी मतों ने कर्म और (वेदान्ती) ज्ञान मार्ग को एक साथ माना, जैसे भागवत, श्रीवैष्णव, माध्व तथा विष्णु स्वामियों ने किया और इस प्रकार कर्ममीमांसा को पूर्णतः आत्मसात् कर लिया। आगे चलकर उसी का

शब्द का प्रयोग मिलता है और वह धर्म तथा अधर्म दोनों मार्गों से पाई जा सकती है ऐसा भी कहा गया है।

सूत्र सायण, खंडदेव, अप्पय दीक्षित आदि में मिलता है—यहाँ तक कि वेदान्त देशिक ने अपनी 'सेश्वरमीमांसा' में कुमारिल ने ईश्वर का अस्तित्व मान्य किया था यहाँ तक अर्थ निकाला है।

२ वेदान्त

२ नौवीं शती के प्रथमार्द्ध में शंकराचार्य हुए। शंकराचार्य के गुरु गौडपाद की माण्डूक्यकारिका इतनी महत्त्वपूर्ण है कि ड्यूसेन ने उसकी तुलना पारमेनाइडीस से की है। शंकर के पूर्व बोधायन, टंक और द्राविड़ के भाष्य भी कहे गये हैं। शंकर और गौडपाद के मत का महायान बौद्धमत से इतना साम्य था कि शंकर को 'प्रच्छन्न' बौद्ध कहा गया। वैलेसेर तथा कीथ के अनुसार वेदान्त का मायावाला यह दोहरा सत्य उपनिषदों में नहीं मिलता, पर शायद बौद्ध दर्शन से लिया गया। वेदान्त सूत्रों में कहीं 'माया' नहीं है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'माया' का आभास है, परन्तु महायान प्रभाव भी अवश्य रहा होगा। शंकर भाष्य का मूल हेतु यद्यपि पुराने कर्म काण्ड के विरोध में एक नया मत प्रस्थापित करना था, फिर भी सूत्रों में स्थान स्थान पर पुराणों से स्फूर्तिग्रहण, देवताओं का उल्लेख, ऋषियों को देव दर्शन मिलना, देवताओं का यज्ञ का भाग ग्रहण करना आदि उल्लेख है।

२ भास्कराचार्य ने वेदान्त सूत्रों का भाष्य लिखा जिसमें अद्वैत की अपेक्षा भेदाभेद का समर्थन है। थीबो का यह मानना कि रामानुज का श्रीभाष्य ही सबसे पहला भाष्य था, गलत है। भास्कर शंकर का कहीं नाम नहीं लेते परन्तु उनका खंडन करते हैं। बाद में उदयन ने अपनी 'कुसुमांजलि' में उस पर प्रत्याक्रमण किया है। उसने पांचरात्र वैष्णवों की भी आलोचना की है। कांजवरम् के यादवप्रकाश ने १०५० ईसवी में एक भाष्य लिखा था। बाद में उसके शिष्य रामानुज का वह स्वयं चेला बन गया। वाचस्पति की भामती के आधार पर वेदान्त सूत्रों का अध्ययन चलता रहा, जैसे अमलानन्द के १२६० में लिखे 'वेदान्त कल्पतरु' से स्पष्ट है। रामानुज का श्रीभाष्य, मध्व का सूत्रभाष्य, विष्णुस्वामी का ब्रह्म-सूत्रभाष्य और श्रीनिवास का वेदांत कौस्तुभ—यह सब वेदान्त को ईश्वर वादी सम्प्रदाय बनाने पर तुले थे। श्रीहर्ष का 'खंडनखंडखाद्य' भी इसी

प्रस्थानत्रयी में उपनिषद् श्रुति हैं तो वेदान्त भाष्य और गीता स्मृति। वेदान्त को माननेवाले दशनामी संन्यासी बने जिनके नाम हैं १ तीर्थ २ आश्रम ३ सरस्वती ४ भारती, ५ वन, ६ अरण्य, ७ पार्वत, ८ सागर, ९ गिरि, १० पुरी। पहले तीन ब्राह्मण थे।

काल की रचना है। मध्वाचार्य ने दशोपनिषद् पर टीका लिखी।

३ सांख्य

३ सांख्य कारिका का मंडन वसुबन्धु ने किया। छठी शती में इसका चीनी अनुवाद किया गया। गौडपाद ने सांख्यकारिका भाष्य लिखा, परन्तु यह शंकर के परम गुरु से भिन्न रहा होगा। ८५० में वाचस्पति ने 'सांख्यतत्त्व कौमुदी' लिखी, जो कि सांख्यमत का प्रधान मूलग्रन्थ कहा गया है।

३ कोई टीका नहीं और कोई मत परिवर्तन नहीं। १०३० ईस्वी के यात्री अल्बेरूनी ने इस पद्धति का उल्लेख किया है।

४ योग

४ योगसूत्र पर भी एक भाष्य लिखा गया और वाचस्पति ने तत्त्व वैशारदी टीका लिखी (८५० ईस्वी)। योग की परिणति तंत्र, आगम और संहिताओं में हुई।

४ इस मत में भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। धार के राजा भोज (१०१८–६० ईस्वी) की योग सूत्र की एक टीका राजमार्तण्ड मिलती है। उसका कोई विशेष मूल्य नहीं है। गोरखनाथ के नये योग का पातंजलयोग में कोई प्रवेश नहीं हुआ।

५ वैशेषिक

५ केवल प्रशस्तपाद ६०० ईस्वी में हुए। ज्ञानचन्द्र के मूल दश पदार्थ तो नहीं मिलते परन्तु युआनच्वांग का

५ उदयन की किरणावली दसवीं शती से मिलती है। यह प्रशस्तपाद की टीका है। ९८४ ई० का श्रीधर का

चानी अनुवाद मिलता है। प्रशस्तपाद न इस दर्शन को आस्तिक बनाया।

लक्षणावली ग्रन्थ मिलता है। श्रीधर की न्यायकुंडली टीका भी मिलती है जो प्राय ९९१ म लिखी गयी थी।

६ न्याय

६ उद्योतकी यायवार्तिक (६०० ई०) और वाचस्पति की न्याय वार्तिक तात्पर्यटीका (८४० ई०) मिलती है। अब इस दर्शन का पाशुपत मत मे मेल हुआ और प्रमाणों में 'व्याप्ति' भी आई।

६ उदयन ने न्याय भाष्य भी लिखा है। उसका नाम है 'न्याय वार्तिक तात्पर्य परिशुद्धि'। 'कुसुमाजलि' म उसने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध किया है। ११वीं शती क बाद न्याय वैशेषिक एक धारा हो गये। शिवादित्य का 'सप्तपदार्थनिरूपण' इसका प्रमाण है। उत्तरबौद्ध न्याय विक्रमशिला में पनपा। पर उनका अन्तिम दार्शनिक था शकरान द (१०५० ई०)। जैन न्याय सिद्धसेन दिवाकर से शुरू होकर देवसूरि (१२ वी शती) आदि द्वारा बराबर आगे बढ रहा था।

षड्दर्शनों की यह स्थिति थी। पर तु उधर अवा तर हि दू मत-प थ बढ़ते जा रहे थे। वैष्णव और शैव मतों का भी अपने अपने ढङ्ग से बोलबाला था और बौद्ध जैन प्रभाव भी उपेक्षणीय नहीं थे। अत इन तीनों का विचार करने से ही तत्कालीन चि तन परम्परा का चित्र पूर्ण होगा।

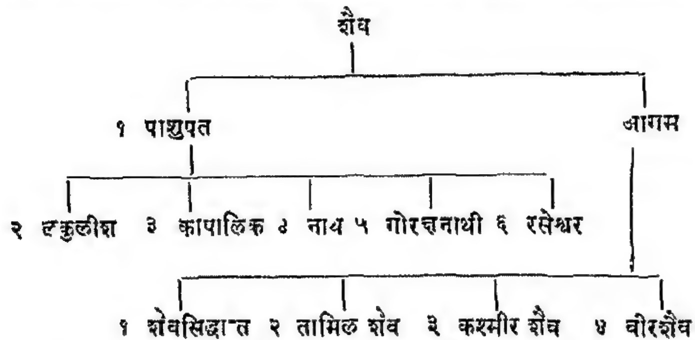
स्मार्तों म पञ्चदेव पूजा बढ़ी, भागवत साहित्य म हरिवंश लिखा गया। पांचरात्र साहित्य दसवीं सदी में कश्मीर मे, ग्यारहवी सदी में तमिलनाड में, उसके बाद दक्षिण कर्णाटक म प्रचलित हुआ। पाचरात्र साहित्य वैसे तो वैष्णव है, पर तु उसकी शवागमों से और त त्रों से विलक्षण समानता है। यह पांचरात्र सहिताएँ १०८ मानी जाती थीं। परन्तु उनमें सब मिलाकर ११ मूल जान पड़ती हैं। पाठभेद भी विपुल है। श्रादर क अनुसार पौष्कर वाराह और ब्राह्म सबसे पुरानी हैं, तो अय्यङ्गार के अनुसार लक्ष्मी प्राचीन है और पद्म प्राचीनतम है। प्रत्येक संहिता में पूजाविधि है। अगस्त्यसंहिता राम

प थी है तो नृसिंह दत्तात्रेय गणेश सूर्यपूजा अन्य संहिताओं में है। ईश्वर, उपेन्द्र तथा बृहद्ब्राह्म को छोड़ अन्य पांचरात्र साहित्य उत्तर की उपज है। सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह है कि योग के षट्चक्रादि और शाक्तों के मन्त्र यन्त्रादि यहाँ भी हैं। जादू टोना टोटकों का बड़े विस्तार से वर्णन है। मुद्रा, गुरु, दीक्षा आदि का महत्त्व पांचरात्रों में भी है। दीक्षा में ताप, पुण्ड्र, नाम, मन्त्र, याग ये पाँच क्रियाएँ हैं। दक्षिण में जो संहिताएं मिलती हैं उनका नाम वैखानस है। दक्षिण में बारह[1] आळवार वैष्णव भगवद्भक्त और कीर्तनी हुए हैं। वे भगवान की मूर्ति आँखों में देखते देखते तन्मय हो जाते, विरह से मूर्च्छित हो जाते, रात में बीमार रहते। ये अ यज भी होते थे। इन आळवारों में एक आंडाल भी हुई। बाद में इसी परम्परा में उत्तरभारत में भागवत पुराण, शांडिल्यसूत्र, बोपदेव के हरिलीला और मुक्ताफल मिलते हैं। महाराष्ट्र के वारकरी मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी, निंबार्क आदि का वैष्णवसाहित्य सुपरिचित है। वारकरी और महानुभावों का भेद आगे विस्तार से आवेगा। पांचरात्र साहित्य में तमिलनाडु के श्री वैष्णवों ने ओर वृद्धि की। श्रीरंगम् का नालायिर प्रबन्धम् इसका प्रमाण है। नाथमुनि, पुंडरीकाक्ष, राममिश्र, यामुनाचार्य बाद में हुए। रामानुजाचार्य (१०५०?–११२७) की विशिष्टाद्वैती वृत्ति और 'समुच्छाया' सिद्धान्त के साथ साथ सबसे बड़ा काम वैष्णव सम्प्रदायों का एकीकरण था। रामानुज ने शूद्रों को भगवद्भक्ति के अधिकार तो दिये, परन्तु उनकी सामाजिक अवस्था सुधारने का कोई यत्न नहीं किया। रामानुज ने सारे भारत की यात्रा की और अपना प्रभाव फैलाया। १०९८ में चोल राजा कुलोत्तुंग प्रथम ने वैष्णवों को खदेड़ना शुरू किया। रामानुज मेल्कोट, मैसूर की ओर भागे और होयसाल के राजपुत्र को अपना चेला विष्णुवर्द्धन बनाया। भूतपुरी माहात्म्य और हारीतसंहिता में रामानुज की जीवनी के विषय में सामग्री मिलती है। वैसे १३वीं शती में तमिल में पिन्बळगीय पेरुमाल-जीअर ने उनकी जीवनी लिखी। रामानुज का मन्त्र 'ॐ नमो नारायणाय' रामानन्द के 'ॐ रामाय नमः' से भिन्न है। वैसे श्रीवैष्णव एक गुप्त मंत्र भी प्रयुक्त करते हैं जो द्वय कहलाता है। वह यौन है।

१ पोयगैयर, भुतत्तु, पेयर, तिरुमलिस, शठकोप या नम्मालवार, मधुरकवि, कुलशेखर, पेरियर, आण्डाल, तोंडरिप्पोडि, तिरुप्पनार, तिरुमगइ।

मानभाव या महानुभावों को फरकुहर वे णव भक्ति पन्थों में से एक मानते हैं, और वीरशैव मत से उनका साम्य रामानुज के कारण मानते हैं। महानुभाव और वीरशैव ऐसे विचित्र मत थे कि महानुभावों को हिन्दू हिन्दू नहीं मानते और वीर शैव अपने आपको हिन्दू नहीं कहते। दोनों ही मूर्तिपूजा के विरोधी हैं। इनके अपने इष्ट प्रतीक होते हैं। सब साम्प्रदायिक एक साथ खाते हैं। दोनों शाकाहारी हैं। मृतकों को जलाते नहीं, दफनाते हैं, और दोनों में देवालय से अधिक साधु सन्तों का माहात्म्य है। हर मत के पाँच प्रतिष्ठाता (पाचकृष्ण) हैं। वीरशैव मानभाव से एक शती पुराने हैं। शायद वीर शैवों का प्रभाव मानभावों पर पड़ा हो। इसका विवरणपूर्वक वर्णन आगे किया जायगा। मानभाव सम्प्रदाय पर दत्तात्रेयपूजा का गहरा असर है जिसका विस्तार से विचार उसी प्रकरण में होगा। अन्य वैष्णव पन्थों में नृसिंह और रामविषयक हैं। दोनों में मन्त्रराज का प्रयोग प्रधान है। इनमें अध्यात्म-रामायण पर आधारित राममन्त्र वाद का है।

शैव और शाक्त दर्शनों की परम्परा का एक रेखाचित्र भी यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगा। मध्ययुगीन शैवों के फरकुहर के अनुसार इस प्रकार के उपभेद हैं[1]



पाशुपत मत यद्यपि इन सबका मूलाधार था फिर भी तमिलशैव और वीरशैव अपने को महेश्वर दर्शन कहलाते हैं। प्रशस्तपाद पाशुपत था और भारद्वाज उद्योतकर को भी पाशुपताचार्य कहते हैं। दोनों क्रमशः वैशेषिक तथा

१ फरकुहर : एन आउटलाइन आफ दि रिलिजस लिटरेचर्स आफ इंडिया, पृष्ठ १९०-१९१।

न्याय के भाष्यकार थे। बाणभट्ट और युआनच्यांग दोनों ने पाशुपतों को अपने समय का प्रधान पन्थ माना है। शंकराचार्य ने पाशुपतों की इस आधार पर निन्दा की है कि वे उपनिषदों के मत के विरोध में ईश्वर को केवल जगत् का निमित्त कारण मानते हैं, प्रधान कारण नहीं। १४वीं शती के भाष्यकार अद्वैतानन्द ने 'ब्रह्मविद्याभरण' टीका में पाशुपतदर्शन के मूल सिद्धान्त दिये हैं। वे यों हैं —(१) कारण पति (२) कार्य पशु (३) यौगिक क्रियाएँ (४) विधि (५) दुःखान्त। उनकी विधियों में भस्मस्नान, भस्म में सोना, अट्टहास, नृत्य, गान तथा गाल बजाने से परमानन्द व्यक्त करना, नींद, बीमारी, लँगड़ापन, प्रेमोन्माद या विक्षिप्ति व्यक्त करना आदि हैं। उनके सूत्रग्रन्थ नहीं मिलते।

लकुलीश मत गुजरात में शुरू हुआ। भांडारकर के अनुसार पाशुपत का ही यह दूसरा नाम है। बाद में यह मैसूर से राजपूताना तक फैला। शिव के जो अवतार लिंग, कूर्म तथा वायुपुराण में 'लकुलि' कहे गये हैं, वही इनके आधार हैं। गुजरात में झारपट्टन में एक लकुलीश मूर्ति भी पायी गयी है। माधवाचार्य ने उनका उल्लेख किया है। सब चीज पाशुपतों जैसी ही हैं। केवल भस्म के बदले सिकता से स्नान वे करते हैं, यही भेद है।

कापालिक केवल योगियों का पन्थ रहा है। वे वाममार्गी शाक्तों के समान थे। सातवीं शती के मध्य के एक शिलालेख के आधार पर भांडारकर[1] ने कहा है कि उनके देवता कपालेश्वर का उल्लेख मिलता है। मालती माधव के अघोरघंट को चामुण्डा का पुजारी माना गया है। तेलुगु प्रदेश में श्रीशैल नामक शैव पीठ था। कपालकुण्डला अघोरघंट की शिष्या है। वे नर बलि में भी विश्वास करते थे। कपालकुण्डला नरमुण्डों की माला पहनती है और एक भारी दंड लेकर चलती है, जिसमें कई घण्टे लटके रहते हैं। कापालिकों का कोई साहित्य नहीं मिलता। बाद में १०६५ के प्रबोधचन्द्रोदय में कापालिक और कपालिनी रंगमञ्च पर लाये गये हैं, और उनकी पद्धतियों का विस्तृत, जुगुप्साप्रद वर्णन है। शाक्तों की भाँति पञ्चमकार में अतिचार कापालिकों में

१ भांडारकर वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड अदर सैक्ट्स, पृष्ठ ११८।

भी है। रामानुज के श्रीभाष्य में कापालिकों का उल्लेख योन विषयक है। नाथपन्थी और गोरखनाथियों का वर्णन आगे और विस्तार से किया जायगा।

शैवागमों में कामिक, योगज, चिन्त्य कारण, अजित, दीप्त, सूक्ष्म, सहस्र, अंशुमान, सुप्रभ (सुप्रभेद) शैव, और विजय, निश्वास, स्वायंभुव, आग्नेयक, भद्र, रौरव, मकुट, विमल, चन्द्रहास (चन्द्रज्ञान), मुखयुगबिम्ब (मुखबिम्ब), उद्गीता (प्रोद्गीता), ललित, सिद्ध, सन्तान, नारसिंह (सर्वोक्त या सर्वोत्तर), परमेश्वर, किरण, पर (वातुल) रौद्र माने गये हैं। प्रत्येक आगम के साथ उपागम भी हैं, जिनकी संख्या कुल मिलाकर १९८ है। तमिल शैव सबसे प्राचीन मिलते हैं। तिरुमूलर इनमें सबसे प्रथम लगभग ८०० ई० में हुए। मणिक्क वाचगर ने शैव शब्दावली का प्रयोग किया है। जे० सी० चटर्जी के अनुसार शिवसूत्र काश्मीर में वसुगुप्त द्वारा ८५० ई० में प्रचारित किये गये। काश्मीर में शैवमत पहले द्वैतपरक था, उसे इन आगमों ने अद्वैत वाचक बनाया। काश्मीरी पंडित सोमानंद (नौवीं शती) ने मातंग उपागम और स्वायंभुव आगम का उल्लेख किया है। ग्यारहवीं शती के क्षेमराज के भी कई उल्लेख मिलते हैं। किरण की सबसे प्राचीन प्रति ९२४ ई० की है, जो हरप्रसाद शास्त्री की शोध है। यों हिंदू, बौद्धतंत्र और प्राचीन आगम सातवीं आठवीं शती के होंगे। आगमों से शैवमत से शाक्तमत की अवतारणा अनुसूचित होती है। इन्हीं में मंदिर निर्माण, मूर्ति शिल्प और धार्मिक विधियों के नियमादि मिलते हैं। इनके अनुसार शिव अनादि, निष्कलंक, निरुपाधि, सर्वज्ञ है। इस जीवाणु से वही उन बंधनों को दूर करता है जो कि उसके स्वभाव को भ्रांत किये हुए हैं। शिव हौले हौले और एकदम दोनों प्रकार से सृष्टि कर सकता है। शिव के साथ शक्ति होती है। वह चेतन और शिवशरीररूपिणी है। शिव का शरीर शक्ति ही है। वह पांचमात्रिक है। जब आत्म शिवरूप हो जाता है, तब वह जीवन्मुक्त और पूर्ण चिन्मय हो जाता है। शिव और शक्ति के बीच में एक और तत्त्व है—'शिव शक्ति'। वही परमशब्द है, ज्ञान और व्यंजना के बीच की सूक्ष्म कड़ी है। इसी से सब मंत्रशास्त्र निकला। शिव पशुपति हैं, मनुष्यमात्र पशु। शिव का शरीर अचेतन है, शिव चेतनास्वरूप है। पशु में चिच्छक्ति होती है, परंतु वह पाशबद्ध होती है। यह पाश तीन प्रकार के होते हैं आणव (अज्ञान), कर्म और माया। यह माया शांकर माया से

भिलाषिनी है। पशु ससीम है, सान्त है। यह शक्ति भी पाशबद्ध रहती है। पर शिव के अनुग्रह से मुक्ति मिलती है। यह साधारण आगम दर्शन है, परंतु उन आगमों में एकरूपता नहीं है। लिंगपुराण और कूर्मपुराण में विस्तार से ॐ के अर्थ और शाक्ततंत्रों की चर्चा है। अथर्वशीर्ष में भस्मलेपन का उल्लेख है और कालाग्निरुद्र उपनिषद् में त्रिपुंड्र की महत्ता वर्णित है। तमिलनाडु के शैव संस्कृत शैवों से प्रभावित थे। काश्मीर शैवों में बाद में सोमानन्द के शिष्य उत्पलाचार्य मिलते हैं, जिनकी ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका पर अभिनव गुप्त (१००० ई०) की टीका मिलती है। वीरशैवमतानुयायी लिंगायतों के बारे में आगे कहा जाएगा।

इसी ऐतिहासिक चिंतन परंपरा विचार के अंत में शाक्त और बौद्धशाक्त पंथों का सारांश भी आवश्यक है, क्योंकि सिद्ध योगियों पर इन मतों का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में है। दुर्गाविषयक कई तंत्र मिलते हैं, जिनकी संख्या का और मूल प्रामाणिकता का पूरा पता नहीं चलता। एवैलौन और हरप्रसाद शास्त्री के प्रयत्नों से जो कुछ पता चला है, उसके अनुसार कुब्जिकामततंत्र का मूल गुप्तकालीन लिपि में लिखा हुआ मिला है और शायद सातवीं शती का होगा। परमेश्वरतंत्र की मूललिपि ८५८ की है और 'महाकौलज्ञान विनिर्णय' शायद उतना ही पुराना है। बाण का चंडीशतक सातवीं सती के मध्य का है, परंतु वह साहित्यिक अधिक है। इन तंत्रों में चार प्रकार की बातें मिलती हैं (१) देवविद्या, (२) योग, (३) वास्तुशिल्प, और (४) धार्मिक विधि। शाक्तमत में अंधविश्वास पर आश्रित जादू टोनों की कमी नहीं है। शिवब्रह्म अकर्मण्य है। शक्ति ही चिन्मयी है। वही सृष्टिनिर्मात्री है। अतः शक्ति शिव से अधिक महत्त्व की है। वह ब्रह्म से भी बड़ी है। इस मत में दर्शन कम है। सेश्वर सांख्य और वेदांत का मिश्रण मिलता है। यह शक्ति सांख्य की मूलप्रकृति ही है।

शाक्तमत के साथ साथ योग की गुह्य और साक्षात्कारमयी प्रवृत्ति बढ़ी। नाद, बिंदु, बीज सृष्टि के कण हैं। शक्ति शाब्दी है। यों मंत्रवाद बढ़ा। 'ह्रीं, हुं, था, ऐं, हुम्, फट्,' आदि द्वारा नाड़ियों से विद्युत्कण परिस्फुट होते हैं। सुषुम्ना उनमें प्रधान है। इन्हीं में षट्चक्र है जिनका वर्णन आगे कबीर के प्रसंग में होगा। यों शाक्त मत में बलि, चक्रपूजा या वामाचार, साधना तथा

जादू टोना बाद म बढ़ता गया । शाक्तमत सब जातियों के लिये खुला था । गुरु और दीक्षा का इसमें भी महत्त्व रहा । यह सब बात महायान बौद्धों के सपर्क म आकर और स्पष्ट हो गयीं । अवलोकितेश्वर और आदिबुद्ध का उल्लेख पूर्व परिच्छेद म आ ही चुका हे । तत्रों म प्रत्येक बुद्ध और बोधिसत्व की एक पत्नी भी है । माध्यमिक शून्यवाद और वेदात के मिश्रण से एक ऐसा मतवाद चल पड़ा, जिसम सब लोग बुद्ध माने गये । तिब्बती इतिहासकार तारानाथ के अनुसार छठी शती से यह बौद्धतत्र लिखे गये । तथागत तत्र सातवी शती के मध्य का होगा, क्योंकि शातिदेव ने उसका उल्लेख किया है । आठवीं शती के आरभ में कुछ तत्र शुभकृष्ण, वज्रबोधि और अमोघवज्र ने चीनी में अनुवादित किये । वज्रयान तत्र इसी समय से आगे बढ़ा । गुप्त पूजा, ध्यान, जादूमत्र, मुद्रा, रहस्यमयी आकृतियाँ आदि में यह पथ अत्यत भयानक और अश्लील रूप म बढ़ा । महावैरोचन अभिसबोधि (चीनी म ७२४ म अनूदित) तिब्बती म भी मिलनेवाला प्रधान तत्र हे । इसमे बुद्ध ही सपूर्ण विश्व हैं । ईत्सिग (७०० से ७१२ के बीच म आया चीनी यात्री) ने 'सुवर्णप्रभषोत्तमराज' का अनुवाद किया जिसम कई तात्रिक लक्षण हैं । नौवी शती के सर्वज्ञानमित्र ने काव्यशैली में तारादेवी की स्तुति म 'स्रग्धरास्तोत्र' रचा है । यह तात्रिक स्तुतियों का उत्तम उदाहरण है । बौद्धतत्रों में धारणियों का प्रयोग बहुतायत से है । 'ओम् मणिपद्मे हु' ऐसा ही एक धारणी मत्र है । प्रत्यगिराधारणी और महामायूरी (सर्प मत्र) ऐसे ही मत्र है । ७४७ में तिब्बत मे बौद्धधर्म पद्मसभव द्वारा पहुँचाया गया । राल पा चान नामक तिब्बत के राजा ने बहुत से भारतीय और तिब्बती विद्वानों द्वारा बौद्ध ग्रथों के अनुवाद कराये । यमल परम बुद्ध और शक्ति के यौनमिलन को कहते हैं । इसे नेपाली बौद्धों म सवर तथा तिब्बती म यब युम् कहते हैं । खजुराहो और कोणार्क के मदिरों पर भी इस प्रकार के शिल्प हैं । कौलोपनिषद् म जाति वर्ण भेद और रूढ़ि बधनों को तोड़ने का स्पष्ट निर्देश है । मत्रों का विशद वर्णन शारदातिलक तत्र (११वीं शती) में है । इसी सबध म उल्लेखनीय बात यह है कि सस्कृत के अतिरिक्त में बँगला में १३वीं शती की चडीस्तुति कविता और तेलुगु में १२०० ई० म मार्कण्डेयपुराण का अनुवाद मिलता हे ।

बौद्धशाक्त तत्रों में अब यौन विषयों की चर्चा और बढ़ती गयी । हेरुक

और वज्रयोगिनी के रूप में नये नये बुद्ध सामने आने लगे। आनन्द कुमार स्वामी के अनुसार यही पथ बंगाल में सहज कहलाया।[1] चंडीदास की कविता में उसका स्पष्ट प्रभाव दिखायी देता है। फरकुहर के अनुसार 'मुक्ति का मार्ग था सुन्दरियों के प्रति रोमांसपूर्ण प्रेम'।[2] ऐसी अवस्था जब बौद्ध और शैव मतों की हो रही थी, तब इस अन्दर से खोखले हिन्दुत्व को मुस्लिम झंझावात का एक धक्का काफी था और यह धर्म दर्शन की झूठी इमारत अगर खंड खंड होकर गिर पड़ी तो कौन आश्चर्य है!

बहुदेवतावाद निरीश्वर बौद्धों में भी घुस आया। आलयविज्ञान के रूप में उसकी चरम परिणति हुई। बौद्ध मत पर वेदान्त, न्याय, शैव सब मतों का कैसा प्रभाव पड़ा, यह आदिबुद्धों की कल्पना से स्पष्ट है।

फरकुहर के अनुसार यह है सब धर्म पंथों और दार्शनिक मतों का हमारे विवेच्य काल से पूर्व का चित्र। तर्क किया जा सकता है कि निर्गुण सन्त तो अधिकांश निरक्षर थे, बेपढ़े लिखे थे। फिर इन सब दार्शनिक मत चर्चाओं का उनके प्रसंग में क्या महत्व? परन्तु कोई भी दार्शनिक विचारधारा वर्ग विशेष तक ही सीमित नहीं रहती, बल्कि वह समाज के सब वर्गों से सम्बन्ध रखती है, वर्ग भेद छिपाने या बढ़ाने का कार्य करती रहती है। दर्शन का, चिन्तकों के विश्वासों का, मनीषियों की मान्यताओं का, समाज व्यवस्था से बहुत सूक्ष्म पर सीधा सम्बन्ध होता है। भारतीय समाज-व्यवस्था में ज्यों ज्यों स्थैर्य आया, पुरोहित और क्षत्रिय वर्ग का स्वामित्व बढ़ा, वैचारिक परिवर्तन भी घटित होते रहे। ऋग्वेद में लिंगपूजा का विरोध था।[3] पर बाद में पंथों की हालत बढ़ते बढ़ते केवल लिंगपूजा ही शेष रह गयी, यह चित्र हम ऊपर देख आये। वही हाल पुनर्जन्म का है। ऋग्वेद में पुनर्जन्म की कल्पना स्पष्ट नहीं है। पर उपनिषत्काल में वह श्रद्धा का विषय बन गया और बौद्धों के जातकों में तो अनन्त रूपों में बुद्ध का पुनरुद्भव वर्णित है। ग्रिसवोल्ड का यह कथन है कि

१ कुमार स्वामी डांस आफ शिव, पृ० १०३।

२ 'रोमैंटिक लव फार बियूटीफुल गर्ल्स वाज मेड दि पाथ टू रिलीज।' फरकुहर एन आउटलाइन आफ दि रिलिजस लिटरेचर आफ इंडिया, पृ० २७३

३ ऋग्वेद सप्तम मंडल, २१, ५। दशम मंडल, ९९, ३।

'वैदिक काल से उपनिषद् काल तक भारतीय आर्यों का इतिहास आशावाद से निराशावाद की ओर ले जानेवाले आंदोलनों का इतिहास है। यदि ब्रह्म के बदले आर्य वरुण को प्रधान मानते तो आशा के तेज से वे चमकने लगते।'[1] परन्तु इस कथन का कोई अर्थ नहीं है। किसी जाति की आशावादिता या निराशावादिता किसी देवताविशेष की उपासना पर निर्भर नहीं होती। उसके कारण सामाजिक राजनैतिक या ऐतिहासिक सांस्कृतिक होते हैं। इस बात को ध्यान में रखें तो सन्तों के कार्य का महत्त्व स्पष्टतः हमारे सामने आयेगा।

उत्तरभारत में निर्गुण सन्तों के कार्य पर डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा सम्पूर्णानन्द के दो अवतरणों से और महाराष्ट्र के सन्तों के कार्य पर वा० ग० सरदार की पुस्तक से एक अवतरण यहाँ प्रस्तुत करना चाहता हूँ। डा० हजारीप्रसाद जी के अनुसार—'यदि कबीर आदि निर्गुणमतवादी सन्तों की वाणियों की बाहरी रूपरेखा पर विचार किया जाय, तो मालूम होगा कि यह सम्पूर्णतः भारतीय है और बौद्धधर्म के अन्तिम सिद्धों और नाथपंथी योगियों के पदादि से उसका सीधा सम्बन्ध है। कबीर की ही भाँति ये साधक नाना मतों का खंडन करते थे। सहज और शून्य में समाधि लगाने को कहते थे, दोहों में गुरु के ऊपर भक्ति करने का उपदेश देते थे। इन दोहों में गुरु को बुद्ध से भी बड़ा बताया गया है और ऐसे भाव कबीर में बड़ी आसानी से मिल सकते हैं, जहाँ गुरु को गोविन्द के समान ही बताया है। 'सद्गुरु' शब्द सहजयानियों, वज्रयानियों, तान्त्रिकों, नाथपन्थियों में समान भाव से समादृत है।'[2]

जाति पाँति का विरोध, जैसे सरहपा नामक सहजयानी सिद्ध का यह पद—'ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए थे, जब हुए थे तब हुये थे। इस समय तो वे भी दूसरे लोग जिस प्रकार पैदा होते हैं, वैसे ही पैदा होते हैं। तो फिर ब्राह्मणत्व कहाँ रहा? यदि कहो कि संस्कार से ब्राह्मण होता है तो चाण्डाल को भी संस्कार दो, वह भी ब्राह्मण हो जाए, यदि कहो कि वेद पढ़ने से कोई ब्राह्मण होता है, तो क्यों नहीं चाण्डालों को भी वेद पढ़ाकर

[1] महाराष्ट्र ज्ञानकोश 'न' खंड, पृ०–२९२।

[2] हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ०–२१।

ब्राह्मण हो जाने देते ? सच पूछो तो शूद्र भी तो व्याकरणादि पढ़ते हैं और इन व्याकरणादि में भी तो वेद के शब्द हैं, फिर शूद्रों का भी तो वेद पढ़ना हो ही गया। और यदि आग में घी देने से मुक्ति होती हो तो सबको क्यों नहीं देने देते, ताकि सब मुक्त हो जाएँ ? होम करने से मुक्ति होती हो या नहीं, धुआँ लगने से आँखों को कष्ट जरूर होता है। ब्राह्मण 'ब्रह्मज्ञान ब्रह्मज्ञान' चिल्लाया करते हैं। अव्वल तो उनके अथर्ववेद की सत्ता ही नहीं है, फिर और तीन वर्णों के पाठ भी सिद्ध नहीं, इसलिए वेद का तो कोई प्रामाण्य ही नहीं है। वह तो परमार्थ नहीं है, वह तो शून्य की शिक्षा नहीं देता, वह तो एक व्यर्थ की बकवास है।'

सामाजिक ढोंग का विरोध, तीव्र व्यंग्य द्वारा दम्भस्फोट, सहजयानी सिद्धों और नाथपंथी योगियों का अक्खड़पन और दृष्टकूट उलटबाँसी या 'सन्ध्या' भाषा का प्रयोग, अन्तर 'साखी' में व्यक्त अहंकार, शून्य सा, षट्चक्र का प्रयोग आदि निर्गुण सन्तों में पायी जानेवाली सामान्य बात है। 'शास्त्र ज्ञान से वंचित होने पर भी इस श्रेणी के साधक बहुश्रुत थे। इस बहुश्रुतता के कारण वे अनायास ही अनुभव सम्मत सत्य को संग्रह कर सकते थे। इसीलिए उनका मत न तो किसी आचार्य विशेष के मत का हू-ब-हू उल्टा है न बे सिर पैर की बातों की बेमेल खिचड़ी। सभी विषयों में उनका आत्मोपलब्ध मत है। प्रेम पर इन सन्तों ने इतना अधिक जोर दिया है कि भक्त के बिना भगवान को भी अपूर्ण बताया है। यदि उन्हें विशुद्ध ज्ञानमार्गी मान लिया जाएगा तो उक्त बात अबोध्य हो जाएगी। जिन पण्डितों ने इन सन्तों को ज्ञानाश्रयी कहा है, वे सचमुच इस चक्कर में पड़ गये हैं और तात्त्विक दृष्टि से विचार करने जाकर यह कहने को बाध्य हुए हैं कि 'न तो हम इन्हें पूरे अद्वैतवादी कह सकते हैं और न एकेश्वरवादी।' (पं० रामचन्द्र शुक्ल)। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ये साधक अपने विचारों में अस्पष्ट थे।[1]

और आगे चलकर हजारीप्रसादजी ने सगुण निर्गुण के बीच में केवल प्रतीक भेद बताया है, जिससे हम पूर्णतः सहमत नहीं हो पाते हैं[2]

१ वही, पृष्ठ–३९–४०।

२ वही, पृष्ठ–४६

'कबीरदास, दादूदयाल आदि निर्गुण मतवादियों की नित्य लीला और सूरदास, नन्ददास आदि सगुण मतवादियों की नित्य लीला एक ही जाति की है। अन्तर यही है कि पहली श्रेणी के भक्तों के सामने भगवान के व्यक्तिगत सबधात्मक रूप के साथ उसकी रूपातीत अनतता वर्तमान रहती है और दूसरी श्रेणी के भक्तों के सामने भगवान सदा प्रतीक रूप में आते हैं और इसीलिए उनकी अनतता और असीमता ओझल सी हुई रहती है।'

उत्तर भारत के सन्तों की स्थिति का एक सक्षिप्त चित्र सम्पूर्णानन्द के एक लेख 'सन्तमत में साधना' के आरम्भिक अंश से मिलता है।[1]

'भारत के धार्मिक जगत् के इतिहास में सन्त मत का एक विशेष स्थान है। सन्त मत उस प्रकार का सम्प्रदाय नहीं है, जैसे कि वल्लभ या मध्व या किसी एक पुरुष द्वारा प्रवर्तित दूसरे सम्प्रदाय हैं, वह एक धारा है जो आज से लगभग पाँच सौ वर्ष पहले प्रकट हुई और अब तक बह रही है। सब से पहले उसके सम्बन्ध में कबीर साहब का नाम उल्लेख्य है, फिर नानक, दादू, दरिया, चरणदास, सहजोबाई, गरीबदास, पलटूदास, मलूकदास आदि ने अपने अपने समय में इस धारा को पुष्ट किया। बहुत से अंग्रेजों की और उनकी भाँति सोचनेवाले कुछ भारतीय विद्वानों की यह राय है कि सन्त मत एक सग्रहात्मक (इक्लेक्टिक) सम्प्रदाय है, जिसमें कुछ बातें हिंदू धर्म और कुछ बातें इस्लाम से लेकर मिला दी गई हैं। ये लोग सतों को सुधारकमात्र मानते हैं। उनका ख्याल है कि हिंदू मुसलमानों के आपसी झगड़ों को और दोनों में प्रचलित कुरीतियों को देखकर कुछ दयालु ईश्वरभक्तों ने समाज के कल्याण के लिए एक सरल मार्ग निकाला, जिस पर दोनों सम्प्रदाय मिल जुलकर चल सकें। उन्होंने एक ईश्वर की भक्ति का उपदेश दिया, छुआछूत और जातपाँत की निंदा की, भूत प्रेत की पूजा, कुर्बानी, बलिदान आदि का निषेध किया, पीर औलिया, कब्र की वन्दना से लोगों को रोका, सदाचार की महिमा बतलायी, हिन्दू मुसलमान को मिल जुल कर रहना सिखाया। इनमें कई अब्राह्मण थे, कुछ जन्मना हिन्दू भी नहीं थे। सस्कृत तो इनमें से स्यात् ही कोई जानता

---

१ कल्याण साधना अक, पृष्ठ-३७७-७८।

हो, इसलिए इन्होंने अपने उपदेश हिन्दी में दिये। इस कारण पंडित वर्ग तो इनसे अप्रसन्न हुआ, पर जनता में खूब प्रचार हुआ।

'ये बातें कुछ हद तक सच हैं। संतों ने निःसन्देह एक ईश्वर की निष्ठा सिखायी, कुरीतियों का निषेध किया, भेदबुद्धि का खण्डन किया। पर इसका कारण यह नहीं था कि वे समाज सुधारक थे। वे सन्त थे और संतों के उपदेशों में ये बातें स्वभावतः आ जाती हैं। इसलिये उनको दूसरे धर्मों की पोथियों से सामग्री जुटाकर भानमती का कुनबा जोड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

'भारत में मुसलमानी शासन की स्थापना ने एक विचित्र परिस्थिति उत्पन्न कर दी। हिन्दुओं का राज्य चला गया, उनका गौरव नष्ट हो गया, विभूति लुट गयी, देवस्थान भ्रष्ट हो गये, स्वाभिमान जाता रहा। विद्या और कला के लिये स्फूर्ति का द्वार बन्द हो गया। मौलिक रचनाओं की जगह टीका ग्रन्थों ने ली, जीवित काव्यों के स्थान में परतन्त्र रजवाड़ों के दरबारों में पलने वाली अधम कोटि की शृङ्गारी तुकबन्दी की शैली चल पड़ी। जो जाति ऐसी आपन्न अवस्था में पड़ जाए, उसकी अधोगति का रुकना कठिन होता है, उसका तो शतमुख विनिपात अवश्यम्भावी हो जाता है। पर अभी हिन्दू जाति के दिन अच्छे थे, उसकी आत्मा की अमर ज्योति नष्ट नहीं हुई थी। उसमें से दो किरण निकलीं, जिन्होंने अँधेरे घरों को फिर से प्रकाशित किया और मृतप्राय प्राणियों को अमृत पिलाकर पुनर्जीवित किया।

'एक किरण तो भक्तिमार्ग की थी। इस मार्ग को तुलसी, सूर, मीरा आदि ने प्रशस्त किया। दुर्बलों से कहा गया कि हिम्मत मत हारो, तुम्हारा बल भगवान् है।

'जाति की आत्मा से जो दूसरी किरण निकली, उसका ही नाम सन्तमत है। इस आकाश के कुछ नक्षत्रों के नाम मैं ऊपर गिना चुका हूँ। यही लोग सन्त कहलाते हैं। इन्होंने सगुण साकार की उपासना के स्थान में निर्गुण उपासना, योग और ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। यों तो भक्ति मार्ग में भी ऊँच नीच का भेद नहीं होना चाहिए, फिर भी उसमें जिन साधनों का प्रायः काम पड़ता है—मन्दिर, पूजा की सामग्री आदि—वह बहुतों को अप्राप्य है।

पर योगाभ्यास के लिए तो कोई बाहरी साधना नहीं चाहिये। पूजा की सामग्री के लिए पैसे नहीं चाहिए। इसलिए यह मार्ग सचमुच सबके लिए सुलभ, सुगम है। कठिन अवश्य है, पर सच्ची भक्ति भी तो कोई दिल्लगी की चीज नहीं होगी। इसलिये इधर की ओर अधिक व्यापक आकर्षण हुआ। नाई, धोबी, जुलाहा, मोची, अनेक मुसलमान भी आये, ऊँची जाति वाले भी आये।

'इस मार्ग में एक और विशेषता थी। सच्चा जीवन केवल चुपचाप साँस लेने में नहीं है। उसका लक्षण है जागृति, क्रियाशीलता। सजीव प्राणी इस आसरे नहीं बैठा रहता कि कोई मुझ पर आक्रमण करे तो मैं अपने को किसी प्रकार से बचा लूँ। वह आक्रमणकारी पर आगे बढ़कर आक्रमण करता है। भक्ति मार्ग ने मुमूर्षु हिन्दू जाति में जान डाली, सतमत ने सक्रियता प्रदान की। केवल अपने कोने में पड़े रहने के बदले मुसलमानों के दोषों का खुल कर निदर्शन होने लगा। योगी में बल होता है, आत्मविश्वास होता है। उसकी वाणी में अपूर्व शक्ति होती है। इससे जनता में भी आत्मनिर्भरता आयी।'

महाराष्ट्र में सन्तों के कार्य के विषय में 'सन्तवाङ्मयाची सामाजिक फलश्रुति' नामक एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'महाराष्ट्र साहित्य परिषद् पुणें' ने १९५० में प्रकाशित की है। इसके लेखक हैं ग० बा० सरदार। उन्होंने अपने ग्रंथ के प्रथम और अन्तिम अध्यायों में सन्तविषयक दृष्टिकोण पर विशद और मार्मिक मीमांसा की है। उसका सारांश यहाँ हम देना चाहते हैं

'सन्त साहित्य की प्रेरणा क्या थी, तत्कालीन भौतिक परिस्थितियों से वह कहाँ तक सुसंगत था, सर्व-साधारण जनता के हृदय पर वारकरी पन्थ का इतना प्रभाव क्यों हुआ, समाज की प्रगति के लिए सन्तों की विचार धारा विघातक थी या नहीं, इस विषय पर गये ७० वर्षों में न्यायमूर्ति रानडे, तिलक, राजाराम शास्त्री भागवत, राजवाड़े, प्रो० रानडे, पोतदार, फाटक आदि विद्वानों ने बहुत सा विचार किया है। न्यायमूर्ति रानडे ने अपने 'राइज़ आफ मराठा पावर' ग्रन्थ में व्यापक और समतोल बुद्धि से यह प्रश्न शुरू किया। शिवाजी के समय के राजनैतिक आन्दोलन की वैचारिक पार्श्वभूमि सन्तों के कार्य से निर्मित हुई—उनका यह मत था। उन्होंने सन्तों के विधायक कार्य

का ही उल्लेख अधिक किया है। भागवत धर्म और महाराष्ट्र धर्म का समन्वय इन सन्तों ने किया। राजवाडे प्रभृति राष्ट्रवादी लेखकों को यह उदार दृष्टिकोण अच्छा नहीं लगा। उनके अनुसार ये 'सन्तोंज' और उनके भक्तिपन्थ ने देश में निष्क्रियता और निर्बलता बढ़ायी। पुनरुज्जीवनशील राष्ट्रवाद राजवाडे कालीन विचारकों की प्रेरणा था। इसलिए सन्तों से अधिक रामदास उन्हें बड़े जान पड़े। प्रो० रा० द० रानडे का दृष्टिकोण साक्षात्कारवादी (रहस्यवादी) है। हरिभक्ति परायण पांगारकर का दृष्टिकोण श्रद्धावादी होने से अधिक लोकप्रिय हुआ। परन्तु न्यायमूर्ति रानडे का दृष्टिकोण ही अधिक तर्कयुक्त और बुद्धिवादसंगत था'।[1]

आगे चलकर इतिहास की वस्तुवादी मीमांसा का महत्त्व मार्क्स के उदाहरणों से छह पृष्ठों तक बताकर सन्तकालीन महाराष्ट्र की कल्पना देते हुए लेखक ने बड़ी महत्वपूर्ण बात कही है। तेरहवीं शती के अन्त में सन्तों का आन्दोलन शुरू हुआ। तब महाराष्ट्र में यादव कुल के रामदेवराव का राज्य था। यादव वंश अपनी गिरावट पर था। रामदेवराव (राजवाडे सम्पादित महिकावती की बाखर के अनुसार) वीर पुरुष नहीं था। शके १२१६ में अलाउद्दीन खिलजी का हमला हुआ। उसके आक्रमण से पहले ही कर्नाटक, कोंकण के मांडलिक अनियन्त्रित हो गये थे। महानुभाव के लीलाचरित्र में 'रामदेवो निपर वस्त्र' उल्लेख है (भाग-२, पृ०-४६)। अलाउद्दीन पहले हमले में यहां से अपार सम्पदा ले गया। राजा बहुत ऐश्वर्यवान था, परन्तु सामान्य जनता की क्या दशा थी, यह कह सकना कठिन है। तत्सम्बन्धी सामग्री पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलती। केवल उस समय का साहित्य हमारे सामने है, कोई समाजेतिहासिक प्रमाण नहीं। केवल वा० र० सुठणकर ने अपने ग्रंथ 'महाराष्ट्रीय संतमण्डलाचे ऐतिहासिक कार्य' (पृ०-१६) में 'ज्ञानेश्वरी' में से पांच सात वचन उद्धृत करके उस समय किसान सुखी नहीं था, ऐसा अनुमान किया है, वह कैसे मनगढन्त है, यह सिद्ध किया है। जैसे ज्ञानेश्वरी के (अध्याय—१३, ओवी—२९) 'न म्हणे अवसीं पाहाटां' अंश का अर्थ है 'वह दिन रात कुछ नहीं देखता' इससे अनुमान खींच तानकर

१ संतवाङ्मयाची सामाजिक फलश्रुति, पृष्ठ-२

निकाला गया—खनिहर रात दिन मिहनत करता है फिर भी उसका घरबार ठीक से नहीं चलता। दूसरा एक अवतरण तामसी वृत्ति के मनुष्य के विषय में है 'नरी देवचि खाय। विकूनिया' (ज्ञानेश्वरी, अध्याय—१८, ओवी ५६१) कि 'वह देवता को भी बेच खाता है।' इस पद में वस्तुतः किसान से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु सुठणकर उसे जबर्दस्ती लाये हैं। सन्तों के पदों का प्रतीकात्मक अर्थ न लेने से और साधा अभिधा में उन पदों को समझने से कई बार सन्तों के गृहजीवन के विषय में भी गलत अनुमान लगाये जाते हैं। जैसे जब ज्ञानेश्वर स्थितप्रज्ञता के वर्णन में कहते हैं 'हातात नरोटी, जीर्णाचे ते भार। परक भोपळयाची गृहामाजी सम्पत्ति' (अर्थात्—हाथ में नारियल का आधा कवच भिक्षापात्र की तरह है। जीर्ण वस्तुओं का भार है। घर में चिचिंडा और काशीफल ही सम्पत्ति है।) तब यह आत्मतृप्तों का आध्यात्मिक अहंकार है, दुःखपीड़ितों का दैन्यमय निश्वास नहीं।"[1]

'यादवकालीन आर्थिक परिस्थितियों का पूरा पता न मिलने से यूरोप के मध्ययुग के इतिहास की चौखट लेकर उसमें महाराष्ट्र के आन्दोलनों को ठूँसने का यत्न करना उचित नहीं है। यूरोप की भाँति महाराष्ट्र में भी सामन्तवाद था, परन्तु उसका रूप भिन्न था। काली जमीन ही उत्पादन का प्रधान साधन थी। अलग अलग वर्गों के आर्थिक हित सम्बन्ध जमीन से निगडित थे। परंतु राजसंस्था ग्रामसंस्था का लक्ष्यकेन्द्र जमीन थी। यहाँ भी जमींदार थे। परन्तु यहाँ का किसान यूरोप की तरह भू दास नहीं था। महाराष्ट्र का किसान बहुधा अपनी धरती का मालिक था[2]। उसका झगड़ा प्रकृति के साथ था। धरती की उत्पादन शक्ति अत्यल्प थी, यही उस समय की सामाजिक दुरवस्था का कारण था। यूरोप की भाँति यहाँ किसानों का शोषण बिलकुल नहीं होता था सो बात नहीं, परन्तु वह अप्रत्यक्ष और व्यक्तिनिरपेक्ष थी। राजा, धर्मस्थान, ग्रामसंस्था, जातिसंस्था आदि उसकी कमाई का बहुत सा भाग ले जाते, और वह धार्मिक समर्थन के साथ। यों उसकी

---

१ वही, ११।

२ अ० स० आलतेकर—ए हिस्ट्री आफ विलेज कम्यूनिटीज इन वेस्टर्न इण्डिया, पृ०-८६।

नामता धर्मनिष्ठा के रूप मे बदल दी गयी थी। यह इसी अधिष्ठान ब्राह्मणों द्वारा किया गया। पर यहाँ की पुरोहितशाही यूरोप की पोपशाही से भिन्न थी। यूरोप मे ईसाई दुनिया की एक तिहाई जमीन चर्च के अधिकार मे थी। पेशवाई के बाद भी पूना मे चार पचमांश जमीन किसानों की मिल्कियत थी। तेरहवी शती मे पुरोहितशाही की चर्चा यो व्यर्थ है। जब मन्दिरो और ब्राह्मणों को जमीन दी जाती था, तब उसका अर्थ इतना ही था कि राज्य या माडलिक अपना भाग उन्हे देते थ। उसमे जमीन पर स्वामित्व का कोई प्रश्न नही था[1]। ब्राह्मणों के पास जनता का आर्थिक शोषण करने की आर्थिक शक्ति थी यह मानना गलत होगा। हाँ, ब्राह्मणशाही तत्कालीन शासन सस्था के हाथ मजबूत अवश्य करती थी[2]।

सन्तों ने जनता को जड, मूढ और अगतिक निराश अवस्था मे से मुक्ति दी। सन्तों के आंदोलन का कार्यक्षेत्र धार्मिक सांस्कृतिक था। समाज की असमानताओं (यथा स्त्री और शूद्रों के प्रति भिन्न व्यवहार) पर उन्होंने मूलभूत प्रहार किया। उन्होंने जनसाधारण के लिये आत्मविकास का मार्ग खोलकर उनका नैतिक सामर्थ्य बढ़ाया। इस सन्त सम्प्रदाय मे ब्राह्मण, कुनबी, माली, तेली, सुनार, कुम्हार, महार आदि सभी जातियों के लोग शामिल हुय। भक्तिमार्ग पलायन का मार्ग नहीं था। सन्तों ने अपने आचरण से और ग्रथों से जनता मे परस्पर सहिष्णुता बढ़ायी। उन्होंने अन्त शुद्धि, कर्तव्यनिष्ठा, भूतदया, क्षमाशीलता, परोपकार आदि दैवी गुणों का प्रचार करके विवेक और नीति का समन्वय सिखाया। जनता के मन का हीन भाव दूर किया। ये लोग तुकाराम के शब्दों में 'विष धारण करने वाले' (विष खाव ग्रासोग्रासीं, तुकारामगाथा-७११) थे।

सक्षेप मे आठवीं शती के बाद भारतवर्ष में सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन की एक सूक्ष्म धारा, सामाजिक अवनति के साथ साथ उठ रही थी। शकर, रामानुजादि आचार्य वैदिक दर्शन की तर्कयुक्त नव विवेचना प्रस्तुत कर रहे थे, तो मेधातिथि, विज्ञानेश्वर, अपरार्क, हेमाद्रि आचार धर्म मे एकसूत्रता लाने

---

१ अ० स० अलतेकर—दि राष्ट्रकूटाज एण्ड देअर टाइम्स, पृष्ठ-२३६।

२ ग० बा० सरदार सनवाङ्मयाची सामाजिक फलश्रुति, पृ०-१३।

का प्रयत्न कर रहे थे। और वोपदेवादि त्रिखण्डपंडित भागवत पर टीकाग्रंथ लिख रहे थे। तान्त्रिक उपासना की परिणति पौराणिक भक्तियोग में हो रही थी। जैन, शाक्त, नाथ, लिंगायत, महानुभाव देशी भाषाओं द्वारा सामान्य जनता को शिक्षित कर रहे थे। मुसलमान दक्षिण में देर से आये। परन्तु चालुक्य, कल्चुरी, यादव (सेऊण), होयसाल, काकतीय, पाण्ड्यादि राजवंशों में परस्पर सत्ता संघर्ष चल रहा था। ऐसे समय अकाल भी आया। ऐसी सब दशा में वारकरी और महानुभावपंथीय संतों का कार्य बहुत गहरा सामाजिक आशय रखता है। वे निराशावादी बैरागी मात्र नहीं थे। उन्होंने राजनैतिक उथल पुथल के तिमिराच्छन्न काल में मानवतावाद की ज्योति को अखण्ड दीपित रखा।

—o—

अध्याय ४

रहस्यवादविषयक उपलब्ध सामग्री—साहित्यिक और दार्शनिक

'रहस्य' जिस 'रहस्' संज्ञा से बना है, उसके पाँच अर्थ होते हैं—(१) एकान्त, गुप्तता, (२) छिपने का स्थान, (३) कोई अज्ञात बात, (४) स्त्री पुरुष सम्भोग, (५) कानून से सम्मत कोई अनुबन्ध। 'शाकुन्तल' में 'रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः' या 'उत्तररामचरित' में 'रहस्य साधूनामनुपधि विशुद्ध विजयते' इसी गोपन आचरण या गुप्त बात के अर्थ में आया है। साहित्य से भिन्न अर्थ में आकर 'रहस्य' शब्द कुछ उपदेशात्मक अर्थ देने लगता है, जैसे 'याज्ञवल्क्यस्मृति' में 'अनभिख्यातदोषस्तु रहस्य व्रतमाचरेत्' या 'भगवद्गीता' में 'भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्य ह्येतदुत्तमम्।' अंग्रेजी का शब्द 'मिस्टिक' या 'मिस्टिसिज्म' यूनानी धातु 'मुस्टीस' से बना है, जिसका अर्थ है, जीवन और मृत्यु की सचाइयों का गुप्त ज्ञान जानने वाला व्यक्ति। इस प्रकार 'रहस्यवाद' शब्द की भी तीन स्थितियाँ हैं—एक तो समाजविज्ञान नृविज्ञान में जादू टोने आदि के अध्यताओं की दृष्टि में एक सामूहिक भय विश्वास के अर्थ में, दूसरे धर्म और देवशास्त्र (थियोलोजी) में, जिसका छनकर प्रभाव प्राचीन सन्त काव्य में और कुछ आधुनिक साहित्य में भी आया है, तीसरे विज्ञानों में, विशेषतः मनोविज्ञान में और उच्च भौतिक विज्ञान या उच्च गणित में सापेक्षतावाद या 'क्वान्टुम' आदि की चर्चा में।

फ्रेजर ने अपने 'गोल्डन बाउ' में 'बाल्डर दि ब्यूटिफुल' अध्याय में पृष्ठ २०४-५ पर लिखा है कि सभ्यता के विश्वास तीन अवस्थाओं में से गुजर रहे हैं जादू, धर्म और विज्ञान। सबसे पहले मनुष्य को अपनी शक्तियों पर इतना अधिक विश्वास होता है मानो सब कुछ वह स्वयं कर सकता है। मन्त्र से वह साँप को बुला सकता है, भूत बाधा को उतार सकता

है, मारण उच्चाटन कर सकता है—इस जाहिल आत्मो माद की स्थिति में अपने से बाहर की किसी शक्ति पर विश्वास करने की जरूरत नहीं होती। परन्तु धीरे धीरे यह विश्वास खण्डित होता है और प्रकृति की महच्छक्ति के आगे जैसे मनुष्य हथियार डाल देता है। ऐसी अवस्था में धर्म का उदय होता है, पंच महाभूत देवता बन जाते हैं, क्रूर और मनमोजी, परन्तु फिर मनुष्य सँभलता है, प्रकृति का उपयोग करना सीखता है और अपनी शक्ति पर पुनः भरोसा करके प्रकृति को नाँधना चाहता है। यह अंतिम अवस्था है विज्ञान। इस प्रकार से सभ्यता के ऐतिहासिक विकास के साथ साथ रहस्यवाद की व्याख्या भी बदलती गई है। जो हमारे लिए वैदिक काल में रहस्यमय था, वह आज भी शाश्वत सनातन भाव से रहस्यमय है, ऐसा मानना मनुष्य की बुद्धि के सारे वैभव और कृतित्व का अपमान करना है। इससे उल्टा यह समझ लेना कि ज्ञेय जो कुछ था वह सब ज्ञात हो चुका, आगे जानने योग्य कुछ बचा नहीं है, यह दूसरी कोटि की हठधर्मिता है। ऐसे भी तो जीवन में अनुभूति के प्रगाढ़ क्षण होते हैं जहाँ 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' जहाँ 'अविगत अविकल अनुपम देख्या, कहता कह्या न जाइ।' (कबीर) या जैसे दादू ने कहा था —

भाइ रे बाजीगर नट खेला, ऐसै आपै रहै अकेला।
यह बाजी खेल पसारा, सब मोहे कौतिग हारा।
यह बाजी खेल दिखावा, बाजीगर किनहुँ न पावा॥

सृष्टि के इस रहस्य को, इस बाजीगरी को जानने का जैसा यत्न सन्तों ने, अध्यात्मवादियों ने किया है, दूसरी ओर उस विराट् प्रकृति के आगे कविजन भी नतशिर, चकित और शब्दों के लिए टटोलते हुए, चौंधियाए हुए स्तिमित व्यक्ति बने हैं। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की इस 'त्रिपुटी' को या आधुनिक रस शास्त्र की परिभाषा में कहें तो 'सब्जेक्ट आब्जेक्ट यूनिटी' को समझने में कई कवियों की दशा दिग्भ्रमित सी हुई है। कई पूछते ही रह गए हैं, जैसे 'चित्रा' में रवीन्द्रनाथ —

जगतेर माझे कत विचित्र तुमि हे
तुमि विचित्र रूपिणी।

अयूत आलोके झलशिछे नील गगने
आकुल पुलके उल्लसिछे फूल कानने
द्युलोके भूलोके विलशिछ चल चरने
तुमि चचल गामिनी।
कत ना वर्ण, कत ना स्वर्ण गठिते
कत जे छन्दे, कत सगीते रटिते
कत ना ग्रन्थि कत ना कठे पठिते
तव असंख्य काहिनी।
तुमि विचित्र रूपिणी।

और इसी विचित्र रूपिणी का 'नहि कालदेश, तुमि अनिमेष मूर्ति, तुमि अचपल दामिनी'—जैसा हाल है।

यह रहस्य भावना आदिम जातियों में अभी भी उसी रूप में विद्यमान है, जो तर्क को चुनौती देती सी जान पड़ती है। डाक्टर रिवर्स ने 'दि टोडाज़' नामक ग्रन्थ में पृष्ठ २४९ पर कहा है कि 'भारत की आदिवासी जाति टोडाओं में भविष्य देखने वाले, जादू करने वाले और बीमारी उतारने वाले तीन भिन्न प्रकार के लोग होते हैं और ये तीनों पुजारियों से भिन्न होते हैं। इस प्रकार से सभ्यता की दिशा में टोडा एक विकसित प्रकार की जाति है।' चीन में लाओ त्जे के समय तक—यानी ईसा से छः सौ वर्ष पूर्व और शाक्यमुनि गौतम के सौ वर्ष बाद—धर्म साक्षात्कार और वैज्ञानिक चिकित्सा एकरूप थीं। लाओ त्जे के बारे में कहा जाता है कि उसने मर्मी का हृदय पाया था, परन्तु उसका स्पर्श वैद्य का सा था और दृष्टि किसी प्राणि शास्त्रज्ञ की सी। प्राचीन मिस्रियों के विश्वासों में इसी प्रकार के कल्पना प्रसूत और वास्तव विश्वासों का सम्मिश्रण मिलता था। लाइप्ज़िग से १९०८ में छपे 'डाइ आल्टाइज्प्टिशेन पिरामिडेण्टक्स्टे नाखडेन पापीरान्ड्रुकेन' के आधार पर जो पिरामिड पर उत्कीर्ण लेख मिले हैं, उनका आशय भी इसी प्रकार का है—

जब स्वर्ग का अस्तित्व नहीं हुआ था,
जब मनुष्य का अस्तित्व नहीं हुआ था,
जब देवताओं का जन्म नहीं हुआ था,
जब मृत्यु का भी आरम्भ नहीं हुआ था—

आदि। असुरी महाकाव्य गिलगिमेश में भी सिदुरी जब शोक करती है तब कहती है—'शोक वृथा है, क्योंकि ईश्वर ने जब मानव को बनाया, तब कहा कि मृत्यु तेरे हाथ में है, जन्म हमारे हाथ में रहेगा।'

यह सहज विश्वास की भावना सारे रहस्यवाद के मूल में मिलती है। चाहे असुरीबाबुली, मिस्री, चीनी या भारतीय, ईसाई, इस्लामी कोई भी रहस्यवाद हो उसके मूल में दो तीन बात एक सी मिलती हैं और कविता में रहस्यवाद के अध्ययन में वे बहुत उपयोगी हैं एक तो काल के बन्धन से परे कोई वास्तविकता है, यानी वह जन्म मृत्यु के बन्धनों से परे, अजन्मा, अमर है। दो, मनुष्य उसे पाना चाहता है। उस अज्ञात अखण्डता के प्रति उसके मन में एक निरन्तर अन्वेषण भावना काम करती रहती है, और तीन, पाप या बुराई कुछ नहीं है, केवल भास मात्र है। वह है तो इसलिये कि विश्व को खण्डशः स्वयं शासित मानने से अपूर्णता पैदा होती है।

इस दृष्टि से रहस्यवाद की जो दो चार परिभाषाएँ हमारे काम की हमें मिलती हैं वे इस प्रकार की हैं —

(१) 'परमेश के साथ प्रत्यक्ष मिलन के परम पवित्र आनन्द को उपलब्ध करने का मानवी मन का प्रयत्न रहस्यवाद है।' (प्रिंगल पैटिसन दि आइडिया आफ गाड)

(२) 'प्रेम मार्ग से परमात्मा की प्राप्ति का और उसके लिये आवश्यक सफल सेवा के आदर्श से प्रेरित किसी व्यक्ति के आत्मनिरपेक्ष आग्रह को रहस्यवाद कहते हैं।' (टी० एच० ह्यू दि फिलासाफिकल बेसिस आफ मिस्टिसिज्म, पृष्ठ ९०)

(३) 'रहस्यवाद आत्म का नैरात्म्य से ऐसा सम्बन्ध है जिसमें अपने वैयक्तिक हेतुओं से परे वह बृहत्तर आदर्शों की प्राप्ति के लिये सामरस्य से या प्रेम से प्रयत्न करे। इस प्रकार से रहस्यवाद विश्व की अखण्डता के साथ भाव सम्बन्धों का आनन्दमय संश्लेषण है।' (हेवेलाक एलिस)

(४) 'रहस्यवाद एक प्रकार की दिव्य अनुभूति है, सिद्धान्त नहीं, यह तो एक प्रकार का आध्यात्मिक वातावरण है, कोई दर्शन पद्धति नहीं।' (स्पर्जियन)

युगो के अनुसार काव्य के प्रयोजन जैसे बदलते गये हैं, रहस्यवाद विषयक विचार भी बदलते गये हैं। इनका ऐतिहासिक विवेचन हम उपनिषदों से शुरू करना चाहिये।

उपनिषदों पर प्राध्यापक रा० द० रानडे की पुस्तक 'दि कन्स्ट्रक्टिव सर्वे आफ दि उपनिषदाज' एक अमूल्य और मार्मिक रचना है। उसमें उपनिषत्कारों की शिक्षा देने की जो अनेक पद्धतियाँ उन्होंने बताई हैं उनमें से कुछ हैं (१) रहस्यात्मक, (२) सूत्रात्मक, (३) शब्दव्युत्पत्तिनिष्ठ, (४) पौराणिक कथानकात्मक, (५) दृष्टान्तात्मक, (६) संवादात्मक, (७) समन्वयात्मक, (८) आत्मगत भाषणात्मक, तथा (९) शिष्याधिकारानुसारिणी। इन सबमें रहस्यवादी भाव कविता के समान बहुत से अंश मिलते हैं। उपनिषद् का काव्य स्पष्टतः भावकाव्य नहीं, विचारकाव्य है। 'ईशावास्योपनिषद्' जैसे सबसे छोटे उपनिषद को पढ़ने पर जैसा मन प्रसादन होता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। गांधीजी इस उपनिषद् को अपनी प्रेरणा का आदिस्रोत मानते थे और मराठी में विनोबा ने और हिन्दी में सियारामशरण गुप्त ने इस उपनिषद् के समश्लोकी अनुवाद तथा वृत्तियाँ लिखी हैं। सब उपनिषद् पद्यमय नहीं हैं, कुछ गद्यमय, कुछ गद्य पद्य मिश्रित भी हैं। डायसन ने बृहारण्यकोपनिषद् के गद्य के काव्य सौन्दर्य की खूब प्रशंसा की है छोटे छोटे सूत्रमय वाक्य, सरल शब्द और उनमें ऐसा गजब का अर्थ गाम्भीर्य। छान्दोग्योपनिषद् में छन्द शब्द की उत्पत्ति दी है। देवताओं ने छन्द से स्वयं को आच्छादित कर लिया, इसीलिये उसे छन्द कहते हैं (१–४–२)। पाणिनि के अनुसार 'छन्दस्' और 'साम' स्वतः प्रमाण थे, कुछ छन्दस् 'दृष्ट' थे और कुछ 'प्रोक्त' थे ('छन्दसि दृश्यते' और 'शौनकादिभ्यश्छन्दसि'), छन्दस् का मूल अर्थ था याचना, 'छन्दस्' और 'ऋग्' एक ही थे। 'आवसथ' नामक प्राचीन वैदिक शब्द का अर्थ है घर या संग्रह, 'अवस्ता' उसी का अपभ्रंश रूप है। अतः झन्द अवस्ता वस्तुतः छन्द आवसथ (छन्दों का संग्रह) है (देखिए दस्तूर होशंगजी जमशेदजी का जन्द पहल्वी कोश)। 'बृहदारण्यक' में 'वाक्' अनुष्टुभ मानी गई है, परन्तु सावित्री का उपदेश गायत्री छन्द में ही बताया गया है (५–१४–५)। उपनिषत्काल तक छन्द शास्त्र बहुत कुछ, निर्णयात्मक अवस्था में पहुँचा हुआ था। उपनिषदों में दन्तकथा, संवाद, उत्प्रेक्षा, रूपक,

अन्योक्ति, सकेत, मानवीकरण आदि सब प्रकार की सामग्री का प्रयोग किया गया है।* कुछ उदाहरणों से मै अपनी बात स्पष्ट करूँ

'जिस प्रकार से म्यान मे तलवार समूची भरी रहती है, उसी प्रकार से नखाग्र से समस्त शरीर मे आत्मा सव्याप्त है।' (बृहदारण्यक १।४।७)

'जिस प्रकार से मृत्तिका के एक घट से इतर सब मृत्तिका विकार जाने जा सकते है, क्योंकि विकार ये निरे वाणी के अवलम्बन है, मृत्तिका ही केवल सत्य है, जिस प्रकार से एक लोहे की अनी से सब लोह विकार जाने जा सकते है, क्योकि विकार ये केवल वाणी से अवलम्बन है, लौह ही अकेला सत्य है, जिस प्रकार से सुवर्ण की एक वस्तु से सब सुवर्ण विकार जाने जा सकते हैं, क्योंकि विकार केवल वाणी का अवलम्बन है, सुवर्ण ही केवल सत्य है, उसी प्रकार से मै कहता हूँ यह आदेश है।' (छान्दोग्य ६।१।४ ६)

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्। (प्रश्नोपनिषद् २।६) 'जिस प्रकार से चक्र के आरे रथनाभि मे स्थित होते हैं, उसी प्रकार से सब वस्तु जगत् प्राणियों में स्थित है।' यही चक्र और आरों का दृष्टान्त 'मुण्डकोपनिषद्' (२।२।६) में और 'बृहदारण्यक' (२।५।१५) में दिया गया है।

'छान्दोग्योपनिषद्' के तीसरे अध्याय (खण्ड १ से ५) मे बहुत काव्य है। यहीं वह रहस्यमयी विराट् प्रतीक सयोजना है—'यह आदित्य यानी देवताओं का मानो मधु है। द्युलोक वृक्ष की शाखा है, आकाश उस पर शहद का छत्ता है और उस छत्ते मे का शहद है आदित्य। सूर्य किरणों मे स्थित उदक भ्रमर पुत्र है। पूर्व दिशा की किरणे इस छत्ते के पूरक के छेद है। ऋचा शहद जमा करने वाले भ्रमर है।' इत्यादि।

ऐतरेयोपनिषद् में 'अशना' (भूख) और पिपासा (प्यास) यह देवियाँ मानी गयी हैं और उनका आत्मा से सवाद कराया गया है। 'मुडकोपनिषद्' मे आहुति का ऐसा ही सजीवप्राय वर्णन है। यह अब अप्रस्तुत विधान रहस्य वादी सकेतवाद के बीजरूप में मिलता है। भारतीय काव्य परम्परा में हिरण्यगर्भ वाला 'बृहदारण्यक' का प्रसिद्ध अश (१।४।१) फ्रायड ने अपने ग्रथ 'दि इगो एण्ड दि इड' के आरम्भ में उद्धृत किया है। उसी प्रकार से

'बृहदारण्यक' में श्येन पक्षी का रूपक कि 'तुम अन्तहीन नभ होना युग उड़ जाए उड़ने में, परिचित हो एक न कोना' (महादेवी रश्मि अतृप्ति) ऐसे आकाश में घूमकर वह लौटकर नीड के प्रति आता है और इस अन्तिम सुषुप्तावस्था में पिता अपिता हो जाता है, माता अमाता, लोक अलोक आदि (४।३।१९ २२) बहुत सबल दृष्टान्त है।

उपनिषदों में केवल रहस्य की टोह की भावना ही नहीं, उसे व्यक्त करने में रहस्यवादी कवितावाली शैली भी अपनायी गयी है। उपनिषत्कार की यह सतत वेगगामिनी जिज्ञासा, यह चिरौत्सुक्य हम कविता में रहस्यवाद की आगे की मंजिलों को समझने में बहुत सहायक होगा। भारतीय कविता में आरम्भिक रहस्यवाद के मूल में केवल उपनिषद् ही नहीं है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने ६ ३ ५३ के एक पत्र में मुझे लिखा था कि 'सिद्धों पर महायान (बोधिसत्त्व) सिद्धान्त, योगाचार और माध्यमिक दर्शन के अतिरिक्त अंत सलिला तांत्रिक धारा का प्रभाव पड़ा। इस अंत सलिला में बौद्ध ब्राह्मण दोनों ही धाराएँ सम्मिलित नहीं थीं। और कुछ और भी थी। सभी बातों की तरह यहाँ भी उद्गम 'ट्रेस' करना मुश्किल है। किंतु शैवों की लिंगपूजा तो बहुत पुरानी थी। 'अलख' 'निरंजन' बौद्धों के शब्द हैं, यह एकांततया नहीं, किंतु निर्गुण उन्हीं का नहीं है। सूफीमत के कितने पहले भी अद्वैत वेदान्त द्वारा निर्गुण का प्रचार था।' परंतु शैवमत, वेदांत बौद्धों का शून्यवाद, तांत्रिकों (शाक्तों) का समाज द्रोह आदि के प्रभाव भी बहुत स्पष्ट हैं। इनको एक एक करके लें तो त्रिमूर्ति की जो कल्पना है, उसके मूल में हमें जाना होगा।

उपनिषद् में 'माता पूर्व रूप' ऐसा वचन है। उत्तराखण्ड के लोगों की दृष्टि से 'मातर पितरौ' रूप होता है। पहले माता का माहात्म्य था। रामायण के 'सौमित्रि' तथा महाभारत के 'कौन्तेय' रूप इसी के द्योतक हैं। 'गन्धर्व' कुमारी का परिग्रह करते थे, देवता, होत्रा शब्द स्त्रीलिङ्ग ही हैं। 'सूर' वैदिक सविता वाचक शब्द पाणिनि के 'सू' धातु से बना है। 'सूर' या 'सू' का अर्थ है—मा। सूर्या, मित्रा (असुरों की देवी) आदि भी इसी के द्योतक हैं। 'मिलिता' असुरों की और 'मित्रा' इरानी लोगों की देवता थी (करे के 'हेराडोटस' में प्रथम खंड, परिच्छेद १३१ के अनुसार)। इसीलिए पाणिनि 'देवताद्वन्द्व' की

बात पहले करते है। द्वन्द्व का मूल अर्थ था—स्त्री पुरुष। जर्मन भाषा में सूर्य स्त्रीलिंगी है, नार्वे की लोककथाओं में भी अदिति स्त्री है और चन्द्र कुमार, लिथुनी में 'उग्निस' (अग्नि) स्त्रीलिंग शब्द है। मातृसत्ताक समाज पद्धति का यह गहरा असर बाद में भी देवी पूजा के रूप में रहा। 'काली पूजा इन बंगाल' नामक ग्रंथ में इसका ऐतिह्य विवेचित है। सूर्य पूजा का ही यह उत्तर रूप है।

लिंग पूजा का मूल कुछ इतिहासकारों के अनुसार करनूल के पास का 'श्रीशैल', बाणगंगा और गोदावरी के संगम का 'कालेश्वर' और राह गोदावरी का 'भीमेश्वर' इन तीन लिंगों का प्रदेश 'त्रिलिंग' माना जाता था। परन्तु मूलत त्रिकलिंग उसका नाम था। 'कलिंग' 'आंध्र' और 'द्रोणकटक' मिलकर त्रिकलिंग बनते थे (जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी, जून १८३७, पृष्ठ ४९१)। इसी से ति + अलिंग > तिलिंग बना। इस लिंगपूजा मे त्रिमूर्ति की कल्पना का बीज है। 'पशुपति' के रूप में परमात्मा को याद करने वाले भवभूति के काल तक गौओं का पालक लोकनायक कवि के सामने आदर्श था, उसे अध्यात्म का जामा दिया गया जीव, पशु की भाँति परतन्त्र है, पशुपाल पशुपति स्वतन्त्र है। यही पशुपतित्व बाद में विष्णु का 'गोपालत्व' बना। इस प्रकार त्रिमूर्ति की तीन शक्तियाँ प्रधान थीं पहली शक्ति काली अर्थात संहारक, दूसरी, पशुपति अर्थात् संरक्षक, तीसरी, विश्वास उत्पन्न करने वाली। 'काल' का बनाने वाला है सविता (सूर्य)। इससे काली उसका रूप बना। बाद में काल = मृत्यु की भावना भी उसमें जुड़ गयी। शक लोग मार की उपासना करते थे यानी खड्ग या स्कन्द की।

शिव के अन्य नामों से भी इस बात का प्रमाण मिलता है वराह मिहिर की 'बृहत्संहिता' में किरात खण्ड नैऋत्य और ईशान की ओर है। 'महाभारत' के वनपर्व में १४०वे अध्याय में किरातों के राजा का उल्लेख है। शिव किरात का रूप धारण करता था, ऐसी प्रसिद्धि है। रुद्र का अर्थ है, ब्राह्मण ग्रंथों के अनुसार 'सोरोदीद् यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्' अर्थात् रुलाने वाला। याज्ञिकों की अच्छी तरह मरम्मत करने के कारण 'किरात' और 'रुद्र' को उन्होंने 'प्रमथ' भी कहा। 'वाजसनेय संहिता' में उल्लेख है कि किरातों का राजा त्र्यंबक मुञ्जवान् पर्वत पर रहता है। उसकी अंबिका नाम की 'स्वसा'

(सगी बहन, पत्नी) थी। बाद में किसी याज्ञिक ने अपनी लड़की सती एक यवक से ब्याही। फिर भी वह यज्ञों का समुचित आदर न कर सका, यह दक्ष कथा से स्पष्ट है। बाद में डर के मारे याज्ञिकों ने अपने यज्ञ का एक भाग यवकों को देना शुरू किया। किरातों के ग्यारह गण थे, वे एकादश रुद्र कहलाये। धनुर्वाचक 'पिनाक' से यही यवक, रुद्र, प्रमथाधिप, पिनाकपाणि बना और किरात 'कृत्तिवासस्' होने से शिव 'कृत्तिवासा' बना। अर्वाचीन शिवत्व हिमालय पर्वत पर श्वेतापन का आरोप है। इसी से 'भागीरथी' उसके मस्तक पर है, वह 'दिगम्बर' है। पूर्व दिशा के अन्त में 'नाग' रहते हैं और पश्चिम के अन्त में सर्प, अत वे ही उसके भूषण हैं। वृषभ या वनगाएँ हिमालय की तराई में बहुत होती हैं—वे ही उसके वाहन हैं। इसी से वह 'गिरीश' या पर्वतों पर सोने वाला और पार्वती (पर्वत की शोभा) का पति है। संस्कृत नाटकों का शिव अनेक परस्पर विरोधी धर्मों का चूँ चूँ का मुरब्बा है। उसमें यज्ञप्रिय ब्राह्मणों ने अयाज्ञिकों में जो कुछ अच्छा मिला, उसका समाहार कर लिया है।

शिव का पुत्र हेरब (द्राविड भाषा में हेरब का अर्थ है हाथी) और स्कन्द हुए। हाथी की पूजा मतंगों में पहले होती थी। 'अग्नीशिवो' देवता द्वन्द्व इस प्रकार रूढ़ हुआ। श्रुति है अग्नि पूर्वभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।' ब्राह्मण और क्षत्रियों का परस्पर लाभ यों होता था कि ब्राह्मण निज को पवन और क्षत्रियों को अग्नि कहते थे (देखिए 'रघुवंश' सर्ग ८, श्लोक ४)। विष्णु दोनों का पोषण करनेवाला बना। याज्ञिकों का विष्णुस्वरूप आकाश और समुद्र का प्रतीक नील रूप है। लक्ष्मी इसीलिए समुद्र कन्या है—दरियाई डाकुओं की यह उपलब्धि है, विष्णु समुद्र का जमाई है। विष्णु का स्वरूप दो प्रकार का है, अंगिरस् गंधर्व कृति और 'भृगु' असुर। दोनों लक्ष्मियों में भी अन्तर है। विष्णुपत्नी चंचला, सदा उसके पैर चाँपनेवाली है। लक्ष्मी के आलिंगन से प्रायः लोग उन्मत्त होते हैं—अत उसकी इतनी निंदा बाद में सिद्धों ने की। इसी कारण विष्णु महाराज असुरादिकों की पत्नियों के साथ रममाण होते रहे और शास्त्र निन्दित स्त्री वेश भी उन्होंने लिया। त्रिमूर्ति के दूसरे रूप विष्णु के कारण स्त्रियों की दशा बहुत शोचनीय बनी। 'शिव' और 'शिवा' का अर्धांग योग मन को पावन करने वाला था। विष्णु पितृसत्ताक

गमान पद्धति का प्रतीक है। यह विष्णु सर्प पर सोता है। सर्प याज्ञिकों में अग्रगण्य थे। यज्ञपुरुष उसके सहारे रहता है। सर्प और 'अग्नि' का बैर बहुत पुराना है। शाहनामा के रचयिता फिरदौसी ने कहा है कि एक बार 'पशदादाअन' वंश का राजा हुशंग अपने आदमियों के साथ पहाड़ी पर शिकार को जा रहा था। इतने में उसे दूर से लम्बी काले रंग की और जल्दी जल्दी दौड़ती हुई कोई वस्तु दिखायी दी। उस वस्तु के सिर पर दो आँखें रक्त के चश्मे के समान थीं। उसके मुँह से निकलती हुई भाप के कारण दुनिया में अँधेरा छाया हुआ था। यह एक बड़ा भारी अजदहा (सर्प) था। बादशाह ने एक बड़ा पत्थर उठाकर उसे अपनी सारी शक्ति लगाकर सर्प की ओर फेंका। वह पत्थर अजदहा के सिर पर लगा और वह चूर चूर हो गया। वह पत्थर उसके सिर पर लगने के बाद पास के दूसरे पत्थर से टकरा गया और टकराते ही उसमें चकमक (अग्नि) पैदा होने के कारण पास की घास जल उठी। हुशंग और उसके साथी इस नयी जाति के तेज को आगे आता देखकर उसे लेने गये और उससे जल गये। यह तेज क्या है, इसका भान होते ही बादशाह ने उसे और भी अधिक प्रज्वलित किया और उसका नाम 'आतिश' या 'अग्नि' रखा। इस प्रकार अकस्मात् अग्नि का आविष्कार हुआ। बादशाह ने उसके लिए विशेष भवन बनाया और उसमें उसकी स्थापना की। अग्नि दो प्रकार का होता है—पहला निराकार या अदृश्य अग्नि, जो मध्यबिन्दु में स्थित होकर आत्मसूर्य में छिपा हुआ है। दूसरा प्रकट जागतिक अग्नि, जो सृष्टि और सूर्य में सप्तरूपों में रहता है। अशोई की शिखा के ऊपर आकाश के ऊपर निराकार प्रभु की दृष्टि में पड़ने वाली ज्योति को आओ अहूरमज्द को बंदगी करने वाले अपना सिर अर्पित करते हैं। अग्नि ईश्वर का पुत्र है। (जरथुस्त्र धर्म की अग्नि उपासना—जुरीमान सोराबजी गोलावाला, कल्याण-साधनांक पृष्ठ ६७५–६) कश्यप सरोवर के पास कद्रू नाम का एक गाँव था। कुदुश बेहिस्तुन शिला लेख, स्तम्भ २, परिच्छेद १२ के अनुसार यह पीगिडा देश में था। कद्रू प्राचीन सर्प भूमि थी। आजकल का कुर्दिस्तान आरमीनिया के निकट है। कुर्द, कद्रू या गरुड़ का अपभ्रंश है। पुराणों के अनुसार कद्रू और विनता कश्यप ऋषि की पत्नियाँ थीं। शेष काद्रवेय है। वह अपने कई बन्धुओं के साथ कद्रू छोड़कर विष्णु से जा मिला। काद्रवेय यज्ञ विद्या का

तिरस्कार करने वाले थे। शेषादि याज्ञिक थे। गरुड विनता में रहने वाला 'गरुत्मन्' (बहुत से चोंचें रखने वाला) था। गन्धर्वों की सहायता से गरुड़ ने विनता को क्लेश मुक्त किया। गरुड़ इस प्रकार से विष्णु का वाहन बना। शिव और विष्णु में इस प्रकार से अन्तर पड़ा और विरोध बढ़ा शिव श्वेत, विष्णु नील, शिव निःशेष भुवन मण्डल का स्वामी है तो विष्णु केवल ऊपर के विष्णुपद का, शिव के सर्प और विष्णु के गरुड प्रिय बने, शिव एकपत्नीव्रती है तो विष्णु की अनेक स्त्रियाँ होने पर भी वह परस्त्रियों पर आसक्त होता है, शिव यज्ञ का मथन करने वाला है, विष्णु स्वयं यज्ञपुरुष, शिव मदन दहन करता है, विष्णु रति लम्पट है, शिव ने अर्धांग शिवा को दिया, विष्णु ने पत्नी को पाद संवाहन के लिए दासी नियुक्त किया। इस प्रकार से 'सूर्य' और 'हिमालय' शिव बने और 'आकाश' और 'समुद्र' विष्णु।

ब्रह्मा बाद में दोनों को मिलाने के लिए नपुंसकलिंग 'ब्रह्म' से मिला। पुल्लिंग ब्रह्मा वेदपुरुष के लिए प्रयुक्त हुआ। वेद चार हैं तो ब्रह्मा चतुर्मुख है। कुरुक्षेत्र की प्रसिद्ध नदी सरस्वती के किनारे पर कई मन्त्र मिले, अतः वह वाङ्मय की अधिदेवता बनी। ब्रह्मा उसका पति। यज्ञ के प्रभाव से 'प्रजा' मिलती है अतः वह प्रजापति बना। यज्ञ पर 'सृष्टत्व' का अधिरोपण होकर ब्रह्म बना नाभि और गर्भाशय एक ही है। नाभि=कारण, उनके उत्पादक। ब्रह्मा नाभिजन्मा है। विष्णु 'नाभि' है, यानी जगत् का आदिकारण है। योगियों की भाषा में नाभि कमल है, अतः ब्रह्मा कमलजन्मा है। 'ब्रह्म' 'तज्जलानिति' अर्थात 'तज्ज' और 'तल्ल' और 'तदनिति' है अर्थात् उससे बनने वाला, उसी में लय पाने वाला, उसी से सांस लेने वाला है। इस प्रकार से 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' (गीता २-४५) का आधार त्रिमूर्ति बनी। यही त्रिमूर्ति दत्तात्रेय कहलाई, जिसके नाम से बाद में तन्त्रों की रचना कही जाती है।

'त्रिमूर्ति' की कल्पना का यह आरम्भिक इतिहास हुआ। इसी में आगे चलकर शांकर अद्वैत और मायावाद तथा बौद्धों का शून्यवाद आकर मिला और तान्त्रिकों तथा शाक्तों का समाज विद्रोह इसमें शामिल होकर अन्ततः एक अद्भुत प्रकार की कविता का जन्म हुआ, जिसे हिन्दी के निर्गुण काव्य

की आरम्भिक रचना सिद्धों की कृतियां कहते हैं। इन प्रभावों का कुछ विस्तार से अध्ययन आवश्यक है।

उपनिषदों का 'पूर्णात्पूर्णमिदम्' यदि एक भरा हुआ शून्य है, खाली ० है, तो बौद्धों का शून्य उसीका खोखला रूप मात्र ० है। आजकल की अस्तित्व वादी परिभाषा में यह तो वस्तु सत्य को देखने के दो दृष्टिकोण मात्र हैं। जो भरा हुआ है, वह खाली भी है, क्योंकि वेदान्तियों के मत से यह निरा 'अध्यास' है, दृष्टिभ्रम है, और बौद्धों के मत से यह केवल बिन्दुओं का सिलसिला है।

वेदान्तियों का मायावाद बड़ा निकट है—'माया महा ठगिनि हम जानी'। दार्शनिक बतलाते हैं कि माया एक किस्म की जादूगिरी है। जादू करके जादूगर उसमें नहीं फँसता, उसी तरह से यह माया है 'यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते, अवस्तुत्वात्, एवं परमात्मा अपि संसारमायया न संस्पृश्यत इति।' (शांकरभाष्य २-१-९)। 'निघंटु' में माया को 'प्रज्ञा' के ११ पर्यायों में से एक माना है। यास्क ने भी 'निरुक्त' में माया का इसी अर्थ में उदाहरण दिया है। 'यजुर्वेद' के ११वें अध्याय के ६९वें मन्त्र में 'आसुरी माया' शब्द आया है। इस पर उव्वट का और महीधर का जो भाष्य है उसमें भी माया को प्रज्ञा का समानार्थी माना गया है। 'ऋग्वेद' में माया शब्द ७५ बार और 'अथर्ववेद' में २७ बार आया है। उपनिषदों में यह शब्द नहीं आता। केवल 'बृहदारण्यक' में एक बार प्रयुक्त है 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (२।५।१९) अर्थात् इन्द्र मायाओं द्वारा पुरुरूप हो गया। वस्तुतः यह 'ऋग्वेद' का एक पूरा मन्त्र (६।४७।१८) ज्यों का त्यों उद्धृत है। मूल में जो 'माया' केवल बुद्धि या प्रज्ञा थी वह गौडपादाचार्य के समय आकर छल कपट के अर्थ में कैसे हो गई? और मधुसूदनाचार्य ने 'पंचदशी' में यहां तक कह डाला कि—'मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ' (श्लोक २३६) अर्थात् 'ईश्वर और जीव दोनों माया नामक कामधेनु के दो बछड़े हैं।' यहां आकर माया दुर्घट बन जाती है, वह अतर्क्य है— 'न चोदनीय मायायां' (१३७)। इस सम्बन्ध में 'अद्वैतवाद' ग्रन्थ में पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय लिखते हैं कि यह बाद में जो माया का अर्थ दिया गया है वह बौद्धों का प्रभाव है। उन्हीं के शब्दों में—'हमारी अपनी धारणा

यह है कि बौद्धों के माध्यमिक सम्प्रदाय के समय मायावाद ने जोर पकड़ा, यह लोग शून्यवादी थे। गौडपाद तथा शंकर ने इसी वाद को कुछ ऐसा सा उलट पलटकर एक नया रूप दे दिया।' (पृष्ठ ११६)

सो बौद्धों के शून्यवाद का भी प्रभाव भारतीय काव्य के रहस्यवाद पर अवश्य पड़ा। माया का यदि इन्द्रजाल अर्थ लिया जाय तो जादू में तो लेने की वृत्ति अधिक होती है। एवलिन अण्डरहिल ने अपनी 'मिस्टिसिज्म' पुस्तक में पृष्ठ ८४ पर लिखा है कि 'मेजिक वाट्स टु गट, मिस्टिसिज्म वाट्स टु गिव' (जादू लेना चाहता है, रहस्यवाद देना)। बौद्धों का सारा धर्म आरम्भ में बहुत बुद्धिवादी था, तर्काश्रित था। यद्यपि शंकराचार्य ने जहां 'तर्काप्रतिष्ठानात्' कहा, वहां बौद्ध निरी श्रद्धा पर विश्वास नहीं करना चाहते थे। परन्तु आत्मा और परमात्मा दोनों के नकार के बाद बौद्धों के पास जन साधारण में फैली भक्ति भावना को, रागात्मक सहज विश्वास वृत्ति को संतुष्ट रखने का मार्ग कोई नहीं था। अतः प्रतिक्रिया के रूप में निकले तान्त्रिकों के समाज की सुस्थिर नीति को अमान्य करने वाले विद्रोही वामाचार। इनमें उत्तर शैव और उत्तर बौद्ध मत का मिश्रण था।

इस प्रकार से तंत्रवाद को प्रेरणा के स्रोतों में चतुर्थ और प्रमाणों में पंचम स्थान मिला। तंत्रों के विकास का समय छठी सातवीं शताब्दी है। 'तंत्र' शब्द का मूलार्थ था जाला, लच्छी या गुत्थी। इनका उल्लेख ५०० इस्वी के 'अमरकोश' में नहीं है—यानी ये बाद की रचनाएँ हैं। शंकर ने ६४ तंत्रों का उल्लेख किया है। इनमें से उपलब्ध मुख्य तन्त्र ग्रंथ हैं 'तन्त्रकौमुदी', 'शक्तिसंगम', 'रुद्रयामल', 'कालिका', 'कुलार्णव', 'तन्त्रतत्त्व', 'महानिर्वाण' आदि। अन्तिम दो के अंग्रेजी अनुवाद आर्थर एवेलोन ने किए हैं। ये तंत्र दत्तात्रेय नामक ग्रंथकार की रचनाएँ हैं। मोनियेर विलियम्स ने अपने ग्रंथ 'ब्राह्मणिज्म एण्ड हिन्दूइज्म' में कहा है कि 'वेद, शास्त्र, पुराण तो सामान्य स्त्री के समान हैं। यह रहस्यमय शैव विज्ञान एक कुलीना स्त्री के समान है।' वेदों को निगम मानकर तन्त्रों को आगम मानते थे। इनके रचयिता कुल्लूक भट्ट थे। इसमें दक्षिणाचार और वामाचार दो पंथ बने। वामाचार शूद्रों तक सीमित थे। बाद में पश्चिमी भारत के जैनियों ने अपने व्रतोत्सवादि उपचारों

म नर्ा ।। का _ठ विधियाँ थीं। ये विधियाँ नेपाल और तिब्बत तक जा पहुँचीं।

तन्त्रों में निष्कल और सकल धर्म दो रूप ब्रह्म के बताये गए हैं, जो निर्गुण और सगुण के समानार्थी हैं। इनकी विधियों में मन्त्रों का, अक्षरों का, बीज, यन्त्र, शक्तिचक्र, कवच, मुद्रा आदि का बड़ा घटाटोप है। इनकी रहस्यवादी धर्म विधि में जाति पाँति या गोत्र का कोई अन्तर नहीं था, सती की प्रथा भी नहीं थी। एक प्रकार से बौद्ध धर्म में यह शैव मत ही था। इसके सूत्र तिब्बती में 'ग्युद' और तन्त्र 'रग्युद्' कहलाये। तिब्बती में सुरक्षित तन्त्र ग्रंथ में 'सद्धर्म पुण्डरीक' और 'कारण्डव्यूह' अर्थात् 'महायानसूत्ररत्नराज' हैं।

इन तन्त्रों के अधिक विस्तार में न जाकर भक्ति के प्रेम मार्ग का और शैव बौद्ध तन्त्रों का रहस्य सम्मिश्रण आगे कैसे हुआ यह दर्शनीय है। हॉपकिन्स 'जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी' के जुलाई १९११ के लेख में पृष्ठ ७३ पर लिखते हैं कि—'भक्ति के प्रेम की परिणति सकाम वासना में भी होती है, पर द्रविड रूप में भक्ति की जो व्यंजना हुई है, उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती।' चैतन्य (१४८६–१५३४) के पंथ में इस मधुररस की मुक्त प्रशंसा है। उस पंथ में भक्त स्वयं कृष्णरूप होकर अपना प्रेम उँडेलता है। चण्डीदास (१४वीं शती) का सहजिया पंथ इन्हीं वामाचारी बौद्धों से प्रभावित पंथ था। दिनेशचन्द्र सेन ने अपने 'बंगाली लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर' में पृष्ठ ४८ पर लिखा है कि चण्डीदास की उक्ति है 'मित्रो! सुनो, मुक्ति स्त्री के प्रति प्रेम द्वारा ही पाई जा सकती है।' पूसाँ ने अपने फ्रांसीसी ग्रंथ 'बोद्धीइज़्म ओपोनियन्स सुर ला हिस्तोरी द ला दौग्मेतीक' में पृष्ठ ४०२५ पर कहा है कि 'तन्त्रवाद का आधार ही इस सिद्धान्त पर था कि सब मायाओं में—जब कि सब कुछ माया है—यह स्त्री नाम की माया सबसे दिव्य है, मुक्ति के लिये यह सबसे जरूरी है। 'स्त्री पूजा' सर्वोच्च देवता की पूजा है। अतः उसमें कोई पाप या कलंक या बुराई नहीं है, सगोत्रीय के साथ संभोग तक में।' अतः 'आद्या काली की पंचमकारों से जो पूजा करता है या उसके ४०० नामों का जप करता है, उसके लिये कुछ भी अप्राप्य नहीं है।' (महानिर्वाण तन्त्र) इस प्रकार से शाक्त मत को भी रहस्यवाद में एक स्थान मिला।

डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल अपने 'निर्गुण काव्य धारा' नामक अत्यन्त मूल्यवान ग्रंथ के अंत में परिशिष्ट में तान्त्रिक प्रभाव पर बात करते हुए कहते हैं कि गोरखनाथ ने तान्त्रिक प्रभावों को पूर्णतः छोड नहीं दिया था, परन्तु उनमें परिवर्तन अवश्य उपस्थित किया। उसके अनुसार योगसिद्धि में वज्रोली के सहजोली अमरोली दो रूप थे। इन्हीं का उल्लेख 'गोरखपद्धति' में पृष्ठ ५१ पर हुआ है—'पित्तोल्वणत्वात्प्रथमाम्बुधारा' इत्यादि। अनेक बीभत्स प्रक्रियाओं के कारण कबीर को शाक्त मत पसन्द नहीं था, वह उसका तिरस्कार करता था। परन्तु तान्त्रिक मत का एक अच्छा पहलू भी था जिससे निर्गुण संतों ने बहुत कुछ सीखा। षट्चक्रों का सारा जगद्व्याल और आडम्बर निर्गुनिया को नाथ योगियों से मिला। इसकी विस्तृत व्याख्या डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'नाथ सम्प्रदाय' मिलती है। परन्तु नारी को पारस मानने की और मूल मानने की बात कनफटों में मिलती है 'नारी अंग कहे पारस दहै। आन्हा माँगि शिष्य पद लहहे।' और कबीर का पद है 'पारस पान बाल कहे दीजे। कामिनि कह पारस हे सेवा।' तब धरमदास ने प्रश्न पूछा है —

सकल नरक नारी ढिग कहिए सोई नरक गुरू कैसे चहिए।

इस प्रकार से 'अमरमूल' में कबीर ने 'पारस' का प्रत्यक्ष रूप दिया है। इसी का प्रभाव सिद्धों की कविताओं में भी मिलता है।

सिद्धों की कविता हिन्दी के आदिकाल के रहस्यवाद का प्रस्फुटन है। उस समय के रहस्यवाद में और आज कल के थियोसाफी ब्रह्मसमाज प्रभावित रावींद्रिक रहस्यवाद में या महादेवीजी के औपनिषदिक रहस्यवाद के 'थेरीगाथा' की मारफत पुनःस्मरण में या अरविन्दवाद में बहुत अन्तर आ गया है। इस परिवर्तन में ऐतिहासिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का और विचारधाराओं का प्रभाव हमें बराबर मिलता जाता है। अतः आधुनिक रहस्यवाद को समझने के लिए भी प्राचीन रहस्यवादी परम्परा का सुसंबद्ध अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

'ससीम ज्ञान, असीम ज्ञान की खोज का अभ्यास अनन्त काल से कर रहा है, परन्तु उसमें शांति नहीं मिली। अतएव असीम हृदय के अन्वेषण के लिए ससीम हृदय उत्कण्ठा से निकला। यहीं रहस्यवाद का मूल उद्गम है।

चिन्तन जगत् में जो ब्रह्मवाद अथवा अद्वैतवाद है, भावना जगत् में वही रहस्यवाद कहलाता है। भाव प्राचुर्य जन्य तद्रूपशीलता में रहस्यवाद के प्रादुर्भाव का रहस्य है। परन्तु काव्यगत रहस्यवाद का सम्बन्ध ज्ञान से न होकर हृदय से है। हिन्दी रहस्यवाद का वर्तमान स्वरूप पश्चिमीय प्रतिकृति है यह सभी मानते हैं। शुक्लजी का भी यही मत है।' (सद्गुरु शरण अवस्थी विचार विमर्श, पृष्ठ ४५)। इसी प्रबन्ध में वे आगे वोन साहब का मत उद्धृत करते हैं कि (१) दैवी भाव, (२) दैवी ज्ञान तथा (३) दैवी उपासना रहस्यवाद की तीन स्थितियाँ हैं। काव्य गृहीत रहस्यवाद पहली स्थिति की अभिव्यक्ति है। दर्शन और काव्य का सूक्ष्म संयोग रहस्यवादी कविता में मिलता है। अलग अलग रहस्यवादियों का अपना अलग अलग दृष्टिकोण रहा है। जैसे मलिक मुहम्मद जायसी ने कहा था —

सुन हस्ती कर नाव, अधरन टोवा धाय के।
जहि टोवा जेहि ठाव, मुहमद सो तसे कहा॥

'हिन्दी काव्य धारा' नामक अमूल्य अपभ्रंश काव्य संकलन की भूमिका में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने धार्मिक और सांस्कृतिक अवस्था का जो विशद चित्र उपस्थित किया है, उससे पता चलता है कि सिद्धों में समाज द्रोह की भावना बढ़ने के ऐतिहासिक कारण क्या थे। उनके शब्दों में 'बौद्ध धर्म चलाचली पर था, उसकी भीतरी कितनी ही कमजोरियाँ उसके हितचिंतकों को मालूम होने लगी थीं, तो भी सबसे बड़ी कमजोरी—सामाजिक समस्या से हाथ खींच लेना—की ओर उनका ध्यान नहीं गया मठों के अप्राकृतिक जीवन में जो बहुत सी बुराइयाँ बहुत भारी परिमाण में घुस आई थीं उन्हें देखकर कुछ विचारकों ने सोचा—हमें इस ढोंग को हटाना चाहिए और मनुष्य को सहज स्वाभाविक जीवन पर लाना चाहिए। सरहपा के वचनों से जान पड़ता है कि वह भोग स्वातन्त्र्य को अस्वाभाविकता या अति में नहीं ले जाना चाहता था। उसने मन्तर तन्तर, देवी देवता पर भी ठोकर लगाई है। मगर जान पड़ता है भीतरी बाहरी विरोध बहुत जबरदस्त था इसलिए सरहपा का सहजयान हजारों मिथ्या विश्वासों और ढोंगों के पैदा करने का कारण बना।' (पृष्ठ ३५)

इस प्रकार से सिद्धों के रहस्यवाद की कुछ मौलिक विशेषताएँ थीं—एक तो वे कविता के रूढ़ संकीर्ण लक्षणों को तोड़ रहे थे, उन्होंने सहज जीवन पर अधिक जोर दिया और दर्शन के उच्चतम रहस्यों को अतिसरलीकृत किया, जिसमें से 'अलख निरंजन' या 'बौद्धों के निर्वाण का ही विशेषण' निकला। ये पाखण्ड मात्र के विरोधी थे और घोर व्यक्तिवादी भी थे। इन बातों के कुछ उदाहरण सिद्धों की रहस्यवादी रचनाओं में से उद्धृत करता हूँ—

(१) आठवीं सदी के सरहपा ने कहा—
'मन्त ण तन्त ण धेअ ण धारण।'
'सब्ब वि रे बढ़। विब्भम कारण'

और

'आइ ण अन्त ण मज्झ णउ, णउ भव णउ णिव्वाण।' नकार का स्वर कितना प्रधान है।

(२) स्वयम्भू की रामायण में एकाकीपन या व्यक्तिवाद का स्वर बहुत प्रधान हो उठा है—

एक्केण कणुव्वउ विहुरकाले। एक्कण सुयेव्वउ जरपयाले॥
एक्के ण अवेव्वउ तन्ति णिवाए। एक्केण एक्कव्वउ पिय विओएँ॥
एक्कहाँ ज पाउ एक्कहाँ ज धम्मु। एक्कहों ज मरणु एक्कहाँ ज जम्मु॥

(३) भुसुकपा, गुण्डरीपा, डोम्बिपा आदि नवीं सदी के सिद्धों में उलटबाँसिया कहकर सुनने वालों को चमत्कृत करने की भी प्रवृत्ति है, जैसे यह कविता यदि आधुनिक मुक्त छन्द में लिख दें तो आप समझेंगे कि किसी 'सुररियलिस्ट' कवि की रचना है, परन्तु इसका मूल नीचे दिया जाता है, यह भुसुकपा (शान्तिदेव), नालन्दावासी की ८०० ईस्वी की रचना है—

रात अँधियारा है
सब ओर चूहे हैं।
बड़े बड़े अमर कहलाने वालों को
कुतुर कुतुर खा गये चूहे।
मारो रे मारो, जोगी हवा करो बन्द,

चूहों भरा हुवा है ।
आना जाना बन्द हो ।
काले यह चूहे है, न वाले नहीं रंग,
आसमान से उड़े, पी गये सब अमृत
चूहे बहुत अचल है चंचल हैं,
अच्छे उस्ताद न जाना
तब रुके हुए ।

(मूल—निशि अंधारी सूसा करन्त अचारा । अमिअ भखअ मूसा करअ अहारा ॥
मार रे जोइया ! मूसा पवना । जेण तूटइ अवणा गवणा ॥
काला मूसा उहण नाण । गअणे उठि चरअ अमिअ पाण ॥
तब मूसा अचल चंचल । सद्गुरु बात करह सो निश्चल ॥)

(४) ये नौकानयन विषयक गीत मुझे मिले हैं जो बिलकुल भिन्न देश काल परिस्थिति वाले हैं । उनमें रहस्यात्मकता का कैसा साम्य है यह सिद्ध करने के लिए उन्हें प्रस्तुत करता हूँ । ८४० ईस्वी के डोम्बिपा का चर्यापद से राग धनसी है

गंगा जमुना माझें रे वहइ नाइ । तँहि बुडिलि मातंगी पोइआ लीले पार करइ ॥
वाहतु डोम्बी वाहलो डोम्बी, वाट भइल उछारा ।
सद्गुरु पाअ पए जाइब पुनु जिनउरा ॥
पाँच केडुआल पडन्ते माँगे पीठत काच्छी बाँधी ।
गअण दुखोलें सिंचहु पाणी न पइसइ साँधी ॥
चन्द सूज्ज दुइ चका सिठि संहार पुलिन्दा ।
वाम दहिन दुइ माग न चेवइ वाहतु छन्दा ॥
कवडी न लेइ, बोडी न लेइ सुच्छडे पार कराई ।
जो रथे चडिया वाहव न जाइ, कूले कूल बुड़ाई ।

इस अपभ्रंश गीत से तेरहवीं सदी की सन्त कवि जनाबाई के मराठी पद की तुलना की जा सकती है —

जहाज तारिले तारिलें । शेवटीं उगमासी आले ॥ १ ॥
भाव शिडाशी लाविला । नाम फरारा सोडिला ॥ २ ॥

कथा भरीयेले कण । ध्यारे नका दन्यवाणे ॥ ३ ॥
एश मनाचा विसार । आर्धी देउनि निर्धार ॥ ४ ॥
कोण देतो फुकासाठीं । आर्तभूत व्हाव पोटीं ॥ ५ ॥
आर्तभूत हा रे । जना म्हण केण घ्या रे ॥ ६ ॥

सिद्धों की रहस्य कविता के बाद निर्गुण काव्य धारा और सूफी नभावा की सक्षिप्त चर्चा भी अप्रासंगिक न होगी।

नैहर और ससुराल के प्रतीक-संयोजन का एक संकलन सद्‌गुरुशरण अवस्थी ने प्रस्तुत किया है। कबीर में से कुछ उदाहरण देखिए

'नैहर में दाग लगाइ आई चुनरी,' 'मेरी चुनरी में परि गौ दाग पिया।'
'का लै नैनी सुसर घर एरो,' 'आयो दिन गौने को मन होत हुलास।'
'खेल रे नैहरवा दिन चारि,' 'हरि मोर पीव मैं राम की बहुरिया।'
'तोंको पीव मिलेंगे, घूँघट के पट खोल रे।'

(१) मिलना कठिन ह, कैसे मिलोगी पिय जाय।
ससुरि सोचि पग धरा जतन से बार बार डिगि जाय।
ऊँची गल, राह रपटोली, पाँव नहीं ठहराय।
लोक-लाज, कुल की मरजादा देखत ही सकुचाय।

(२) दुलहिन गावहु मगलाचार,
हमारे घर आये राजा राम भरतार।

(३) बालम आओ हमारे गेह रे,
तुम बिन दुखिया देह र।

(४) चली मैं खोज में पी की। मिटी नहीं सोच यह जी की ॥
रहे नित पास ही मेरे। न पाई यार को हेरे ॥
कटी जब रैन की झाँई। लख्यो तब गगन में साँई ॥
कबीरा शब्द कहि भाखा। नयन में यार को वासा ॥

(५) छोट नेह नेह लगि तुमसों, भइ चरनन लवलीन,
तालामेलि होत घर भीतर, जैसे जल बिन मीन।

सेजरिया बैरन भई हमको, जागत रैन बिहाय,
हम तो तुम्हारी दासी सजना, तुम हमरे भरतार ॥' इत्यादि

इन सब उदाहरणों में पर पुरुष के प्रति प्रीति का बड़ा बखान है। अपने कई असाह्य तर्कों के साथ चन्द्रबली पाण्डेय ने अपने 'विचार विमर्श' में कबीर को 'निर्दीक' या आजाद सूफी माना है। उनके मत में कबीर वेश्या पुत्र थे। 'हैं रारयो रामनिया नाउ।' पूरविला भरतार आदि के उदाहरणों से चन्द्रबलीजी ने कबीर को 'लोह महफूज' में विश्वास करने वाला माना है। यह पर पुरुष रति परम पुरुष प्राप्ति के निकट का मार्ग माना जाता रहा और उसका जिक्र सभी संत कवियों में मिलता है। मराठी संत कवियों में एकनाथ और तुकाराम के भी ऐसे पद हैं जिनमें गोपी अपने आपको 'मैं निर्लज्जा हो गई' कहती है।

'सौरी झाले सौरी सये। बाइ! झाले त्याची नारी ॥' (ध्रुपद)

और

'सौरी झाली बाई! लागली सतापाया ॥'

सातवीं शती के तमिल कवि सम्बन्दर ने अपने एक पद में शिव को परम प्रेमिक और भक्त को प्रेमिका माना है—'पुगाई वृन तिल है। उसमें पत्नी है। प्रेम ने मुझ पर अपने स्पष्ट चिह्न अंकित किये। क्योंकि वह जिसने मेरा दुःख दूर किया, वही अनन्त दुःख छोड़ गया। सकाशनबुद्धि उसकी सुंदरी प्रिया है। और वहाँ उसका छोटा ग्राम रहता है'

वेदान्त का प्रभाव उमर खय्याम पर स्पष्ट हमें दिखाई देता है। खैय्याम ने तो यहाँ तक कहा है अपनी एक रुबाई में—'वे कहते हैं मुसलमान के लिये पीना उचित नहीं है। मैं पूछता हूँ मुसलमान को मैं कहाँ खोजूँ ?'

सूफियों ने ईरानी-दर्शन के धर्म संशोधन को कूटनीतिक कारणों से बढ़ावा दिया। खलीफा मामून के जमाने में स्वयं को पाखंडी कह लेना एक फैशन बन गया। इसी से उसे 'अमीरिल् काफिरिन' कहते। उनके मोतजला सम्प्रदाय ने सब चीजों पर सन्देह किया, धर्म की त्याज्य बातों का उपहास किया। 'इख्वान उस्साफा' ने ज्ञान संग्रह का कार्य किया। उसके इक्कावन प्रबन्धों का

सूफियों पर बडा प्रभाव पडा है। सगुणोपासना, अवतार, पुनर्जन्म, पुनरागमन आदि बातों के बीज मानों ईरान के रक्त में थे। जरा अनुकूल संधि मिलते ही हलुल्लिया, तनसुखिया, गजदकिया, खदिया, खुर्रमिया आदि रूपों में वह बार बार आगे आता रहा। आबू मुसलिम, बिहाफरीद, अलमुकाना, बाबक, सिबाद, अल हल्लाज, अब्दुल्ला, मैमून आदि 'प्रेषितों' का इतिहास यही बतलाता है कि बार बार सिर कुचले जाने पर भी अवतारवादि तत्त्वों का पुनर्निर्माण होता रहा। इन सब पंथों का उद्गम खुरासान से हुआ। अब काज़िनी ने 'अजरुल बिलाद' में इस स्थान को सन्तभूमि कहा है।

उमरखय्याम की भावभूमि पर अद्वैतवाद का बड़ा प्रभाव है। जब वह लिखता है

> 'The drop wept for his severance from the sea
> But the sea smiled, for, 'I am all,' said he,
> Yea, God is all in all, there's none beside,
> But one point circling seems diversity'

प्राय इसी तरह की कल्पना महाराष्ट्र कवि सन्त ज्ञानेश्वर ने की है 'गंगा का प्रवाह समुद्र से जा मिलता है, पर राह में किनारे के पेड़ों का सिंचन भी करता है।' (ज्ञानेश्वरी १६-१९९)

प्रो० निकोल्सन ने सूफीवाद पर एक मार्मिक ग्रन्थ लिखा है। उनके अनुसार सूफी सन्त आरम्भ में तपस्वी थे और उन पर ईसाई धर्म का बड़ा प्रभाव रहा है। उन्होंने 'ज्ञानवादियों से दैवी शक्ति के आभ्यन्तरिक ज्ञान की दीक्षा ली और बौद्धों से माला की। सूफियों के चार विधान थे (१) यात्रा, (२) आलोक और आनन्द ('स्वीटनेस एण्ड लाइट' से साम्य देखिये), (३) ज्ञान, (४) दैवी प्रेम। इस प्रकार से सूफियों में दो बातों की मान्यता बहुत स्पष्ट है (१) परमतत्त्व चित्स्वरूप है, (२) जगत् आभास मात्र है। यही बात जायसी ने भी कही थी

'देखि एक कौतुक हौं रहा, रह अंतरपट पै नहिं अहा।' इत्यादि।

निर्गुण सन्त कवियों की एक बात और थी। वे साधना पक्ष पर अधिक

ज़ोर देते थे। वे वर्ण-भेद भी नहीं मानते थे। उनके लेखे उपनिषद् की यह बात बहुत अर्थ रखती थी—'न मेधया, न बहुधा श्रुतेन। नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य।' नरसी मेहता का यह पद इसका साक्षी है

'ज्यों लगी आतमा तत्व ची यो नहिं त्यां लगी साधना सर्व जूठी।'

और उसी पद में

'शु थयु वेद व्याकरण वाणी वद्या, शु थयु राग ने रंग जाण्ये ?
शु थयु खट दरशन सेव्या थकी, शु थयु वरणना भेद आण्ये ?

और यही बात तुकाराम ने अपने अभंगों में बहुत खोलकर कही है

पवित्र तें कुळ, पावन तो देश, जेथ हरीचे दास जन्म घेती।
कर्म-धर्म त्याचे जाला नारायण, त्योचनि पावन, तिन्ही लोका॥
वर्ण-अभिमान कोण जाले पावन, एस द्या सागून, मजपाशी।
अन्त्यजादि योनी तरली हरिभजन, तयाची पुराणे भाट झाला॥



अध्याय ५

प्रस्तुत प्रबन्ध की विवेचन-पद्धति

जसा कि प्रथमा गाय से विन्ति होगा, इस तुलनात्मक अध्ययन द्वारा मराठी और हिन्दी भाषाओं के साहित्य म जो निर्गुण गत-दा य मिलता है उनम विशेष रूप से साम्य दर्शन कराना उद्दिष्ट है। तदगोपान्त उन कवियों पर जा प्रभावादि हुए हैं उनका भी उल्लेख आवश्यक हो जाता है।

अत, हमारे विवेचन का आधार मुख्यत वस्तुनिष्ठ तथ्य सकलन तथा उनम सम्बधस्थापन करना है। सत्यशोधन की विशुद्ध इच्छा इसक मूल म है। अत किसी भी भाषा, जाति, सम्प्रदाय अथवा प्रदेश का मिथ्याभिमान यहाँ वाछित नहीं है। सत्य को शुद्ध रूप में न देखने देने वाली वृथा भावुकता और मिथ्या अतीत-गौरवाभिमान अथवा अर्थशून्य अतीतादर को यहाँ स्थान नहीं दिया गया है। सबसे पहले इस खण्ड में हमने विषय मर्यादा और मूलभूत परिभाषाओं का प्रश्न उठाया है। कोई भी ज्ञान विषय अन्य ज्ञान-विषयों से कटा हुआ नहीं होता। यहाँ तक कि परमज्ञान का जो विषय निरुपाधिक निर्गुण ब्रह्म है उसका भी विचार जीव जगत् के दृष्टिकोण से सापेक्षभाव से किया जाता है। इसलिये यद्यपि हमारा विषय है साहित्य और उसमें भी दार्शनिक विच्छित्तियुक्त काव्य, तथापि उसके अध्ययन में साहित्य जिस देश काल परिस्थिति में निर्मित हुआ, उस अनुबध का सम्यक विचार, साहित्य निर्माता की मानसिक स्थिति अर्थात् उसके मनोलोक की रचना पर होने वाले विभिन्न चिन्तन परम्परागत सस्कार, उस व्यक्ति और उसके सामाजिक परिपार्श्व के बीच के सम्ब ध, जो कि सघर्ष अथवा समन्वय अथवा दोनों के परस्पर सघात से निर्मित एक तीसरे ही प्रकार की गतिविधि के होते हैं, इन सबके सम्मिलित प्रभाव आदि का वैज्ञानिक विवेचन अपेक्षित है। उसी प्रसग में दर्शन, इतिहास (धर्मेतिहास, समाजेतिहास आदि),

मानवविज्ञान, मनोविज्ञान और साहित्य शास्त्र की आधुनिक कसौटियों का आधार ग्रहण करते हुए चलना आवश्यक है। अन्यथा हमारा विवेचन आधुनिक और मौलिक नहीं होगा।

सबसे पहले निर्गुण सन्त काव्य को परिभाषित किया गया। सन्तों के सामाजिक कार्य तथा दार्शनिक रोमांटिक परम्परा भी बतायी गयी। उसमें विस्तारपूर्वक वेद, उपनिषद्, षडदर्शन, वैष्णव शैव शाक्त बौद्ध मतों का और विभिन्न भारतीय भाषाओं के आरम्भिक रचनाओं का तुलनात्मक तथ्य संकलन प्रस्तुत किया गया। विभिन्न पुस्तकों से और लेखों से इस विवेचन के लिए उपयोगी उद्धरण और सन्दर्भ भी दिये गये। और उनमें से जहाँ विदेशी प्रभाव, विशेषतः मुस्लिम आक्रमण और उसकी प्रतिक्रिया का प्रश्न है, सूफीमत और भाषाविज्ञान का भी सहारा लिया गया है। आरम्भिक खण्ड में केवल कुछ प्रश्न और विचारसूत्र उठाये गये हैं जिनका कि विस्तारपूर्वक विवेचन, आगे जहाँ उसका प्रसंग आयेगा, किया जायगा।

'निर्गुण' शब्द का विवेचना अधिक नहीं की गई क्योंकि जहाँ एक ओर सगुण निर्गुण में भेद न करने वाली एक मतधारा है, वहाँ दोनों से परे मर्मियों और सन्तों की रहस्यानुभूति थी ऐसा भी माना जाता है। सतीशचन्द्र विद्याभूषण जिसे हिन्दुस्तान का अरिस्टाटल कहते हैं उस बौद्ध नैयायिक नागार्जुन ने कहा था —

> शून्यमिति न वक्तव्यम् अशून्यमिति वा भवेत्।
> उभयं नोभयं चेति, प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते॥

उसी प्रकार से कबीरदास ने बाद में कहा

'सगुण निर्गुण से परे कबिरा देखा नूर।' और ज्ञानेश्वर ने भी अपने अभंगों में कहा है

> निर्गुणाची वार्ता सगुणा माडली। सगुण निर्गुण दोन्हीं एकरूपा जाली।
> सगुण नव्हे तें निर्गुण नव्हे। गुरुमुखें चोजवे जाणीतले पां॥[१]

---

[१] ज्ञानेश्वरमहाराजांच्या अभंगांची गाथा (दामोदर सावळाराम यण्ड कंपनी, १९०६), पृष्ठ–१८४।

अर्थात 'निर्गुण की बातों सगुण के रूप में रखो। सगुण निर्गुण दोनों एक रूप में आये। सगुण नहीं है वह निर्गुण भी नहीं। गुरुमुख से यह समझ जाना।' परन्तु वही ज्ञानेश्वर अन्यत्र कहते हैं

'निर्गुणींची छाया सगुणा विरली। तत्त्वीं तत्त्वें गेली अनुव्याप्या॥
निश्चळीं निश्चळ न लगे अनुमान। तत्त्वता आहे ते वगळ्ची'॥[1]

भावार्थ—'निर्गुण की छाया सगुण में विरत हुई। और तत्त्व में तत्त्व अनुव्याप्ति हुए। निश्चल में निश्चल का अनुमान क्या लगता है? तत्त्वता वहाँ है? वह अन्यत्र ही है।'

अब तक के विवेचन में 'निर्गुण' के पीछे की ज्ञान परम्परा और दार्शनिक विचार शृंखला का सकेत मात्र किया गया है। निरीश्वरवादी ईश्वरकृष्ण का सांख्यकारिकाओं में एक गीति थी, जिस पर गौडपाद का भाष्य है, परन्तु बाद में वह कारिकाओं में से हटा दी गयी ऐसा लोकमान्य तिलक ने गीतारहस्य उर्फ कर्मयोग शास्त्र[2] में कहा है। वह गीति यों है —

कारणमीश्वरमेके ब्रुवते काल परे स्वभाव वा।
प्रजा कथ निर्गुणतो व्यक्त काल स्वभावश्च॥

यहाँ निर्गुणत्व का उल्लेख है। वैसे उपनिषद् और वेदान्त में तार्किक तक इस शब्द का काफी उपयोग हुआ है। उसका स्थान स्थान पर पूर्व विवेचन में इंगित है।

अब आगे के विवेचन में हम मराठी और हिन्दी दोनों भाषाओं के निर्गुण सत-काव्य को निम्न उपशीर्षकों में विभाजित कर देखने का यत्न करेंगे

१ विशेषताएं
२ परम्परा
३ दार्शनिक विश्वास और मान्यताएं
जीव, जगत् और परमतत्व की परिकल्पना
४ निर्गुण कवि विशेष

---

१ वही, अद्वैत पर अभग, पृष्ठ-२४३।

२ पृष्ठ-१६०, नोट।

५ उनके द्वारा प्रयुक्त प्रतीक और संकेत

६ लोकोत्तर अभिव्यंजना की प्रवृत्ति

७ उनका रहस्यवाद और प्रभाव

इन दोनों भाषाओं के जिन प्रमुख कवियों का विचार होगा उनकी काल क्रमानुसार नामावलि इस प्रकार है —

मराठी

नाम	तिथि
१ चक्रधर	११९३ से १२७२ ई०
२ नरेन्द्र	१२४३ ?
३ अन्य महानुभाव	१३वीं से १५वीं शती
४ ज्ञानेश्वर	१२७५ १२९७ ई०
५ नामदेव	१२७० १३५० ई०
६ एकनाथ	१५३३ या १५४८ ? से १५९९
७ महाराष्ट्र के अन्य वारकरी सन्त	१३वीं से १५वीं शती

हिन्दी

नाम	तिथि	स्थान
१ रामानन्द	१४०० से १४७० ईस्वी	दक्षिण भारत
२ पीपा	१४२५ —?	
३ कबीर	१४४० १५१८	काशी
४ रैदास	१४७० —?	?
५ सेना	१४७० —?	रीवा
६ नानक	१५००	पंजाब
७ दादू	१५७५	राजपूताना
८ लालदास	१६००	अलवर
९ सतनामी	१६००	नरनाल
१० बाबालाल	१६२	देहानपुर
११ मलूकदास	१६३०	कड़ामणिकपुर
१२ सुन्दरदास	१६५३ १७४६ संवत्	काशी

१३ नीरमन	१६७८	दिल्ली
१४ चरणदास	१७३०	"
१५ शिवनारायण	१७३४	चन्द्रवारा, गाजीपुर
१६ गरीबदास	१७४०	रोहतक
१७ रामचरण	१७ ०	शाहपुरा(राजपुताना)

तत्पश्चात् दोनों भाषाओं के निर्गुण सत काव्य क चिन्तन का सामान्य गुण दोषात्मक विवेचन देकर, दोनों की अभिव्यजना और अनुभूतियों के बीच साम्य तथा अन्तर का विमर्श होगा। चक्रधर आर ज्ञार की तुलना, दोनों भाषाओं में लिखने वाले नामदेव का अध्ययन, गीति रचना तथा पारिभाषिक शब्दावली का विशेष विवेचन करके अन्त म यह धारावर्ती सूख गयी इसका कारण भी भाषा होगी।

यह सक्षेप में आगे के विवचन की एक रूपरेखा मात्र है। इसस स्पष्ट ह कि हिन्दी और मराठी के अनेकानेक उद्धरण दिये जायगे और विस्तार से प्रत्येक बात का विश्लेषण होगा। इस प्रकार के तथ्योद्घाटन म बहुत बार यह आक्षप किया जाता हे कि अन्यों के वाक्यों के कई अश देने में लेखक का अपना स्वय का मत ओझल हो जाता है, या कि विश्लेषण की सूक्ष्मता मे सारा का सारा प्रभाव कई बार मन के सामने से हट जाता है। परन्तु दोनों ही आक्षप निराधार ह, चूकि अध्ययनकर्ता या अनुसधित्सु की दृष्टि का अन्त सूत्र सर्वत्र विद्यमान रहता ही है। वह जो अश प्रस्तुत करता है, उस सकलन के पीछे विशेष दृष्टिकोण, एक विचार सरणि सदा उपस्थित रहती हे। दूसरी बात खण्ड के फेर में सपूर्ण को भुलान का यहाँ डर इसलिये नहा हे कि तुलनात्मक समीक्षा में यह व्यापकता भुलाइ ही नहीं जा सकती। वही तो इस विवेचन की विशेष 'व्याप्ति' है।

इस विवेचन में सहायक ग्र थसूची परिशिष्ट मे दी गयी हे। यद्यपि वस्तुत ऐसी सपूर्ण सूची बना पाना सभव नही ह। हमारे विचार हमारे अनेक ग्रन्थों के अध्ययन का परिपाक होते हे। और उनमें से विशेष बीज मूल या उत्स खोज निकालना सुदरवन की गगा में या भृगुकच्छ की नर्मदा में उसके मूल की तरगें पाने के विफल प्रयास की तरह हे।

इस प्रकार से आगे का विवेचन पहले दोनों भाषाओं का स्वतन्त्र तथा बाद में तुलनात्मक ऐसे तीन खण्डों में होगा। अंतिम खण्ड उपसंहारात्मक है। तुलना का अर्थ ही गुणदोष सापेक्ष भेद निदर्शन है। रहस्यवाद किसी एक भाषा या प्रदेश का, यहाँ तक कि राष्ट्र का भी अपना विचार दर्शन नहीं होता। वह एक विश्व व्याप्त प्रवृत्ति है। अतः तुलनात्मक अध्ययन में स्थान स्थान पर अन्य प्रादेशिक भाषाओं के और विदेशी साहित्यों के भी उल्लेख आते जायेंगे जो अनिवार्य हैं। अब ज्ञान सीमित, संकुचित खंडों में बँटा हुआ नहीं रहा। वह विश्व व्यापी कल्पद्रुम है। उस महान् वटवृक्ष की शाखाओं से और न्यग्रोध बनते हैं। परन्तु सबका मूलबीज बहुत छोटा सा परन्तु एक ही है। उपनिषत्कालीन ऋषि का यह दृष्टान्त यहाँ बहुत सही है जब दिक् काल के बंधन कम कम होते जा रहे हैं।

—०—

खण्ड ३

विषय-सूची

अध्याय १

विशेषताएँ

महाराष्ट्र में निर्गुण काव्य की परम्परा खोजने से पहले उसके आसपास के प्रान्तों में अर्थात् तमिलनाडु, आन्ध्र और कर्नाटक में इसकी परम्परा का पता लगा लेना तर्कसंगत होगा, तभी 'भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द' वाली बात सार्थक होगी। यही रामानन्द उत्तर भारत में आकर बनारस में कबीर आदि के गुरु हुए और यही श्रीपाद रामानन्द ज्ञानेश्वर के पिता के गुरु थे, ऐसा प्राध्यापक रा० द० रानडे का मत है[1]। रामानन्द करीब १४०० से १४७० इस्वी तक रहे और ईस्वी १४३० से वे बनारस में प्रचार करने लगे। रामानन्द अपने भक्ति पंथ में बैरागियों को, अछूतों को और हिन्दुओं को भी ले गये। उन्होंने मूर्तिपूजा पर टीका टिप्पणी की, परन्तु मूर्तिपूजा का सीधा विरोध नहीं किया। एफ० ई० के० के अनुसार जात पाँत न मानना रामानन्द पर मुस्लिम प्रभाव का द्योतक है[2]। रामानन्द के गुरु का नाम राघवानन्द था। किसी अनुशासनसम्बन्धी विषय पर गुरु से मतभेद हो जाने पर वे अपना सम्पत्तिशाली मठ त्याग कर उत्तर भारत की ओर चल दिये। सच पूछा जाय तो मध्ययुग की समग्र स्वाधीन चिन्ता के गुरु रामानन्द ही थे[3]। परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार रामानन्द का जन्म सं० १३५६ और निर्वाण सं० १४६७ में हुआ। वे कान्यकुब्ज थे और प्रयाग में जन्मे थे। उन्होंने विशिष्टाद्वैत राघवानन्द के शिष्य होने पर अपना 'रामावत सम्प्रदाय' चलाया।

---

१ मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, पृष्ठ-१९, (आर्यभूषण प्रेस, आफिस पूना, १९३३)।

२ कबीर एंड हिज फालोअर्स, पृष्ठ-५ (रिलीजस लाइफ आफ इण्डिया सीरीज, आक्सफोर्ड १९३१)।

३ हिन्दी साहित्य की भूमिका भक्तों की परम्परा, पृष्ठ-४७ (हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई, १९४०)।

उनके हिन्दी पद्यों में से केवल दो उपलब्ध हैं और उनमें भी एक सिक्खों के 'आदिग्रन्थ' में संगृहीत है[1]। उसी में ये दो पंक्तियाँ हैं जो स्पष्टतः निर्गुणवाद का द्योतन करती हैं :

एक दिवस मन भई उमंग
घसि चोआ चंदन बहु सुगन्ध।
पूजन चाली ब्रह्म ठाइ,
सो ब्रह्मु बताइउ गुरु मनही माहि।

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने 'भारतीय मध्ययुगेर साधना' में हरिहरदास की हरिभक्तिप्रकाशिका का एक उद्धरण लिया है, जिसमें रामानन्द के वर्णाश्रम के बन्धनों को व्यर्थ मानने की बात स्पष्ट लिखी गयी है। 'सभी परमेश्वर के सनाथ भाई भाई हैं, सभी एक जाति के हैं, श्रेष्ठता भक्ति से होती है, जाति से नहीं[2]।'

इस कारण रामानन्द की परम्परा में सेना नाई, रैदास चमार, कबीर जुलाहा, धन्ना जाट, पीपा राजपूत और भवानन्द, सुखानन्द, आशानन्द, सुरसुरानन्द, परमानन्द, महानन्द, श्रीआनन्द आदि हुए। इन सारी नामावली में 'सेना नावी' महाराष्ट्र सन्त साहित्य में भी मिलता है। उसके सम्बन्ध में और जानकारी बहुत कम मिली है। सिर्फ वह बीदर शहर का था और नाई का काम करता था, यह अन्तःसाक्ष्य है[3]।

महाराष्ट्र के निर्गुण सन्तों में यह जातिभेद का न होना और जाति-भेद, वर्ण-व्यवस्था की निन्दा यह पहली बड़ी विशेषता है। इसके ऐतिहासिक कारण हैं। 'महायान बौद्ध धर्म की उत्पत्ति' लेख में[4] राहुल सांकृत्यायन ने कहा है कि 'बुद्ध के जीवन में ही उनके शिष्य गन्धार, गुजरात (सूनापरान्त), पैठन (हैदराबाद राज्य) तक पहुँच चुके थे। ... शुंगों और काण्वों के बाद

---

१ सन्तकाव्य, पृष्ठ-१५४-१५५ (किताबमहल, १९५२)।

२ रामानुज हरिहरदास की भक्तमाल की टीका, पृष्ठ-८१-८२।

३ सन्तकाव्य-समालोचन खण्ड-१, अध्याय-७, पृष्ठ-१५९-१७७। (श० न० जोशी, चित्रशाला प्रेस, पुणे, १९३९)।

४ गङ्गा, पुरातत्त्वाङ्क, पृष्ठ-२०८।

मौर्य या आन्ध्र-भृत्य सम्राट हुए। इनकी सर्वपुरातन राजधानी प्रतिष्ठान (पैठण) महाराष्ट्र था। पीछे पैठण के इन शातवाहनों का शकों से भी विवाह-सम्बन्ध हुआ। ये अपने देश के नाम पर रट्ठिक (राष्ट्रक) या महारट्ठिक भी कहते थे। पीछे नाटकों में शक या शकार के लिए 'रट्ठिअ साल' (राष्ट्रिय स्याल) शब्द प्रयुक्त होने का यही कारण था। रट्ठ या महारट्ठ नाम पड़ने से पूर्व पैठन के आसपास का प्रदेश अन्धक कहलाता था।' अन्धक साम्राज्य में महासाधिकों और धर्मोत्तरीय के होने का कार्ला[1] और नासिक की गुहा लेखों में पता लगता है। अन्धकों के कुछ ७२ सिद्धान्त थे, जिनमें से १० दूसरों के सम्मिलित किये गये थे। स्थविरवादी महाशासक २, सर्वास्तिवादी १ और सम्मितीय ८ ने, ऐसा 'कथावत्थु' में खण्डित सिद्धान्तों से पता लगता है। 'बुद्धपिटक' में अन्धकों को 'रत्नकूट' तथा अन्य शास्त्रों के रचयिता बताया गया है।[2] मरहट्टा पुराना जनवाचक शब्द है। संस्कृत नाटकों में 'मरहट्ठ' उसी अर्थ में आया है। कुछ लोगों के अनुसार जोधपुर के 'महाराठोड' से इसका सम्बन्ध है। परन्तु यह बहुत बाद की बात है। वस्तुतः शालिवाहन या शातिवाहन (आजकल के मराठे साळवे, सुर्वे उपनाम) पैठण में राज करते थे जब नन्द मगध में राज्य करते थे। दंतकथा है कि शालिवाहन और विक्रम की लड़ाई हुई और अन्त में विन्ध्याचल के ऊपर विक्रम अपना संवत चलाने लगा और नीचे शालिवाहन। विक्रम संवत् और शालिवाहन 'शके' के बीच १३५ वर्षों का अन्तर था, इस तर्क का उत्तर यह है कि विक्रम के दो संवत् थे। राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर में चलने वाला विक्रम शक शालिवाहन शक के समान है। यह हर्ष विक्रमादित्य (उज्जयिनी नरेश, जिसने कश्मीर जीता) का शक होना चाहिए। इस शककाल का शकों के आक्रमण से कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि वृद्ध गर्ग के नाम से वराहमिहिर ने एक आर्या दी है—'षड्द्विकपंचद्वियुतः शककालस्तस्य राज्ञश्च'[3] (अर्थात् युधिष्ठिर का शककाल २५२६ वर्ष था)। वैसे तो जैसलमेर के राजा और भावनगर के राजा भी

१ एपिग्राफिका इण्डिका, भाग-७ पृष्ठ-५१, ६४, ७० ।

२ 'अन्धका रत्नकूटादिवृ शास्त्रान्तर रचना करन्ह' (निकायसंग्रह, सीलोन सरकार का मुद्रण, १९२२)।

३ बृहत्संहिता।

अपने आपको शालिवाहन का वंशज मानते हैं। बाद का मगध राजा गौतमीपुत्र 'शातवाहनकुलयशःप्रतिष्ठापनकर' और सप्तशती का कर्ता शालिवाहन भिन्न है। भवभूति[1] और राजशेखर[2] महाराष्ट्र के कवि थे। भारवि ने सह्याद्रि का उल्लेख किया है। बारहवीं सदी में जाकर देवगिरि के कृष्णदेव का पिता जैत्रपाल मराठी के आदिकवि मुकुन्दराज का आश्रयदाता बना। ज्ञानेश्वर ने अपने ग्रन्थ के अन्त में 'यदुवंश विलास' रामदेवराय का सम्मान पूर्वक उल्लेख किया है। कुछ मराठे अपने नामों का निर्वचन कुछ राष्ट्रकूट नामों से करते हैं, यथा नल से 'नलोड' (जयपुर के नलवंशी राजपूत), मौर्य से 'मोरे', कदम्ब से 'कदम', यादव से 'जाधव' आदि। शालिवाहन वंश की समाप्ति शालिवाहन शक की चौथी शती में हुई और प्रतिष्ठान नगरी का सूर्य भी उसी समय ढल गया। उसी समय राष्ट्रकूट आगे आये। वे पहले 'चेर' देश के सूबेदार थे, और 'रेड्डि' वंश के थे। उनके नाम भी राष्ट्रकूट वंश के राजाओं की तरह ही हैं। ये मूलतः तेलगी थे। रेड्डी का राष्ट्र और महा उसका विशेषण रहा होगा, ऐसी भी एक व्युत्पत्ति है। 'महारथ' से महाराष्ट्र, 'सुरथ' से सौराष्ट्र ऐसी भी एक व्युत्पत्ति कही जाती है।

'मराठों की प्राचीन सामाजिक दशा'[3] का विचार करने पर भी यही अनुमान किया जाता है कि मूलतः महाराष्ट्र में जातिभेद इतना जकड़बंद नहीं था। मराठों की 'गाँवगन्ना' व्यवस्था थी, जिसके अनुसार लड़ाई करनेवाले और लिखनेवाले छोटा हर गाँव में थे और बाकी सब काम 'बलुतेदारों' पर सौंपा था। लड़ाई करनेवाले 'राव' थे और लिखनेवाले 'परबु'। 'ब्रायु' एक तेलुगु धातु है, कानडी में भी वह प्रचलित है 'बरी' नाम से, गोंवा की भाषा में उसे बेरी कहते हैं। हर पेंठ में बारह बलुते होते थे, और साथ में उतने ही अलुत भी।

---

१ विदर्भ के पद्मपुर में जन्मा, कन्नौज के यशोवर्मा का आश्रित था।

२ राजशेखर का गोत्र 'यायावर' था। वह 'महामन्त्रिपुत्र' था और अपने आपको 'महाराष्ट्रचूडामणि' कहता था।

३ विविधज्ञानविस्तार, १८८६ (पुस्तक १८, अङ्क ११-१२)।

बारह बलुत इस प्रकार से थे—

पहली कास	दूसरी कास	तीसरी कास
१ सुतार	५ कुंभार (कुम्हार)	९ भाट (पोवाडे गानेवाले)
२ लोहार (लुहार)	६ चाभार (चमार)	१० तेली
३ महार	७ परीट (धोबी)	११ गुरव
४ माग	८ न्हावी (नाई)	१२ कोली

और बारह अलुते—

१ तांबोली (तमोली)	७ शिपी (दर्जी)
२ साली (जुलाहा)	८ गोंधली (देवी के नाम से नाचने और भिक्षा मागने वाले)
३ माली	९ रामोशी (गश्तवान, जासूस)
४ घडशी (बाजा बजानेवाले)	१० खाटीक या मुलाणे (कसाई)
५ तराल (बाजेवाले के साथ सुर[1] लगानेवाले)	११ डवरया (भैरव के नाम से भिक्षा मागनेवाले)
६ सोनार (सुनार)	१२ कलवत (वेश्यापुत्र, गायक)

इन चौबीस जातियों में धर्म से सम्बन्ध रखनेवाले भाट (भट्ट भट भटजी) पुजारी बलुते और गोंधली, डवरया अलुते थे। गाँव के ऊपर के 'कुला' में और 'पट्टेकरी' (पट्टीदार) में कई आडनाव (उपनाम) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वेश्यों में जो एक से मिलते हैं वे इस बात के साक्षी हैं कि वर्णव्यवस्था पहले कड़ी नहीं थी। ये नाम हैं कुलकर्णी, देशमुख, देशपांडे, पांडे, पाटील, देसाई, चौगुले, चौधरी, पेठे आदि। राव यह नाम के साथ जुड़नेवाला आदरार्थी 'राय' 'राज' का रूप ब्राह्मण मराठे दोनों ही लगाते रहे हैं। जैसे कि आगे

[1] 'कलवतीण' गाँव का नृत्याङ्गना थी। उसके पुत्र को 'कलवत' बाद में कहने लगे। पहले वह गायक के अर्थ में था। मराठों के पुराने वाद्य थे 'सूर', 'सनई' और 'समेल' या 'सबल'। 'पडघी' और 'धूम' मिलकर 'समेल' बनता है। 'समेल' बजानेवाले को 'समेल्या' कहते हैं। टिमकी, पावा, तुतारी (तुरही) भी इन्हीं वाद्यों जैसे हैं। 'तुणतुणे' (एकतारे जैसा वाद्य) और 'डफ' लोकगीतों के साथ प्रयुक्त बहुत प्राचीन वाद्य हैं। पखवाज बहुत बाद में आया। इसे मराठी में पखावज कहते हैं।

महाराष्ट्र के हरिजन संतों का विवरण हम देंगे, उससे पता लगेगा कि वारकरी पंथ ने कितना बड़ा काम किया। ज्ञानेश्वर ने कहा है कि 'स्त्रीशूद्रादि प्रतिमे। सामाविले'।[1] वहाँ शास्त्रप्रामाण्य और जन्मगत जातिपरम्परा की अवहेलना करके भक्ति का मार्ग सबके लिए खुला करने का साहस उन सन्तों ने किया। सेना नाई ने इसीलिए कहा—'जडजावा उद्धार केला। मार्ग सुपथ दाविला॥'[2] और नामदेव ने कहा—

निर्गुणीच वैभव आले भक्तिमिषें। ते हें विठ्ठल वेषें ठसावलें॥
नामा म्हणे आम्हां अनाथांलागुनी। निढळ नयनीं वाट पाहे॥

[अर्थ—निर्गुण का वैभव भक्ति का मिस बनाकर आया। वही 'विट्ठल' के वेश में हृदय पर जम गया। नामा कहता है—हम अनाथों के लिए अभय (अनुग्रहपूर्ण) दृष्टि से राह देखता है।][3]

यद्यपि आरम्भ में यह कहा गया है और 'महावंश' से जाना जाता है कि बौद्धों का मतप्रसार महाराष्ट्र में बहुत प्राचीन काल में हुआ, फिर भी मराठे मूलतः शैव ही थे। शिव की कल्पना 'सूर्य' से निकली या हिमालय से, इस विवाद की यहाँ आवश्यकता नहीं। 'लिंग' और 'पिंडी' (मराठी में पीठिकार्थी रूढ़ शब्द) सूर्य और आकाश के लिंग जान पड़ते हैं। जैसे आकाश में सूर्य वैसे पिंडी में लिंग। द्रविड़ भी सब शैव थे। इसीलिए दक्षिण में लिंग पुजारियों को सब 'गुरव' कहते हैं। शैवमत का प्रभाव मराठी निर्गुण सन्तों पर विशेष रूप से है। इसका और शाक्त प्रभावों का विस्तृत विवेचन अगले अध्यायों में है।

प्राचीन महाराष्ट्र में बौद्धों की अपेक्षा जैन प्रभाव अधिक रहा, यद्यपि बौद्ध जैन दोनों ही प्रभावों को बाद के ब्राह्मणों ने आत्मसात् कर लिया। महाराष्ट्र के प्राचीन शिलालेख सब जैनियों के हैं। गोतमेश्वर (श्रवणबेलगुल) के नीचे का 'चामुण्डराये करवियेले' यह प्रथम मराठी शिला लिखित वाक्य है।

१ ज्ञानेश्वरी, १८, १६९९।
२ सकलसंतगाथा (आवटे), पृष्ठ–६७।
३ वही, पृष्ठ–३५।

जन लोगों ने कौल और 'देवस्की, मान्यताय आदि' शब्दों से सीखा। शिव और देवी को पहले मुर्गा चढ़ाइ जाती थी, भैरव को बकरा। मगर बाद में जैनियों के प्रभाव से यह बलि प्रथा बन्द हुई। ब्राह्मणों ने यह कौल मान्यताय आदि जनों से लीं। महाराष्ट्र 'देवस्की' में 'जना ब्राह्मणा' पाठ इसीलिये आता है। पश्चिम महाराष्ट्र में ब्राह्मणों ने जन मूर्तियों के बदले अपनी मूर्तियाँ स्थापित कीं। वाडी आदि स्थानों में दो प्रकार की पद्धियाँ अभी भी पायी जाती हैं। बौद्ध, जैन, ब्राह्मण तीनों ही योगी, तापसी, वैरागी, साधु, सिद्ध, सन्त, यतियों को एक सा मानने वाले थे। शालिवाहन शक की तीसरी चौथी शती के कदर्प वंश के राजाओं के जो लेख हैं, उन सब में 'जिन' का मंगलाचरण है। पद्मावती के शिलालेख में भी 'जिन' को आरम्भ में नमस्कार है। चालुक्यवंशीय रणराग के पुत्र पुलकेशी तक शालिवाहनों का कोई 'अश्वमेध' कहीं शिलालेखों में वर्णित नहीं है। पुलकेशी के पुत्र कीर्तिवर्मा और उसके बाद के मंगलीश ने ब्राह्मणों को ताम्रपत्र दिये। उसके भतीजे पुलकेशी द्वितीय ने ब्राह्मणों के साथ जैनों को भी आश्रय दिया, ऐसा शके ५०६ के शिलालेख से पता चलता है। बाद में राष्ट्रकूटवंश शुद्ध ब्राह्मणधर्मी बना। जैन मुनियों की कट्टरता के कारण धीरे धीरे वह श्रमण पंथ प्राचीन महाराष्ट्र में विलुप्त हुआ। महानुभावियों पर जैन दर्शन के पुद्गल आकाश कालादि तत्वों की सूक्ष्म छाया कह सकते हैं। वैसे मराठी सन्तों पर बौद्ध या जैन पंथों का कोई प्रभाव नहीं।

वैसे सबसे रहस्यमय है 'विट्ठल' विषयक कल्पना। १३वीं शती के चौंडरस कवि के 'अभिनव दशकुमारचरित' में यह शब्द आया है। 'ज्ञानेश्वरी' में विट्ठल या विठ्ठल सम्प्रदाय का कहीं उल्लेख नहीं है, परन्तु ज्ञानेश्वरी के अभंगों में विट्ठल नाम ही आता है, यह एक पहेली है। प्रो० रा० द० रानडे ने ज्ञानेश्वरी के बारहवें अध्याय से २१४ से २१८ ओवियाँ उद्धृत की हैं[1],

[1] म्हणोनि तो वरिष्ठ पार्था। माझिया भजना आस्था। तरी तयातें मी माथां। मुकुट करीं उत्तमांगी मस्तक। खालविन हें कायकौतुक। परी मातें करिती तिहीं लोकां। पायवणिया। तरी श्रद्धावस्तुसी आदरु। करिता जाणिजे प्रकारु। तरी होय श्री गुरू महाशिव॥ परि हे असो आतां। महेशातें वानितां। आत्मस्तुति होतां। संचार असे। ययालागीं हें नोहे। म्हणीतलें रमानाहें। अर्जुना मी वाहें। शिरीं तयातें॥

में ज्ञानेश्वर का एक कानडी पद्य दिया है, जिसमें विठोबा को कन्नड़ देवता बताया गया है।[1] या विठ्ठल सम्प्रदाय कर्नाटक में शुरू हुआ होगा, ऐसा भी एक मत है। पुरन्दरदास पाडुरगगड़ में रहता था। अचलानन्ददास के साथ आराध्य पढरपुर ले जा रहे थे। परन्तु वहाँ विठोबा का मंदिर वैष्णव होने से वे वहाँ नहा गये। भीमरथी में जब वे नहा रहे थे तो देखते क्या है कि वे विट्ठल मन्दिर के बिल्कुल मध्य में हैं। इसके बाद वे सब हरिदास हुए। हरिदासों की बारह पीढ़ियाँ मिलती हैं, जिनमें नरहरी तीर्थ सन् १३३१ में हुए। उनके पुत्र रगविट्ठल १४९२ में हुए। आगे तो नामों के पीछे विट्ठल पदवी लगाना कर्नाटक के हरिदासों का साधारण रिवाज हो गया। महाराष्ट्र के निर्गुणिये जैसे नामदेव भी विट्ठल को 'माउली' (माता) कहते हैं। डी० के० भीमसेनराव के अनुसार विष्णु का कन्नड में 'विठु' हुआ, महाराष्ट्रियों ने 'बा' प्रेमवाचक प्रत्यय उसे लगाया।

महाराष्ट्र के निर्गुण सतों की चौथी विशेषता यह है कि उन पर सूफीमत का प्रभाव बिल्कुल नहीं है। 'सूफीधर्म और भागवत' नामक लेख में न० र० फाटक[2] ने कुछ साम्य स्थल खोजे हैं, परन्तु वे सब बाद के हैं। वैसे तो अद्वैत दोनों में मूलत एक है और योग की प्रक्रियाएं भी बहुत सी एक सी है, जिनका विवेचन हिन्दी निर्गुण कवियों के प्रसग में किया जाएगा।

महाराष्ट्र के सन्तों को सूक्ति या दोहे या पदों से अधिक लम्बे प्रबधात्मक विवेचन, जैसे ज्ञानेश्वर का (अमृतानुभव) या एकनाथ के भागवत के अश, अधिक प्रिय हैं। खण्डन मण्डनात्मक, तर्कयुक्त, उत्प्रेक्षा रूपकादि का प्रयोग इन सन्तों ने अधिक किया है। जो व्यग्यप्रियता हिन्दी के निर्गुणियों में मिलती है, उसकी भी महाराष्ट्र के सन्तों में कमी है। अध्यात्म को ज्ञानयोग का अग मानकर उन्होंने अधिक ग्रहण किया है, उपासना का कम। इसीलिए प्रतीकों और अध्यवसित रूपकों का प्रयोग तो पर्याप्त मात्रा मे मिलता है, पर उलटबासियाँ और सन्धाभाषा कम है।

---

१ कानडा हो विठ्ठल कर्णाटकु।

२ प्रतिमा विशेषाङ्क १९३५।

महाराष्ट्र के निर्गुण सन्तों की विशेषताओं का यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया है। परन्तु विशेष विशद विवरण तो आगे होगा। 'रहस्य' को ग्रहण करने की प्रत्येक देश काल परिस्थिति के अनुसार कवि की अलग अलग पद्धति होती है। महाराष्ट्र की चिंतन परम्परा को समझने से महाराष्ट्र के निर्गुण संत काव्य का यह वैशिष्ट्य समझने में अधिक सहायता मिलेगी।

अध्याय २

परम्परा

चक्रधर महानुभाव, गोरक्षनाथ, वेदान्त तथा शैवोपासना

अ चक्रधर तथा महानुभाव

मराठी निर्गुण सन्त सम्प्रदाय की परम्परा के विचार में सबसे पहले महानुभावों का उल्लेख आवश्यक है। महानुभाव नाम कहाँ से आया, यह विद्वानों में विवाद विषय है। 'चक्रधरोक्त सूत्रपाठ' के सम्पादक हरिनारायण नेने के अनुसार यह नाम 'सूत्रपाठ' ग्रन्थ में कहीं नहीं मिलता। सूत्रपाठ में इस पंथ के जो नाम आये हैं, वे हैं 'मार्ग, महात्मा, प्रतीति पंथ, परमेश्वरशास्त्र, परधर्म, अच्युतगोत्रीय' आदि। पन्द्रहवीं सदी के बाद का त्र्यम्बक कवि 'भद्रा भागु' ग्रन्थ में इस पंथ का नाम देता है। अर्थात् चक्रधर ने केवल दर्शनपरक मूल सूत्र लिखे, जिनके आधार पर नागदेवाचार्य ने बाद में संगठन किया। महानुभावों के सात प्रमुख काव्य हैं, उनसे भी यही बात सिद्ध होती है। श्रीमद्भागवत के एकादशस्कंध[1] में हंसावतार ने ब्रह्मा को जो उपदेश दिया, उसके आधार पर इस पंथ के ग्रन्थ लिखे गये, ऐसा भी एक विश्वास है। 'पंचनाम' और 'पंचकृष्ण' प्रकरणों से यही व्यक्त होता है। इस पंथ के सात प्रमुख काव्य हैं, इनमें वत्स हरण, शिशुपालवध, उद्धवगीता, रुक्मिणी स्वयंवर (नरेन्द्र कृत) चारों कृष्ण कथा वर्णित करते हैं, 'ऋद्धपुरवर्णन' में दत्तात्रेय प्रभु की लीलाएं हैं और 'ज्ञानप्रबोध' में गीता के 'अमरनरत्व' आदि श्लोकों की टीका है।[2]

'दत्तात्रेय सम्प्रदाय का दार्शनिक मतवाद'[3] नामक लेख में महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज ने लिखा है—'गुरु दत्तात्रेय के सम्बन्ध में

१ हंसस्वरूप्यवददच्युत आत्मयोग
दत्त कुमार ऋषभो भगवान् पिता न ॥ श्रीमद्भा० अ०-४, श्लोक-१७।

२ ह० ना० नेने सूत्रपाठ उपोद्घात, पृष्ठ-१०।

३ कल्याण, भाग २४, संख्या-९।

पुराणादि में बहुत सी कथाए वर्णित हैं। वे अत्रि मुनि की औरत और कर्दम मुनि की पुत्री, कपिल मुनि की बहन अनसूया के गर्भ से भगवान विष्णु के अशरूप म अवतीर्ण हुए थे। वे विष्णु के छठे अवतार थे। निश्चय ही यह सत्य है कि विष्णु के सब अवतारों में इनका नाम नहीं आता। माघ (१४–७९) म लिखा है कि सम्प्रदाय विच्छेद होने के कारण जब सारी श्रुतिया नाश को प्राप्त हो गयीं, तब उनका स्मरण करके उद्धार करने क लिए 'अप्रतिहतस्मृति', 'अविनाशीविग्रह' दत्तात्रेय ने अत्रिगोत्र में ज म लिया। ब्रह्मपुराण (२१३। १०६–११०) में कुछ इसी प्रकार की बात मिलती है। हरिवश (१–४१) में, महाभारत (स० कुम्भकोणम ३४ पृष्ठ) में और विष्णुधर्म पुराण (१–२८) म इस बात का समर्थन प्राप्त होता ह। अहिर्बुध्न्य सहिता क मत स दत्तात्रेय वासुदेव या विष्णु क ३९ विभवों में से एक थे (५–५०)। श्रीकृष्णयामल तन्त्र में भी दत्तात्रय अवतार माने गये हैं।'

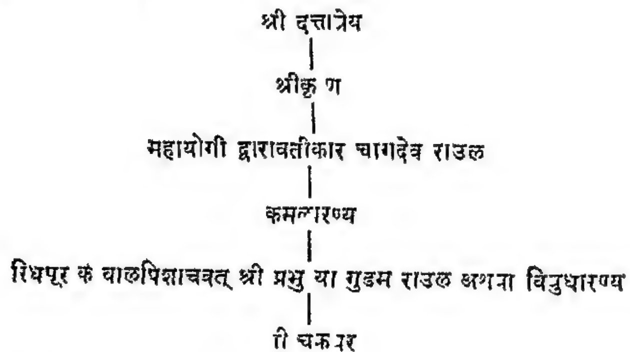
दत्तात्रेय ने अलर्क, प्रह्लाद, यदु, कार्तवीर्य प्रभृति को आन्वीक्षिकी अथवा आत्मविद्या प्रदान की।[1] अलर्क को उन्होंने आत्मा, योग, योगधर्म, योगिचर्या, योगसिद्धि और निष्काम बुद्धि का उपदेश दिया था, यह मार्कण्डेयपुराण[2] म वर्णित ह। ब्रह्मपुराण (अध्याय १४०–३२) म लिखा है कि उन्होंने अलर्क को अष्टांगयोग का उपदेश दिया था। दत्तात्रय शिव के उपासक थे। उनकी 'सोमनाथ' नामक शिव की स्तुति का वर्णन ब्रह्मपुराण (११७ वें अध्याय) म है। पिता की आज्ञा से वह गौतमीश्वर तीर्थ म जाते ह और वहाँ शिव की आराधना करते हैं। शिवजी प्रसन्न होकर उनको ज्ञान और मुक्ति प्रदान करते है और उस तीर्थ का नाम 'आत्मतीर्थ' रखते हैं। कथा प्रसिद्ध है कि गर्ग मुनि की आज्ञा से कार्तवीर्य भगवान् दत्तात्रेय के आश्रम में जाकर उनकी सेवा करते हैं। दत्तात्रेय उन्हें चार वरदान देते हैं। (१) युद्ध के लिए सहस्र बाहुओं की प्राप्ति, (२) सार्वभौमत्व और सुशासन, (३) अच्छे योद्धा के हाथ से मृत्यु और (४) धर्मोपदेश। दत्तात्रेय महायोगी थे। भागवत (६।८।१६) म उनको 'योगनाथ' कहा गया है। मार्कण्डेयपुराण (अध्याय–१७) म लिखा

१ श्रीमद्भागवत, अध्याय–१, श्लोक ३–८१।

२ अध्याय–३५–३८।

ह कि व कामविलास में मग्न होकर भी निर्विकार है, संसार में रहकर भी संसार से मुक्त रहते हैं और मत्त न होते हुए भी मत्त की भाँति आचरण करते हैं। इनको कई जगह मद्यप्रिय भी कहा गया है, परन्तु अवधूत गीता में मद्य और स्त्री की निंदा स्पष्ट अक्षरों में की गयी है। पराशर माधव के दूसरे अध्याय में माधवाचार्य ने 'अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्ति' कहा है। वे अवधूत परमहंस हैं। जाबाल उपनिषद् में उनको संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, रैवतक प्रभृति के समान अव्यक्त, निर्गमन तथा अव्यक्ताचार परमहंस कहा गया है। वे अद्वैतवादी थे, इसका उल्लेख नैषधकार श्रीहर्ष ने किया है।[1] भागवत के ११वें अध्याय में दत्तात्रेय के २४ गुरुओं का वर्णन मिलता है। अवधूत गीता और जीवन्मुक्ति गीता के उपदेष्टा के रूप में दत्तात्रेय प्रसिद्ध हैं। उसमें दत्तात्रेय के सिद्धान्त वर्णित हैं। इस नाम का एक और ग्रन्थ मिलता है। उस पर नीलकण्ठ चतुर्धर की 'प्रकाश' नाम की टीका है। एक अनाम लेखक का १६ अध्यायों का 'अद्वैतश्रुतिसार' ग्रन्थ मिलता है, जिसके प्रत्येक अध्याय के अन्त में एक पुष्पिका है। चौदहवीं शती में नरसिंह सरस्वती नामक ब्राह्मण सन्यासी ने दत्तात्रेय सम्प्रदाय चलाया। 'नरसोबाची वाडी' में उनका स्थान है। प्रचलित भाषा में नृसिंह सरस्वती के शिष्य गंगाधर सरस्वती ने 'गुरु चरित्र' लिखा।

महानुभाव या मानभाव दत्तात्रेय को अपना आदिगुरु मानते हैं। उनके अनुसार गुरुपरम्परा इस प्रकार से रही



[1] सन्तमद्वयमये ऽध्वनि दत्तात्रेयमर्जुनयशोऽर्जुनबाजम्।
नौमि योगजनितानघसङ्गं त्वामलर्कभवमोहतमोऽर्कम्॥ (नैषध २१-९८)

इन छ नामों में से कमलारण्य का नाम सह्य का ग्रों में नहीं मिलता। पचनाम मिलते हैं। चक्रधर की गुरुपरम्परा में दो नाम स्मरणीय हैं। द्वारावतीकार चांगदेव फल्टण के कन्हाड़े ब्राह्मण थे। वहाँ से ब्रह्मचर्य में प्रवृत्त होकर वे मातापूर माहूर में गये। वहाँ दत्तात्रेय से उन्हें 'शक्ति स्वीकार' हुआ। दत्तात्रेय व्याधक के रूप में आये[1] और उन्होंने श्रीमुकुट पर पजा रखा। जब च फल्टण से जा रहे थे, तभी उन्होंने कट्टर वैराग्य धारण किया था। काउरली की कामाख्या हठयोगिनी जब 'रतीचिया चाडा' (रति की तीव्र इच्छा से) आयी थी, तब सात दिन और रात वहाँ खड़ी रही, पर चांगदेव की तो ब्रह्मचर्य में प्रवृत्ति थी, इसलिए 'वान बाहर न किये' (मगौनि वाहरा वीजे न करिती)। अन्तत चांगदेव ने वह 'पुर' ही छोड़ दिया। कुछ कहते हैं कि योग सामर्थ्य से अपना शरीर छोड़ दिया। दूसरा महत्त्वपूर्ण उदाहरण श्रीकृष्णचरित्र के सम्बन्ध में है। पैठण में गणपति मठ में चक्रधर का अवस्थान था। 'महदाइसे' नामक स्त्री ने जब प्रश्न पूछा कि यादवों का इतना बड़ा श्रीकृष्ण था, तो यादव वंश का नाश कैसे हुआ? इस पर चक्रधर ने उत्तर दिया—'बाई! उद्धव को छोड़ और कोई श्रीकृष्ण को चक्रवर्ती मानता ही नहीं था। वे अन्य देवताओं के भक्त थे। जैसे सूर्य, सोम, वायु, अग्नि आदि। श्रीकृष्ण बार बार कहते थे 'शराब न पिओ, शराब न पिओ।' यादवों ने वह बात नहीं मानी। इसलिए उनका नाश हुआ, इसमें श्रीकृष्ण का क्या दोष?'[2]

ऋद्धपुरचरित्र (गोविन्द प्रभु) लीला ९ में कमलारण्य गुरु का उल्लेख है। जगन्नाथपुरी के गोवर्धनमठ आम्नाय पीठ के आचार्य के नामान्त में 'भोगवार सम्प्रदाया वनारण्ये पदे स्मृते' कहा गया है। द्वारावती में श्री गुडम राउल गये, उन्हें 'शक्तिसचार' हुआ, पर चक्रधर को दीक्षा किसने दी यह अभी तक अज्ञात है। चक्रधर ने संन्यास का, विषय वासना से उपरति का,

१ लीलाचरित्र एकाङ्क, पान प्रथम, लीला पहली।

२ लीलाचरित्र उत्तरार्ध पान ८६१, लीला ६९। मूल यों है —

बाइ श्रीकृष्ण चक्रवर्ती बारिन झाले मत्त द्रव्य न सेवागा मत्त द्रव्य न सेवागा ते श्रीकृष्ण चक्रवर्ती चे भणातलें न करातिचि आणि तव कवण चक्रवर्ती चा होता कव्हणी सूर्याचा कव्हणी सोमाचा कव्हणी वायूचा कव्हणी अग्नीचा एकु उद्धव वाचौनि'।

ज्ञान का मूल वैराग्य होने का, एषणा त्रय त्याग का, नित्यानित्यवस्तुविवेक का, मुमुक्षुत्व का, मोटे मोटे वस्त्र पहनने का बार बार उल्लेख किया है। स्त्रियों के विषय में मुक्ताचार का उन्होंने घोर विरोध किया। चक्रधर के ग्रंथ में जिन प्राचीन देवताओं और महापुरुषों के उल्लेख मिलते हैं, उनकी नेने ने सूची दी है।[1] 'विचारमालिका' १७३-१७४ में 'वज्राली सिद्धाली दियोली या चा हीओली नाथ चिया कलियुगा वज्रोली अमरोली आदि सिद्धौली नाहीं। हे च्यारही अष्ट भैरवाचे आगम वहियाग।' उल्लेख मिलते हैं जिनसे स्पष्ट है कि नाथपंथियों का और वज्रयान सिद्धों का प्रभाव उन पर कितना था। महानुभावों में दत्तात्रय और श्रीकृष्ण भक्ति के साथ साथ यह 'शक्तिसंचार' भी तांत्रिक प्रभाव से आया ऐसा जान पड़ता है। विचार और 'विचार मालिका' में निम्न सूत्र दिये हैं, वे तंत्रागम से तोलनीय हैं।[2]

'विचार' तथा 'विचारमालिका' में	तन्त्रागम
नाद बिन्दु कला ज्योति ला अवस्था आनन्दु आवेशु आगम ते सिद्धकृत। आपसी सा य साधनसाधकु ऐसी त्रिविध प्रतीति शाम्भवी साध्यसाधकु ऐसी द्वीध प्रतीति। शाभवी साध्य प्रतीति। आवशु अवस्था स्थिति। साजात्या साजा या वेधु। अशवेध सपूर्णाचि प्राप्ति। वेधु विद्या ज्ञान साधन धर्म। उभयान्वीक्षमाणे सत्ता सनिधिमात्र शक्ति सचरे याते अनयागु बोलिजे। वधोनि बोधिता का बौधोनि बोधिति वस्तु समन्धे शक्तिनिक्षेप। दृश स्पर्श आलापु अंत करण।	दर्शनात्स्पर्शनाच्छब्दात्कृपया शिष्यदेहके। जनयेद् य समावेश शाम्भव त हि देशिका ॥ यथा पक्षी स्वपक्षाभ्या शिशून्सवर्धयेच्छनै। स्पर्शदीक्षोपदेशस्तु तादृश कथित प्रिये ॥ स्वापत्यानि यथा कूर्मी वीक्षणेनैव पोषयेत्। दृग्दीक्षोपदेशस्तु तादृश कथित प्रिये ॥ यथा मत्सी स्वतनयान् ध्यानमात्रेण पोषयेत्। वधदीक्षोपदेशस्तु मनसा स्यात् तथाविधा ॥ शक्तिपातेन सयुक्ता विद्या वेदान्तवाक्यजा। यदा यस्य तदा तस्य, विमुक्तिर्नात्र सशय ॥

१ सूत्रपाठ उपोद्घात १३-१४, अष्ट भैरव, व्यास, वशिष्ठ, शुक, बलिभद्र, भीष्म, नृसिंह, इरभि, अदडीनाथ, प्रह्लाद, शेष, सजय, उद्धव, ऋष्यशृङ्ग आदि।

२ नेने सूत्रपाठ उपोद्घात १८-१९।

आद्या शक्ति के विषय में भी विचारमालिका १९७ म सूत्र है 'आद्या शक्ति माया गुणवती धर्मवती विकारवती एसा ते माया'। आर्थर एवलॉन ने इस आद्या शक्ति क विषय में कहा ह—'आद्याशक्ति, गोपृत्नि देवता, अनक पयोधरा, जिसका आवरण कभी नहा हटता, एलिआसिस, काला, इथोर, साइबेला, इडा, त्रिपुरसुन्दरी, आयोनिक माता, शू का पत्नी तेफ जिसक द्वारा सारा सृजन होता ह, अफ्रोडाइट, आन्तरल जिसक उपवन कुजा म वालाम जड थे, बबिलोनिया की मिलिटा, ध्रुव तारा, मेक्सिको की इश, हलेनिक ओमिया, पार्वती क समान विचरने वाला अफ्रीका का सलम्बा, रोमन जनो, जीवन-विचार आदि की दीप्त स्वामिनी जिसका उत्सव अत्यन्त आनन्द से मनाया जाता था, मिस्री वस्ता, असीरिया का माता मुक्काध नेनाथ, उत्तरी फान्या, मूल प्रकृति, समित्री, माया, इस्तर, देवताओं की स्तिकनाथ माता, कुडला, गुह्य महाभैरवी, सब चार्जा की अनन्त गहिर नल।' इस प्रकार की मातृ पूजा आर्येतर सभ्यता म बहुत प्राचीनकाल से प्रचलित थी। इसीके बार म गोरख नाथ ने कहा ह—

तो जुडा राडया जोगम्बर त्याह्या, मिव सक्ती मू फेरा।
जा पद मिदर पुरुष निल्या, वहि मिदर घर मेरा॥ १४॥
या रहतो म घर वर बासा, जोग जुगति कर पाया।
सिध समाधि पच घर मेला, गोरख तहाँ समाया॥ १५॥[1]

चक्रधर के दार्शनिक मत विश्वासों की चर्चा आगे होगी। परन्तु यहाँ यह बात ध्यान म रखने योग्य ह कि महानुभावों में ब्राह्मण, शूद्र, तेली, माली, कोली (मछुए) आदि सभी जातियों के अनुयायी मिलते हैं। लीला चरित्र म उत्तरार्ध लीला ५६ म प्रसग वर्णित है कि एक मातग को चक्रधर ने 'आउसा' नामक शिष्या के द्वारा एक प्रसाद का लड्डू परसा और बाद म वही लड्डू जब मातग न उन्हे अर्पित किया तो उसक टुकडे बनाकर सब लोगों म बाँटे। महानुभावियों क मदिर न होकर चबूतर होते हैं। इनक सम्बन्ध म साहित्य के इतिहास लेखकों म काफी भ्रम ह। महाराष्ट्र सारस्वतकार भावे ने महानुभावों की इस प्रवृत्ति को मुस्लिम शासकों से मुनि व्यास (कमलाकर अयाचित

१ गोरखबानी डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल, पृष्ठ २१०-२११।

जोगी) नामक महानुभाव व्यक्ति ने फरमान लाकर उन्हें खुश करने के हेतु से ऐसा किया, कहा है। और बीड, पठण, आपेगाँव, फल्टण, यरक, मठ पिंपरी, अरण्यगाँव, मिराट, रामदास जागेश्वरी आदि स्थलों में प्राचीन देवालयों में भी 'ओट' (चबूतरे) बनाये। ह० ना० नेने का मत इससे भिन्न है। उनके अनुसार विरक्त सन्यासियों के सोने के लिए यह बनाये गये थे,[1] क्योंकि वे 'पर्यंकशयन' नहीं करते थे। आज भी जो महानुभाव 'ओटे' हैं, वहाँ के पुजारी या भोपे पूर्वपरंपरित ही हैं। उनके नाम आराध्ये, लाडगे, वीडकर उपाध्ये आदि हैं। कई स्थानों पर पहले की मूर्तियाँ वही हैं उदाहरणार्थ, आपेगाँव में विनानेश्वर का लिंग, देवदेवेश्वर (माहूर में शिवलिंग इत्यादि)। रिद्धपूर की कोल्हारी देवी के पुजारी 'गुरव' जाति के सनातनधर्मी हैं। कई तीर्थों में सनातनी और महानुभावी पंडे एक से हैं। ये लोग किसी भी प्रकार के बाह्य गण वेश या भेष के विरुद्ध थे। 'लिंग चिह्न मुद्रा न हो आर्यी' (आचार ४१)। बाद में काले कपडे ये कब से पहनने लगे पता नहीं। भावे के अनुसार औरंगजेब ने महानुभावियों को 'जजिया' माफ कर दिया था। परन्तु प्रो० कोलते द्वारा प्रकाशित अमरावती के कारंजा की बुवा की सनद के अनुसार 'जजिया' सभी प्रकार के साधुओं के लिए माफ था। शाहगढ (सिरपुर) गाँव में जो महानुभावियों का ठिकाना है, वहाँ का मंदिर मुसल्मानों के कब्जे में है। परंतु यह मुसलमान मद्य मांस नहीं खाते। 'सिद्धान्तबोध' ग्रंथ लिखने वाले महानुभाव मुस्लिम नाम वाले शहामुनि इसी स्थान के थे।

प्रसिद्ध इतिहाससंशोधक यशवंत खुशाल देशपांडे ने 'महानुभाव वाङ्मय' पर ५४ पृष्ठ का एक विस्तृत लेख लिखा है, जिसे ल० रा० पांगारकर ने अपने 'मराठी वाङ्मयाचा इतिहास' में परिशिष्ट रूप में दिया है। उसके अनुसार महानुभावों के ग्रंथ २५ सांकेतिक लिपियों में लिखे हुए मिलते हैं। नाथपन्थ इत्यादि पंथों से उन्हें कष्ट पहुँचता होगा अथवा अन्य कारणों से उन्होंने अपनी ब्रह्मविद्या, मत और धर्माचार गुप्त रखना आवश्यक समझा। यह नागदेवाचार्य[2] के बाद ५० वर्षों में ही होने लगा। सबसे पहले 'सह्याद्रिवर्णन'

१ सूत्रपाठ उपोद्घात, पृष्ठ–३४।

२ 'रुक्मिणी स्वयंवर' ग्रंथ में नागदेवाचार्य भास्कराचार्य नागाम्बा मुनि कमलाकर।

ग्रन्थ के कर्ता रावबोणा ये उर्फ म्हली "यास ने सन् १३०३ के करीब सकल या सगल लिपि प्रयुक्त की। हमारे मत से उड़िया कवि सरलदास (१३७८-१३५२) से इसका कुछ सम्बन्ध रहा होगा। यह लिपि महानुभावों के अन्य आम्नायों में प्रयुक्त है। सन् १३६३ में सुन्दरी, सन् १३६८ में पारमान्दय और कवीश्वरी अकलिपि सन् १४०३ के करीब निर्मित हुई। इनके अलावा वज्रलिपि (वज्रयान से सम्बन्ध ध्यान देने योग्य है), सुभद्रलिपि, सिंहलिपि भी है। नागदेवाचार्य सन् १३०२ में दिवंगत हुए। उनके बाद भास्कराचार्य द्वितीय आचार्य बने। महीन्द्र भट्ट के बनाये हुए चरित्रग्रन्थ आदि उनके पास थे। सुलतान के आक्रमण के कारण ये लोग कोंकण में भाग गये। राह में चोरों ने उन्हें लूट लिया, तब यह ग्रन्थों की झोली भी गयी। मूलग्रन्थ यों खो गये। चरित्रग्रन्थ के इस प्रकार से कई पाठ हैं। उनके बाद परशरामाचार्य तृतीय आचार्य हुए। उनके बाद इस पंथ की तेरह शाखाएँ हो गयीं। उनकी आगे और उपशाखाएँ बनीं। इस प्रकार से चक्रधर के जो भी सूत्र बचे हैं, वे केवल स्मृति के सहारे हैं। सन् १३५० के बाद महाराष्ट्र में महानुभाव पन्थ स्थिर बना। उनके पूज्य पंचदेव श्रीदत्त, श्रीकृष्ण, श्रीचक्रपाणी, श्रीगोविन्द प्रभु और श्रीचक्रधर की लीला से पवित्र कई पूजा स्थान महाराष्ट्र में बने। कुमाराम्नाय कोठी उर्फ मुनि "यास ने सन् १३५३ के करीब एक गद्यग्रन्थ लिखा, जिसमें इन सब स्थानों और लीलाओं का वर्णन है। इस ग्रन्थ को 'स्थानपोथी' कहते हैं।

श्री चक्रधर के ग्रन्थ 'कर्तृत्व' के विषय में डा० वि० मि० कोलते ने प्रश्न उठाया है।[1] जब भावे, य० खु० देशपांडे, नेने आदि इन सूत्रों के 'दृष्टान्तदाता' केशवराज सूरी उर्फ केसोवास को मानते हैं, तब सूत्रपाठ, दृष्टान्तपाठ आदि ग्रन्थ केसोवास के हैं या चक्रधर के यह शंका उपस्थित करके उन्होंने अपना मत दिया है कि यह सब ग्रन्थ चक्रधर द्वारा निरूपित हैं, अतः 'श्रीकृष्ण चरित्र, श्री दत्तात्रेयचरित्र, लीलाचरित्र' आदि सब चक्रधर की ही रचनाएँ हैं परन्तु महदाइसा (महादबा) के 'धवले' के उत्तरार्ध के बारे में सम्पादक वा० ना० देशपांडे का तर्क गलत है। वस्तुतः वह भाग म्हाइंभट और लक्ष्मी

---

१ युगवाणी, अक्तूबर १९५१।

धर भग के लिए लिखा गया है। कवयित्री की स्वय की रचना नही। यों कोल्तनी के अनुसार महाराष्ट्र की आद्य कवयित्री के प्र थकर्तृ त्व का मान उससे छिन गया है।

आ गोरक्षनाथ और परम्परा

गोरखनाथ को ज्ञानेश्वर ने अपना गुरु माना है। बीच के गैनीनाथ या गहिनीनाथ के विषय मे कुछ विशेष पता नहीं चलता। नामदेव की परम्परा मे शायद गहिनी नाम की एक सिद्धा थी। १ डा० मोहनसिंह की 'गोरखनाथ एण्ड मिडावल हिन्दू मिस्टिसिज्म', २ ब्रिग्ज की 'गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज़', ३ बागची 'कौलज्ञान निर्णय', ४ 'योगसम्प्रदायावि कृति', ५ हजारी प्रसाद द्विवदी का 'नाथ सम्प्रदाय', ६ पीताम्बर दत्त बडथ्वाल का 'गोरखबानी' और 'योगप्रवाह', ७ राहुल साकृत्यायन का 'गगा' पुरातत्त्वाक (जनवरी १९३३) मे 'मत्रयान', वज्रयान और चौरासी सिद्ध, लेख पृष्ठ २१४ से २२६, ८ वुडरफ का 'शक्ति एण्ड शाक्त', ९ आर्थर एवेलोन का 'महानिर्वाण तत्र', 'कौलावली निर्णय', १० कल्याण शिवाक तथा ११ रागेय राघव का 'गोरख नाथ तथा उनका युग' नामक अप्रकाशित प्रबन्ध मैने पढे हैं। उनके सहारे नीचे की जानकारी सकलित करके उपस्थित कर रहा हूँ।

राहुल जी ने तिब्बती तजूर के और तेरगा मठ से प्राप्त सूची के आधार पर जो सिद्धों की सूची दी है, उसमें नौवें 'गोरक्षपा' हैं। इस चौरासी सिद्ध सूची में चार स्त्रिया हैं, जो 'योगिनी' कहलाती हैं। वे हैं, मणिभद्रा, मेखला, कनखला, लक्ष्मीकरा। वर्णरत्नाकर की सूची मे गोरक्षनाथ का दूसरा नाम है। नव नाथों के जो परपरित नाम हैं, उनमे आदिनाथ मत्स्येन्द्रनाथ, जालन्धर नाथ के नाम अवश्य होते हैं। आदिनाथ को नाथपथ वाले शिव, उडीसा वाले मत्स्येन्द्र, और राहुल और बडथ्वाल जालन्धरनाथ मानते हैं। स्वात्माराम की 'हठयोगप्रदीपिका' (५-९) मे 'चौरगी मीन गोरक्ष विरूपाक्ष बिलेशया ।' आदि श्लोकों मे गोरक्ष सातवें हैं। चर्यापद की सूची मे गोरक्ष नहीं हैं। महार्णवतन्त्र मे बारह शिष्यों की चर्चा है, वहाँ जो नव नाथ दिये हैं, उनमे गोरक्ष प्रथम है और उपर्युक्त चार नाथों के सिवाय नागार्जुन, सहस्रार्जुन, दत्तात्रेय, देवदत्त और जडभरत भी हैं। कौलावली तन्त्र मे गोरक्ष का नाम पाँचवाँ है,

ग्यामारहस्य म छुटा। इस प्रकार से गारच का व्यक्ति त्र एक रहस्य म छिपा ह आर उनका काल भी अनिश्चित ह। शहीदुल्ला उन्ह आठवीं शती म ले आत है तो ना० प्र० सभा क १९०२ क विवरण म उन्ह पन्द्रहवा शती क आरम्भ म वताया गया है। बगाल क धर्मपन्थ सम्प्रदाय म सृष्टि उत्पत्ति की यह कथा मानी जाती है कि मत्स्यन्द्रनाथ (मीननाथ) चार अन्य सिद्धा सहित आदिदेव या आदिनाथ के गडे हुए मृत शरार से निकल थ। गोरखवानी म कइ स्थाना पर मत्स्येन्द्र को आदिनाथ (निरजन या धर्म तथा मनसा का पुत्र) कहा गया है (सुकुमार सेन प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, टीकमगढ़, १९४६)। योगिसम्प्रदायाविष्कृति क अनुसार गोरख की गुरु परम्परा ह आदिनाथ मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथ गहिनीनाथ। पागारकर के 'ज्ञानेश्वर चरित्र' म इसी परम्परा म निवृत्तिनाथ ज्ञाननाथ कहा है। पर निवृत्तिनाथ का एक मराठी अभग है

आदिनाथ उधा बीज प्रगटले। मत्स्येन्द्रा लाधले सहज स्थिती॥
तेचि प्रेम मुद्रा गोरख दिधली। पूर्ण कृपा केली गैनीनाथ॥

और पागारकर ने गहिनीनाथ की लिखी एक हिन्दी पुस्तक 'गहिनीप्रताप' का उल्लेख किया है, जिसम लिखा ह

गोरख सुत गहनी कह, नाथ पथ की बानी।
ग्यानी जानत गुरू पुन होत, सोहि चढ़े निरबानी॥

डा० बडथ्वाल के अनुसार[1] गोरखनाथ के परिशीलन से पता चलता है कि गोरखनाथ ने अपने योगप्रधान मत की नींव शाकर अद्वैत वेदान्त पर रखी थी

अभेद भेद भेदीले जोगी बदत गोरख राई।
आत्मा परिचे राखो गुरुदेव सुदर काया॥

साथ ही (गोरख की) रचनाओं में नागार्जुन क शून्यवाद और असग के विज्ञानवाद के भी कुछ अवशिष्ट चिह्न मिलते हे, यद्यपि वे अब केवल ब्रह्मवाद और मायावाद के बाहरी आवरण मात्र रह गये हैं। कहीं कहीं तो शून्यवाद का स्पष्ट विरोध भी मिलता हे

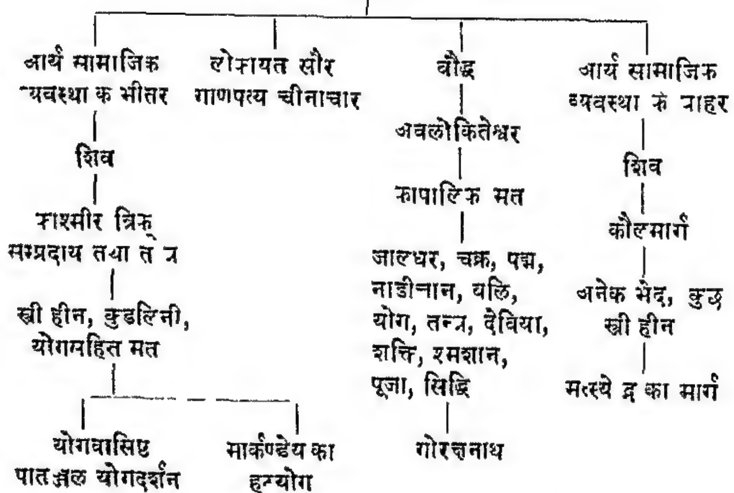
---

१ योगप्रवाह काशी विद्यापीठ प्रकाशन, स० २००३, पृष्ठ–१८।

बरतो न सुन्य सुन्य न बरतो अगम अगोचर ऐसा ।
गगन सिखर मे बालका बोले ताका नाव धरहुगे कैसा ॥

इससे दो बात प्रकट होती है, एक तो यह कि गोरखनाथ का बौद्ध धर्म के साथ कुछ न कुछ सम्पर्क था और दूसरी यह कि शाक्त मत का इतना प्रचार हो गया था कि उसने स्वयं बौद्ध धर्म में घुसकर उसे पथच्युत कर दिया था ।

गोरखनाथ का नाम उड़िया भाषा के प्राचीन साहित्य में, सारलदास के महाभारत में, अच्युतानन्द दास की शून्यसंहिता में और जसोवन्त दास के रास में मिलता है । वहाँ शिव परमगुह्य ज्ञान को जानने वाले, उनसे रोमाच, भुशुण्डि, वशिष्ठ, राम, हनुमान, ७ योगी, मत्स्येन्द्र, गोरख, मल्लिकठ यह गुरु परम्परा है । डा० रांगेय राघव के अनुसार—



डा० रांगेय राघव का निष्कर्ष है कि 'यक्षवाद वास्तव में सामंतकालीन व्यवस्था में उत्पादन के साधनों में परिवर्तन न होने से एक विशेष प्रकार की बर्बरता है, जब मनुष्य विलास की ओर आकर्षित होता है । इस अवस्था में व्यक्तिवाद ही चरम सीमा है । यही गोरख में परिलक्षित है ।' (पृष्ठ–२९२) ।

द्विवेदी जी का (पृष्ठ-२२०) अनुमान है कि 'गोरखनाथ पहले वज्रयानी साधक थे, बाद में शैव हुए।' मत्स्येन्द्रनाथ का कौलमार्ग शाक्त था, बौद्ध नहीं। पूर्ण गिरि गोस्वामी अपने नाथसम्प्रदाय नामक लेख में[1] कहते हैं, 'गोरखनाथ का नाथ पंथ ईश्वरवादी है। उसमें अनीश्वरवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। भगवान आदिनाथ शंकर इस पंथ के मूल प्रवर्तक माने जाते हैं। जिन विद्वानों की यह धारणा है कि नाथ सम्प्रदाय बौद्धों से विकसित हुआ, वे सम्भवतः चौरासी सिद्धों और नाथों में कोई मौलिक अन्तर नहीं समझते। यदि नाथ लोग सिद्धों के द्विताय मार्ग को ही अपना साधन चुन लेते तो उनको कोई भी महत्त्व न मिलता। किन्तु सिद्ध लोग निश्चय ही धार्मिक ह्रास के द्योतक थे और वज्रयान की शाखा प्रशाखाओं में उनका विश्वास रखते थे। नाथों की बानियों में 'शून्य' और 'निर्वाण' जैसे कई शब्द आते हैं, जिनसे कुछ लोग यह अनुमान लगा बैठते हैं कि बौद्धों का 'शून्य' और 'निर्वाण' नाथों को भी प्रभावित कर चुका था। योगियों ने इस प्रकार के शब्द बौद्ध धर्म से ही नहीं, और भी बहुत से सम्प्रदायों से लिये, किन्तु उनका प्रयोग सर्वत्र अपनी परम्परा के अनुकूल अर्थ में ही किया है। योगशास्त्र के अनुसार ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचकर साधक ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है। इसका अनुभव सुनिफल कहकर पुकारा गया है—

उत्तरखण्ड जाइबा सुनिफल खाइबा ब्रह्म अगनि पहरिबा चीर।
नीझर झरण अमृत झरिया यू मन हुआ थीर॥

—गोरखबानी, पृष्ठ-२४

यहाँ उत्तरखण्ड का अर्थ 'ब्रह्मगुहा' लेना होगा और 'सुनिफल' का अभिप्राय उस अवस्था की अनुभूति से है।

सुनि ज माई सुनि ज बाप। सुनि निरंजन आपै आप॥
सुनि के परचै भया सथीर। निहचल जोगी गहर गम्भीर॥

—गोरखबानी।

यहाँ सुनि का अर्थ असम्प्रज्ञात समाधि है। उस स्थिति को प्राप्त कर लेने के पश्चात् योगी निश्चल अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

---

१ नाथसम्प्रदाय, पृष्ठ-६१।

बस्ती न सुन्य सुन्य न बस्ती अगम अगोचर एसा।
गगन सिखर म वालका बोल ताका नाव धरहुगे कैसा ॥
—गोरखबानी।

उस निर्गुण सगुणातीत ब्रह्म को जो केवल अनुभवगम्य है, किस नाम से पुकारा जा सकता है?

गोरखपंथी योगियों के विषय में और एक मनोरंजक बात है मुसलमानों द्वारा उनका भय मानना। इब्न बतूता नामक मिस्री यात्री ने लिखा है कि मानश उब्बहर के सम्राट तरम शीरा के कैम्प में बतूता ने स्वय इन योगियों के चमत्कार को देखा था। ये धरती में गुफाएं बनाकर रहते थे और सबेरे शाम सिंगी बजाया करते थे। तांती, जुलाह, गडरिए, दरजी आदि बयनजीवी जातियां आदिनाथ को माननेवाली गृहस्थयोगी हैं। बहुत से गृहस्थयोगी मुसलमान हो गये हैं। कबीर ऐसी ही गृहस्थयोगी जाति के थे। बुन्देलखण्ड के गडरियों के पुरोहित 'योगी' होते थे। उनके विवाह में मंत्रों में गोरख मछन्दर के नाम आते हैं। शेख फैजुल्लाह नामक बंगाली कवि की पुस्तक 'गोरक्षविजय' में कदली देश की जोगिन गोरखनाथ को फँसाती है, तब कहती है, 'तुम बलिष्ठ योगी हो, मै जवान जोगिन हूँ क्यों हम किसी परवा करें मैं चिकना सूत कात दूँगी, तुम उसकी महीन धोती बुनोगे और हाट में बेचने ले जाओगे, तब इतनी सम्पत्ति मिलेगी कि तुम्हारी कथा में भी नहीं अँटेगी।' कबीर के चरित्र के प्रसंग में डा० मोहनसिंह ने कहा है कि 'गोरख की गद्दी के बालनाथ के टीले के जो वारिस हैं (यह टीला निजामुद्दीन औलिया ने १२वीं १३वीं शती में वर्णित किया है, १६वीं शती में दामोदर ने, १७वीं शती के नानक के जीवनी लेखकों ने और निजामुद्दीन एहमद, एनेअकबरी, फरिश्ता आदि ने इस जगह का उल्लेख किया है) वे अपने आपको पीर कहते हैं। कई यवन नाथों में विख्यात हुए अप्पानाथ अरब और गूगा के गुरु बाबा रतन हाजी दोनों गोरख के चेले हैं। गोरखपंथ का निर्गुण मुस्लिम मूर्तिपूजाविरोध से मेल खा गया हो तो आश्चर्य नहीं। उज्जैन में जो भर्तृहरि की गुफा है, उसके पास का मछिन्दर का टीला हिंदू मुस्लिम दोनों द्वारा एक सा पूजित था, ऐसी परम्परा मिलती है।[1]

---

[1] नाथ सम्प्रदाय, पृष्ठ २१।

डा० बडथ्वाल कहते हैं—'निर्गुण शाखा वास्तव में योग का ही परिवर्तित रूप है।'[1] ज्ञानेश्वर के दादा गोविन्द पन्त और दादी निराई पर भी गयनीनाथ का अनुग्रह था, ऐसा नामदेव की आदी से[2] जाना जाता है। भिगारकर ने अपने ज्ञानेश्वर चरित्र में मत्स्येन्द्रसंहिता से दो श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनमें 'सृष्टे पुरा सर्वेवासीदेकमेवाद्वितीयम्' जैसी वेदान्त शब्दावली है। परन्तु डा० शंकर दामोदर पंडसे के अनुसार[3] मच्छिंदर और गोरख को श्लोकबद्ध रचना करने लायक संस्कृत भाषा आती थी, ऐसा मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं है। डा० मोहनसिंह द्वारा अंग्रेजी में अनुवादित गोरखबोध में शून्य शब्द कई बार आया है। मन का प्राण जीव है, जीव का आधार ब्रह्मरूप है और वह अचिन्त्य है। शिव और शक्ति का भी उल्लेख गोरख ने किया है। 'सिव सकति ले उनमनि रहै, ऐसे विचार मच्छन्द्र कहै' (गोरखबोध, पृष्ठ ६०)। 'यहु मन सकती यहु मन सीव' (गोरखबानी, पृष्ठ १८)। उल्टी शक्ति से कुंडलिनी जागृति का उल्लेख है। षट्चक्रों का भी नाम लिया गया है। गोरखनाथ के नाम पर कुछ मराठी पद भी हैं, उनमें भी मूर्ति पूजा का निष्फलत्व दिखायी देता है।[4]

पाषाणाची देउळ। पाषाणाचा देवो॥
पाषाणाची पाउलीं। तेथ न फिटे सन्देहो॥
निजलिंग न्याहाळितां। आम्ही तुम्ही नाही॥
—(महाराष्ट्र सारस्वत, पृष्ठ-३७)

यह पद डा० बडथ्वाल की 'गोरखबानी' में पृष्ठ १३१ पर इस प्रकार दिया है। इस पद की भाषा पर मराठी प्रभाव स्पष्ट है।

कैसे बोलौं पंडिता देव कौनें ठाईं।
निज तत निहारता अम्हें तुम्हे नाही॥ टेक॥

---

१ योगप्रवाह, पृष्ठ-७५।
२ सकलसंतगाथा नामदेव, पृष्ठ-८८४-८५।
३ श्री ज्ञानेश्वराचें तत्वज्ञान, पृष्ठ-४०९।
४ वही, पृष्ठ-४१२-४१३।

पाषाणची देवली पषाणचा देव।
पषाण पूजिला कैसे फाटाला सनेह ॥ १ ॥
सजीव तेडिला निरजीव पूजिला
पापची करणी कैसे दूतर तिरीला ॥ २ ॥

डा० पडसे के अनुसार मच्छिन्द्र, गोरख, गयनी और निवृत्ति के दर्शन में शून्यवाद, निर्गुण, निराकार, नामरूपातीत परमतत्व का अद्वैतवाद, मायावाद, भ्रान्ति, अज्ञान इत्यादि भावनों से अद्वैत की उपपत्ति, सृष्टि का मृगजलवत् आभासकत्व, व्यतिरेक और अन्वय दोनों पद्धति से अद्वैत प्रतिपादन का पता चलता है। महाराष्ट्र की दूसरी नाथपरम्परा है मुकुन्दराज की आदिनाथ हरिनाथ, रघुनाथ, मुकुन्दराज। मुकुन्दराज के विवेकसिन्धु और परमामृत दो ग्रंथ प्रख्यात हैं। हरिनाथ को तो प्रत्यक्ष आदिनाथ शंकर का अनुग्रह प्राप्त था। उनका उत्तर के नाथपन्थ से सम्बन्ध नहीं आया। मुकुन्दराज ने गोरख ज्ञानेश की तरह योग का समर्थन नहीं किया। सीधे अद्वैत का प्रतिपादन किया है।[1]

इ वेदान्ती तथा शैव परम्परा

१३५० ईस्वी के बाद के शैव साहित्य के सम्बन्ध में फरकुहर ने लिखा है कि इस काल में बहुत सा ऐसा शैव साहित्य निर्मित हुआ जो शैव पन्थ से बाहर का था। बंगाल में राम कृष्ण का शिवायन लिखा गया। पर वह बहुत बाद की रचना है। गुजरात में शिवानन्द के पद भी बहुत प्रसिद्ध हैं। तेलुगु प्रदेश में स्कन्दपुराण का १५वीं शती में, कूर्मपुराण का १५वीं शती में, और मत्स्यपुराण का १५१० में अनुवाद हुआ। वेमना के प्रसिद्ध पद इसी काल के हैं। वेमना किसना (कृष्णा), गुटूर और नेल्लोर प्रान्तों में राज्य करनेवाले वेमा रेड्डी कुल का था। वेमना का काल पन्द्रहवीं शती का प्रारम्भिक काल है। तिरुवांकुर में सत्रहवीं शती में मलयालम में शिवपुराण और ब्रह्माण्डपुराण भी अनुवादित हुए। पन्द्रहवीं शती में तमिल में अरुणगिरि नाथर ने तिरुपुहल नाम से 'सुब्रह्मण्य' देव की स्तुति में गीतिमाला लिखी। कन्नड के लिंगायत सन्तों की प्रभुलिंगलीला का तमिल पद्य में अनुवाद शिवप्रकाश स्वामी ने किया (१७वीं शती) और अभी भी शैव उसे प्रयुक्त करते

१ श्री ज्ञानेश्वरांचें तत्त्वज्ञान, पृष्ठ-४१७।

है। पाशुपत शैव इस काल में प्राय लुप्त हो गये, केवल कापालिक, अघोरी, औघड़ जरूर मिलते हैं।

कापालिकों के वाममार्ग में कौलिमार्ग और वामाचार तक मिलते हैं। कौलसाधना में योगसाधना की तरह गुरु का बड़ा माहात्म्य है। गुरु ही पथप्रदर्शक है, वह बहुत उच्चस्थानीय है। वह परममन्त्र और परमजप है। वही पराविद्या है। उसके बिना कुछ नहीं। जिससे गुरु प्रसन्न है उससे महेश्वरी भी प्रसन्न है। जिससे गुरु सन्तुष्ट नहीं, उससे सदाशिव भी सन्तुष्ट नहीं।[1] जो गुरुद्रोही है वे सतत पाप करते हैं। उनके सुकृत भी बुरे कर्म हैं।[2] घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, शील, भक्ति, ८ पाश हैं। पाशबद्ध पशु है। पाशमुक्त सदाशिव ही पाशहर है।[3] गकार सिद्धिदायक है, रेफ पाप का दाहक है, उकार शिव है। तीनों ही मिलाकर परमगुरु है।[4] ऐसा गुरु अन्तर्मुख, अन्तर्दृष्टि, सर्वज्ञ, देश काल का ज्ञाता है।[5] यह सब गुरुवर्णन ज्ञानेश्वर के 'अमृतानुभव' के आरम्भ में भी मिलता है। गुरु माहात्म्य के अतिरिक्त वामाचार दूर दूर तक फैले थे। बलूचिस्तान में हिंगलाज के शाक्त मन्दिर को हो आये भक्त सफेद मणियों की माला गले में पहनते थे। उनका मन्त्र 'शिवगोरक्ष' था। तामिलनाडु में शैव मन्दिर सब जातियों के लिए खुले हैं। पुजारी सर्वत्र

---

१ गुरुरेव परो मन्त्रो गुरुरेव परो जप ।
गुरुरेव परा विद्या नास्ति किञ्चिद् गुरु विना ॥
यस्य तुष्टो गुरुर्नित्यं तस्य तुष्टा महेश्वरी ।
येन सन्तोषितो देवि गुरु स हि सदाशिव ॥ (रुद्रयामल)

२ ये गुरुद्रोहिणो मूढा सदिते पापकारिण ।
तेषां तु यावत् सुकृत दुष्कृत स्यान्न संशय ॥ (ब्रह्मवैवर्त)

३ घृणा शङ्का भय लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी ।
कुल शील तथा शक्तिरष्टौ पाशा प्रकीर्तिता ॥
पाशबद्ध पशु प्रोक्त पाशमुक्त सदाशिव ।
तस्मात्पाशहरो योऽत्र सद्गुरुर्नान्य उच्यते ॥ (मेरुतन्त्र)

४ गकार सिद्धिद प्रोक्तो रेफ पापस्य दाहक ।
उकार शिव इत्युक्तस्त्रितयात्मा गुरु पर ॥ (आगमसार)

५ अन्तर्मुखोऽवहिर्दृष्टि सर्वज्ञो देशकालवित् । (कुलार्णवतन्त्र)

ब्राह्मण है, कुछ छोटे मंदिरों में पंडरम अर्चक हैं। वेदान्त सूत्रों पर श्रीकण्ठ शिवाचार्य ने शैव भाष्य लिखा। इसकी तिथि का निश्चय विद्वानों से नहीं हो पाया है। पर शायद १४०० इसवी सही है। उस भाष्य का मत शैव विशिष्टाद्वैत है।[1] अप्पय दीक्षित ने इस पर 'शिवकार्कमणिदीपिका' नामक टीका लिखा है। शम्भुदेव की शैवसिद्धान्तदीपिका का सार नीलकण्ठ के क्रियासार में मिलता है। शिवाद्वैत मत तामिल शैवसाहित्य में पाया जाता है। इन्हीं में एकेश्वरवादी शुद्धिवादी मूर्तिपूजाविरोधी पंच चित्तर या सित्तर नाम का मिलता है। इस शाखा का उदय सिद्ध। थे। दसवीं शती में हुए। इसमें अहप्प और पत्तरती मुख्य गायक हुए। सित्तरों के भजन 'शिववाक्यम्' में मिलते हैं। तत्तुव रायर ने सत्रहवीं शती में मूर्तिपूजाविरोधी ग्रंथ 'अटइगन सुडइ' लिखा। फरकुहर के अनुसार यह शायद मुस्लिम प्रभाव का द्योतक हो, अथवा मुस्लिम ईसाई दोनों प्रभाव उस पर पड़े हों।[2]

वेदान्ती तथा शैव परम्पराओं का यह मिश्रण दक्षिण में जब हो रहा था, तब उसका हमारे विवेच्य काल में सर्वोत्तम स्वरूप कर्नाटक के वीरशैवदर्शन में मिलता है। नव कल्याणमठ, धारवाड़ के श्री कुमारस्वामी जी ने 'दि वीरशैव फिलासफी एण्ड मिस्टिसिज़्म' नामक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। उसमें पृष्ठ–५९ पर काश्मीर के प्रत्यभिज्ञामत और वीरशैवमत के साम्य को बताते हुए लेखक ने बताया है कि काश्मीरी शैव महेश्वर की सिर्फ 'सिसृक्षा' (सृष्टि करने की इच्छा) होते ही यह सृष्टि निर्मित हो जाती है। यह सिसृक्षा ही पापकारण है। वीरशैव मत में इसी को चिच्छक्ति कहते हैं। इसीका दूसरा नाम शिवशक्ति भी है। अनुभवसूत्र में कहा गया है—

---

१ श्रीकृष्ण के शैवभाष्य (२।२।३८) में तंत्र को वेदवत् प्रमाण माना है। दोनों के निर्माणकर्ता एक ही शिव हैं। वेद भी शिवनाम है। केवल एक त्रैवर्णिकों के लिए है, आगम सभी के लिए।

वयं तु वेदशिवागमयोर्भेदं न पश्यामः। वेदोऽपि शिवनाम इति व्यवहारो युक्तः तस्य तत्कर्तृकत्वात्। अतः शिवनामो द्विविधः त्रैवर्णिकविषयः सर्वविषयश्चेति। उभयोरेक एव शिवः कर्ता उभावपि प्रमाणभूतौ वेदनामौ॥

२ फरकुहर वही, पृ४-३५२।

शक्तिरप्रतिभा साक्षात शिवन सहधर्मिणी ।
साक्षिणी सत्यसपूर्णा निर्विकल्पा महेश्वरी ॥

इन्हीं सूत्रों मे परब्रह्म का वर्णन है—

एकमेव परब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
शिवत्व च शिवाचार्यं स्थलमित्याहुरादरात ॥

वारम्भ मत म इस प्रकार से 'स य, ज्ञान और बृहत्' एकाकार हुए ह। यही बात आगे चलकर अल्लमप्रभु के गोप्य म त्र म मिलती ह, जहाँ प्रकाश का वर्णन ह, जो रवी द्रनाथ का गीताजलि क 'आलो। आलो। भुवन भरा आलो।' से मिलता ह।[1] नाद, बिन्दु, स्प द, कला आदि शब्द रहस्यवादियों की पारिभाषिक शब्दावली यहाँ भी ह। सोह म से 'स' (नाम) 'ह' (माया) जब चली जाती ह तो विशुद्ध प्रणव या ॐ बचता है। जैसे कहा है[2]—

सोऽहं त्यक्त्वाऽसमत्र स्वपदपरपद व्यक्तवर्णद्वय तत्,
व्यालुपेत् व्यजने द्वे पुनरपि रचयेद्दिव्यमोंकारमन्त्रम ॥

ज्योतिर्लिंग (परब्रह्म) ही इष्टलिंग (आत्मन्) है। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' की बात छा दोग्य और बृहदारण्यक म चावल क दाने, जौ क दाने, राइ के दाने से भी छोटे प्रमाण रो कही जाती है, जो कि धरती से, आकाश स, स्वर्ग से, सप्त लोक से भी बड़ा ह। बाइबिल में भी यही राइ (मस्टर्ड) के दाने का दृष्टान्त है। वहाँ स्वामी सब अस्तित्ववान वस्तुओ का स्वामी है। वीरशैव सन्त बसवेश्वर (बारहवीं शती) का एक वचन इसी प्रकार है।[3] अग चिद्रूप है, लिंग सद्रूप। अहग्रहोपासना स लिंगाग सामरस्य वर्णित है।

अक्कामहादेवी नाम्नी रहस्यवादिनी कवयित्री क शब्दों म करस्थल, मनस्थल, भावस्थल में से होते हुए ज्ञानस्थल (जो कि अनुभवजन्य है) तक पहुँचा जा सकता ह। वहाँ से सर्वांगलिंग स्थल तक हम पहुँचते हैं। यह लिंग वस्तुत वीरशैवों के लिए एक 'कुरूह' या प्रतीक मात्र है। ज्यों मिजिलुस्की के

१ निटिल भ्रू म यद स्फटिक वणद ज्योति (महामन्त्र गोप्य) कन्नड कवि अल्लमप्रभु।

२ शिवयोगप्रदीपिका।

३ जगदगल मुगिलगल मिगेयगल निम्मिगल।

नुसार लिंग लागन (हल) से निकला है और इसका मूल आस्ट्रिक एशियाई है। कुछ विद्वान् इसे वैदिक शब्दवेदी से निर्मित मानते हैं। तीसरा मत 'लिंग' धातु से इसका निर्वचन करता है। परमात्मा शिल्पी है, अतः वह परम लिंग (लिंग) है। द्राविड़ ज्ञान, अनिल, अम्मा और अतम् के प्रतीक हैं शिव, शरण, शक्ति और सृष्टि।[1] आत्मलिंग का उल्लेख ज्ञानेश्वरी में है और अध्यात्मलिंग का भी।

बसवेश्वर के वचनों से भी शिवोपासना और अद्वैत का यह सामंजस्य स्पष्ट होता है। बसव कहते हैं (१) इस संसार ने मुझे सर्प की भाँति काट लिया है और पंचेन्द्रियों के विष ने मुझे अचेत कर दिया है। तब से मैं नमः शिवाय मन्त्र दुहरा रहा हूँ हे कुडल संगम। (२) हाय! हे शिव, तुम्हें कोई दया नहीं। मैं मर जाऊँगा। हे शिव! तुममें जरा भी कृपा भावना नहीं। तुमने मुझे जन्म ही क्या दिया, इस लोक में दुःखी और परलोक में निराश, मैं जनमा ही क्या! ओ कुडल संगम, इससे तो तू मुझे एक पौधा या वृक्ष ही बना देता तो अच्छा होता। (३) यदि शिव तुझ पर प्रसन्न हुए तो नष्ट हो जायगा जैसे पत्थर से मिट्टी का बड़ा बर्तन, ओ कुडल संगम! (४) ककैया चमार मेरे गुरु, छेन्नैया महागुरु और अवैया था मेरे पड़ोसी हैं। इन्हें भक्ति के मूल मन्त्र मालूम हैं। पर (मेरे मन्त्री कुल में होने से) इन गरीबों श्रमिकों से मेरे सम्बन्धों के बारे में फुसफुसाहट होती है, ओ कुडल संगम! (५) ककैया मेरे चाचा हैं। चाम्मया ढोल बजाने वाले मेरे बड़े भाई हैं। फिर भी मुझे भूल गये कुडल संगम।[2]

बसवेश्वर ने एक विराट् रूप का वचन भी कहा है 'तेरी ग्रीवा से रुद्र बने हैं। तेरे स्कन्धों से विष्णु। तेरे जानुओं से ब्रह्मा। पैरों से इन्द्र, मन से चन्द्रमा, आँखों से सूर्य जनमे। मुख से अग्नि और श्वास से वायु और नाभि से यह आकाश। दसगुना तीन और तीस दशलक्ष (३३ कोटि) देवता तेरे सिर से निकले। तेरे पैरों के नीचे पृथ्वी और तेरे कानों से दशदिशा अस्तित्व के बन्धनों में फूट पड़े हैं। अपने उदर में तूने असीम अनन्त की संयोजना की

१ कुमारस्वामी वीरशैव फिलासफी एंड मिस्टिसिज्म, पृष्ठ-११९।

२ मुरिगप्पा चिगटेरी और सी० एस० वामी सिलेक्टेड सेयिंग्ज आफ बसव (वचनमंटप, बेलगाव) १९५२।

है। इस प्रकार से मेरे स्वामी कुडल सगम के सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष, सहस्र हस्त, सहस्र चरण और सहस्र दान है। इस विराट रूप से ज्ञानेश्वरी के विराट् रूप दर्शन का भाग तुल्य है।

अपने 'कुडलिनी तत्त्व' लेख में गोपीनाथ कविराज वेदान्त और शैव मतों का यह 'मिलनस्थल' 'महाबिन्दु तुरीय' की सामरस्यावस्था और परमाणुओं के पंचीकरण के प्रसग में समझाते हैं ' जो साक्षी की दृष्टि का क्षेत्र है वही आकाश पदवाच्य है। प्रथम बिन्दु का प्रसरक्षेत्र ही चिदाकाश है। इसी को कहीं कहीं 'परव्योम' भी कहा है। द्वितीय बिन्दु के प्रसर क्षेत्र को चित्ताकाश कहा है। इसके मध्य में खद्योतमाला के समान कोटि कोटि ब्रह्माण्ड श्रेणियाँ भासमान रहती हैं। इस द्वितीय मण्डल के बाहर गाढान्धकारमय तृतीय मण्डल की सत्ता है। यह अखण्ड तमोमय एक विभाग को प्राप्त हुए तृतीय बिन्दु के प्रसरण में उत्पन्न होता है। इसे 'भूताकाश' भी कहते हैं। यही 'माया' या 'आवरण' कहा जाता है। वैष्णवगण इसी भूमि को बहिरंग कहते हैं। महाप्रलय के समय में यह पंचीकृत भूमि स्वभाव के नियम से अपंचीकृत अवस्था को धारण करती हुई पाँच भागों में विभक्त होकर विशुद्धादि पंचचक्रों में विलीन हो जाती है। प्रसरशक्ति की क्रिया के समाप्त होने पर सकोच शक्ति की क्रियावृद्धि के क्रम से पंचचक्र उपसंहृत होते हुए पंचबिन्दु का रूप धारण करते हैं। पुनः सकोच शक्ति क्रम से वे पंचबिन्दु आपस में सम्मिलित होते हुए एक बिन्दु की आकृति में परिणत हो जाते हैं। आज्ञामण्डल अथवा तटस्थ चित्परमाणुपुंज भी इसी प्रकार उपसंहृत होते हैं तथा सहस्रारमण्डल भी मूल सत्त्वबिन्दु में आकुंचित होता है। तदनन्तर 'सत्त्व, रजस् और तमस्' ये तीन बिन्दु अथवा मूल त्रिकोणरूपा महाशक्ति के तीन कोण, जिनका आविर्भाव सृष्टि के आरम्भ में हुआ था, अपना वैषम्य परित्याग कर अन्तःस्थित महाबिन्दु में साम्यभाव से अवस्थित रहते हैं। इसी महाबिन्दु को वैष्णवगण 'महाविष्णु' तथा त्रिक मतावलम्बी शैवाचार्य या शाक्तागमविद्गण 'सदाशिव' कहते हैं। वेदान्त में यह 'तुरीय' नाम से व्यवहृत होता है। बस यही सामरस्यावस्था है। इस समय साक्षी और साम्यशक्ति एकाकार अर्थात् अद्वैतभावापन्न रहते हैं। इस अवस्था में न देश है, न काल है, न कला है, न मन की सत्ता है, अधिक

वथा, उ मनो शक्ति भी इस समय निष्क्रिय रूप धारण कर लेती ह। इसके अन तर भी एक अवस्था ह जिसका कुछ विद्वान् 'तुर्यातीत' पद से व्यवहार करते ह। यत्र तत्र शाक्त गण के शिव और शक्ति या कामेश्वर कामेश्वरी, तथा गौडीय वैष्णवों के राधा कृष्ण पूर्वोक्त महाबिन्दु से ऊर्ध्वभूमि म अन्वित रहते हैं[1]। इसी पर टिप्पणी देते हुए गोपीनाथ कविराज ने आगे बताया है कि द्वारका, मथुरा, वृन्दावन य तीन धाम महाबिन्दु की सीमा से अतीत ह। चिन्तन मदाशिवतत्त्व क भेद किये बिना (जाने बिना) अर्थात् आचार्य शंकर द्वारा प्रदर्शित निर्गुण अद्वैत तत्त्व म प्रतिष्ठित हुए बिना नित्य लीला म प्रवेश नहीं हो सकता। यहाँ हजारीप्रसादजी की उस उक्ति का खण्डन मिलता है, स तों का निर्गुण राम और भक्तों को प्रमलीला का धाम एक ही है[2]। महायान सम्प्रदाय के बौद्ध इसीको 'वज्रधातु' कहते हैं। उनकी सुखावती एव अन्या य नित्यधाम इसी उपादान से बने हैं। उसी प्रकार का साम्य 'आकाश' तत्त्व क विषय म मिलता ह। योगवार्तिक (३, ४०) में विज्ञानभिक्षु ने कारण कार्य भेद से आकाश के दो भेद माने हैं। उनका कारणाकाश, तमोमण्डल या 'माया' के समान ही है। सर्वास्तिवादी बौद्ध भी आकाश को असस्कृत धर्मा म मानत है और उसे आवरणाभाव और अवकाशरूप मानत है। आधुनिक विज्ञान के 'ईथर' की भाति वह अबाधित और अबाधक है। इसका ह्रास या वृद्धि नहीं होती। वह नित्य, विभु, नीरूप, स्वप्रकाश वस्तु है। वसुबन्धु ने कहा है कि आकाश यदि आवरणाभावस्वरूप न होता तो किसी वस्तु म क्रिया ही न होती। योगियों का विशुद्ध चक्र विज्ञानभिक्षु के कार्याकाश की तरह है।

प्रसार से 'सुख' और सकोच से 'दुख' का द्वन्द्व पुरातन है। रागद्वेष युक्त मानव का रसज्ञान भी इसी पर आश्रित है। डा० भगवानदास ने अपने 'साय स आफ दि इमोशन्स' में इसकी विस्तृत चर्चा की है। उनके अनुसार अपने से विशिष्ट 'उत्कृष्ट' जीव की ओर 'राग' का नाम ही है सम्मान,

१ द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ १७६-१७७।

२ ज्ञानेश्वरी (२२१) नातरी एकादें नाव। तैंचि शैव कां वैष्णव वाचें वसे तें वाग्भव। तव जाणावें।

बहुमान, आदर, प्रणय, मुदिता, पूजा आदि। 'समान' की ओर मैत्री, प्रेम, अनुराग, स्नेह, प्रीति, सख्य आदि। 'हीन' की ओर दया, करुणा, अनुकम्पा, अनुक्रोश आदि। ऐसे ही द्वेष के भी भेद हैं 'विशिष्ट' की ओर भय, मत्सर, असूया, इर्ष्या, 'तुल्य' की ओर काप, क्रोध, रोष, 'हीन' की ओर दर्प, गर्व, अभिमान, घृणा आदि। यों, साहित्य शास्त्र में राग, द्वेष के भाव की ओर उत्तम, मध्यम तथा अधम के ज्ञान की वृत्तियों के मेल से सचारी व्यभिचारी भाव उत्पन्न होते हैं। यदि द्वन्द्व, जोड़ा, करना चाहें तो स्यात् यों बठगा शृङ्गार रौद्र, (काम क्रोध), हास्य करुणा, वीर भयानक, वीभत्स अद्भुत।

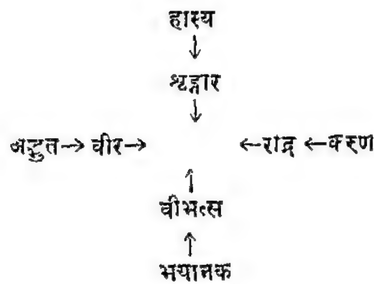
रस के इसी द्वन्द्ववाद को समझने में निर्गुण सम्प्रदाय के काव्यानन्द की मीमांसा की जा सकती है। यह द्वन्द्व 'अग्नीषोम' या 'प्राणापान' के वैदिक युग से विद्यमान है।

इस द्वन्द्व की प्रशमित अवस्था को ही शान्त कहते हैं। अथवा शान्त और शृङ्गार दोनों ही केवल अवस्थाएँ हैं, इस विषय में गोपीनाथ कविराज ने कहा है—

'राग का भी क्रमिक विकास है। ऐश्वर्यावस्था का अनुभव दास्यभाव-पर्यन्त ही होता है। इसके अनन्तर माधुर्यावस्था का विकास होता है। माधुर्यावस्था सख्य, वात्सल्य और कान्त इन तीन रूपों में प्रकट होती है। कान्त भाव में ही माधुर्य की पराकाष्ठा है। यही कान्तभाव क्रम से महाभाव में परिणत होता है। यह आदिरस है। यद्यपि शृंगार को आदिरस कहा गया है फिर भी शान्त और शृङ्गार में कौन आदिरस है, इस विषय में साधक-सम्प्रदाय में बड़ा मतभेद है, जो लीलानुरागी हैं वे शृंगार को आदिरस मानते हैं और गौडीय वैष्णव शान्त को सर्वापेक्षा निम्न बताते हैं। मुख्य बात यह है कि शान्त और शृङ्गार दोनों ही रसास्वादन की प्रान्तावस्था हैं। काश्मीरीय शैवाचार्य यद्यपि शान्त रस को प्रधान बतलाते हैं तथापि वे शिव शक्ति के सामरस्य रूप में शृङ्गार का शान्त से समन्वय करते हैं।' (द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ १८३)।

'जय और विनाश इन दो बिन्दुओं में अस्थिरता से झूलने वाले मानवी जीवन में जो मूलभूत द्वन्द्व है, वही नष्ट होने पर, नौका की गति रुद्ध होने

पर, फिर द्वन्द्व नहीं रहेगा, कौन सा रस निर्मित होगा, इसका उत्तर है रसव्यूह में शान्त रस का दिया हुआ स्थान। राग भयादि, सुख दुःखादि द्वन्द्वों की तरह रसचतुष्टयों के द्वन्द्वों का उपशम करने पर एक शान्त रस निर्मित होता है। परन्तु इस प्रकार का द्वन्द्वातीत अनुभव जीवन में कुछ प्रक्रिया का हो सकता है। परन्तु जीवन और व्यक्ति मन का द्वन्द्व सदा के लिए कैसे शान्त होगा, इन शब्दों में चर्चा करके श्री दि० के० बेडेकर ने भरत मुनि के जिस प्रकार से रसद्वन्द्व की कल्पना की होगी, उसका एक मानचित्र दिया है—



वेदान्त शैवमत की परम्परा की चर्चा से हम रस के द्वन्द्ववाद में पहुँच गये। अस्तु, महिम्नस्तोत्र के इस श्लोक से यह प्रसंग समाप्त करते हैं—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति,
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।

वैसे शैव तथा वेदान्त दर्शन का निर्गुण सन्तकवियों पर प्रभाव की चर्चा अगले अध्याय में की जायगी।



अध्याय ३

दार्शनिक विश्वास : जीव, जगत्, ब्रह्म, मुक्ति आदि

निर्गुण सन्त कवियों की दार्शनिक मान्यताएं प्रायः एक-सी हैं। यहां हम इस निर्गुण मतपरम्परा का पुराणों में, वल्लभसम्प्रदाय में और महानुभाव, ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ से पुष्टि दिखाकर सन्तों के मत विश्वास संकलित कर रहे हैं। यथासम्भव सन्तों के मूल वचन ही प्रमाणस्वरूप दिये हैं। हम पहले अध्यायों में कह आये हैं कि कबीर बहुदेवतावाद धीरे धीरे एक सार्वब्रह्म की ओर झुका, जो सनेह नहीं था।

यह निर्गुण परम्परा औपनिषदिक है। शैव वेदान्त दर्शनों ने उसे पुष्टि दी। सांख्य वैशेषिक, बौद्ध जैन जैसे निरीश्वरवादी दर्शनों का भी उठा उसमें है। शाक्त और योग मतों का भी परिपाक मिलता है। पुराणों में तो स्वयं भगवान् ने अपने आपको निर्गुण कहा है। पद्मपुराण के पाताल खण्ड में श्रीकृष्ण शंकर से कहते हैं—

१ नारूप निर्गुण व्यापि क्रियाहीन परात्परम्।
यदन्त्युपनिषत्सचा इदमेव ममानघ॥

२ प्रकृत्युत्थगुणाभावादनन्तत्वात्तथेश्वर।
असिद्धत्वान्मद्गुणानां निर्गुण मां वदन्ति हि॥

अर्थात् सारे उपनिषद् मेरे इस घनीभूत निर्मल प्रेममय सच्चिदानन्द रूप को ही निराकार, निर्गुण, सर्वव्यापी, निष्क्रिय और परात्पर ब्रह्म कहते हैं। मुझमें प्रकृति का कोई गुण नहीं है और मेरे गुण अनन्त हैं, उनका वर्णन नहीं हो सकता। मेरे ये गुण प्राकृत दृष्टि से सिद्ध नहीं होते, इसलिए सब मुझे निर्गुण कहते हैं। पद्मपुराण का श्रीकृष्ण अपने आपको निर्गुण कहता है, तो एक अन्य पुराण में भक्त जो स्तुति करता है, उसमें उसने भगवान को त्रिगुणविरहित माना है। विष्णुपुराण के ये श्लोक इस विषय में द्रष्टव्य हैं—

सत्त्वाद्यो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः ।
स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु ॥
सन्धिनी ह्लादिनी संवित् त्वय्येका ह्युपपद्यते ।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते ॥

अर्थात् वे आदिपुरुष भगवान मुझ पर प्रसन्न हों, जो सारे शुद्ध पदार्थों की भी अपेक्षा शुद्ध हैं और जिनमें प्रकृति के सत्त्व आदि गुण नहीं हैं। हे भगवन्! आपमें एकमात्र सच्छक्ति, चिच्छक्ति और आनन्दशक्ति ही है। सुख, दुःख, मोह आपमें नहीं हैं, क्योंकि आपमें त्रिगुण का अभाव है।

इन वचनों से स्पष्ट विदित होता है कि जगत् के व्यवहार की दृष्टि से सत्त्व गुण भले ही सर्वोत्तम हो, किन्तु भगवान में वह प्राकृत सत्त्व नहीं है। भगवान अप्राकृत सत्ता हैं। भगवत्सत्ता से तुलना करने पर प्राकृत सत्त्व अपने उच्चा त्युच्च स्तर में भी तुच्छ है, हेय है। यही तो भगवान की भगवत्ता है।

इस भगवत्ता को पाने के लिए दत्तसम्प्रदाय के या अवधूत मत के अनुसार पहले परमात्मा के स्थूल और सूक्ष्म देह का अन्तर समझना चाहिए। परमात्मा का स्थूल देह विराट्स्वरूप है। वह चतुर्दशभुवनात्मक है। ब्रह्मण्डल का वेष्टन करके जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार और महत्तत्व का कर्दमपिंड विद्यमान है। पृथ्वी तत्त्व सात आवरणों से ढका है। अन्त शून्य और अण्डाकार है। इस अण्ड में पांच भौतिक कर्दमपिंड उत्पन्न होते हैं। वह भीतर से जल द्वारा पिण्ड बनकर सहचर अग्नि के द्वारा सूखता है और घट के समान जल पड़ता है। इसी कारण योगी इसे घट कहते हैं। इसमें वायु होती है। यह अन्त शून्य होती है। अतः बाहर के स्थूल विषयों के ग्रहण के लिए यह सच्छिद्र होता है (अन्ते घटाभावश्चन्द्रोधोऽपि घटाकारा वृत्तिः। न स्वभावाकारा)। यह आत्यन्तिक प्रलय की अवस्था है। बौद्धों में भी मृगतृष्णा, धूम, जुगनू, ज्योति, निरभ्राकाश में सूर्यप्रकाश, यह पांच अवस्थाएं विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार परमज्ञानप्राप्ति में आती हैं।[1]

अवधूत मत में जीवों के अलग-अलग देह ईश्वर के अनुरूप देह से निर्मित होकर उसी में बने रहते हैं। ये सब जीव देह अन्त में ईश्वर देह में विलीन हो

१ बौद्धसाधना, कल्याण, अगस्त १९४०, पृष्ठ–६३७।

जाते हैं। जीव देह ईश्वर देह में अभिन्नता है। जिस तरह हर घर में अँधेरा है पर वह सर्वव्यापी महान्धकार से अलग नहीं है। दीपक के कारण यह अँधेरा अलग अलग जान पड़ता है। दीप न होने पर उसका भाव नहीं रहता। विवेकपूर्वक देखने से जान पड़ता है कि दीपक के होते हुए भी अन्धकार में भेद नहीं है। अलग अलग प्रत्येक जीव में जो अज्ञान है, वह माया स्वरूप से भिन्न नहीं है। जीवों के सब महाकारण महामाया से अभिन्न हैं। इसीलिए जब भगवान् जानते हैं, सब जन जानते हैं, जब वे स्वप्न देखते हैं, सब स्वप्न देखते हैं। सभी रूप उन्हीं के शरीरभेद हैं। समस्त विश्ववर्ग में वही एक ब्रह्मा है। समस्त तैजस वर्ग में वही एक विष्णु है। समस्त प्राज्ञवर्ग में वही एक रुद्र है। आत्माज्ञान ही परमेश्वर ज्ञान है। सब नाम, सब रूप, सब क्रियाएँ एक की ही हैं। परमात्मा सर्वदेवमय, सर्वभूतमय, सर्वलोकमय, सर्वमय, सर्वत्र सम और सबके सग समान है। श्री गोपीनाथ कविराज ने 'दत्तात्रेय सम्प्रदाय के दार्शनिक मतवाद' लेख में इसका विस्तार से विवरण दिया है।

अंगिरा, याज्ञवल्क्य, कपिल, पतंजलि, वशिष्ठ, कश्यप आदि महर्षियों ने इस लययोग को समझाया है। प्रकृति पुरुष के शृंगार से उत्पन्न ब्रह्माण्ड और पिंड दोनों एक ही हैं। समष्टि और व्यष्टि सम्बन्ध से एकत्वयुक्त है। ऋषि, देवता, पितृ, ग्रह, नक्षत्र, राशि, प्रकृति, पुरुष दोनों का समान रूप से स्थान ब्रह्माण्ड और पिंड में है। पिंडज्ञान से ब्रह्माण्डज्ञान हो सकता है। श्री गुरु-पदेश द्वारा शक्तिसहित पिण्डज्ञान करने के बाद प्रकृति को पुरुष में लय करने को लययोग कहते हैं।

पुरुष का स्थान सहस्रार में है और कुलकुण्डलिनीनाम्नी महाशक्ति आधारपद्म में प्रसुप्त हो रही है। उसके सुप्त रहने से ही बहिर्मुखी सृष्टिक्रिया होती है। योगाग द्वारा उसको जागृत करके पुरुष के पास से ले जाकर लय कर देने पर योगी कृतकृत्य होता है, उसीका नाम लययोग है।

योगशास्त्र में इसके नौ अंग बताये गये हैं। यथा—

अङ्गानि लययोगस्य नवैवेति पुराविदः।
यमश्च नियमश्चैव स्थूलसूक्ष्मक्रिये तथा॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं चापि लयक्रिया।
समाधिश्च नवाङ्गानि लययोगस्य निश्चितम्॥

स्थूलदेहप्रधाना वै क्रिया स्थूलाऽभिधीयते ।
वायुप्रधाना सूक्ष्मा स्याद्ध्यानं बिन्दुमयं भवेत् ॥
ध्यानमेतद्धि परमं लययोगसहायकम् ।
लययोगानुकूला हि सूक्ष्मा या लभ्यते क्रिया ॥
जीवन्मुक्तोपदेशेन प्रोक्ता सा हि लयक्रिया ।
लयक्रिया साधनेन सुप्ता सा कुलकुण्डली ॥
प्रबुद्धय तस्मिन् पुरुषे लीयते नात्र संशय ।
शिवत्वमाप्नोति तदा साहाय्यादस्य साधक ॥
लयक्रियाया संसिद्धौ लयबोध प्रजायते ।
समाधिर्येन निरत कृतकृत्यो हि साधक ॥

योगतत्वज्ञ महर्षियों ने लययोग के नौ अंग वर्णन किये हैं यम, नियम, स्थूलक्रिया, सूक्ष्मक्रिया, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, लयक्रिया और समाधि, ये नौ अंग लययोग के हैं। स्थूलशरीर प्रधान क्रिया को स्थूलक्रिया और वायुप्रधान क्रिया को सूक्ष्मक्रिया कहते हैं। यह ध्यान लययोग का परम सहायक है। बिन्दुमय प्रकृति पुरुषात्मक ध्यान को बिन्दुध्यान कहते हैं। लययोगानुकूल अति सूक्ष्म सर्वोत्तम क्रिया केवल जीवन्मुक्त योगियों के उपदेश से ही प्राप्त होती है। लयक्रिया केवल जीवन्मुक्त लयक्रिया कहाती है। लयक्रियाओं के साधन द्वारा प्रसुप्त कुलकुण्डलिनी नामक महाशक्ति प्रबुद्ध होकर ब्रह्म में लीन होती है। इसकी सहायता से जीव शिवत्व को प्राप्त हो जाता है। लयक्रिया की सिद्धि से महालयरूपी समाधि की उपलब्धि होती है, जिससे साधक कृतकृत्य हो जाता है।

बहिरिन्द्रियों को वश में लाने के साधन को यम कहते हैं। अन्तरिन्द्रियों को वश में लाने के साधन को नियम कहते हैं। हठयोग की तरह तैंतीस आसनों में से कुछ आसनों का साधन, पच्चीस मुद्राओं में से कुछ थोड़ी सी मुद्राओं का साधन ये सब लययोग की स्थूलक्रिया कहलाती है। उसी प्रकार हठयोग के आठ प्राणायामों में से थोड़े से प्राणायाम और स्वरोदय आदि की क्रियाएँ लययोग के अनुसार सूक्ष्म क्रिया कहाती हैं। लययोग का पंचम साधन प्रत्याहार है, जो केवल मन की सहायता से किया जाता है। प्रत्याहार सिद्धि प्रारम्भ होते ही योगी नाद का सुनना प्रारम्भ कर देता है। लययोगी

के आठवें अंग में योगी शरीर के अन्दर के षट्चक्रों को जानता और उनकी सहायता से साधन का अभ्यास करता है। योगाचार्यों का मत है कि मेरुदण्ड के नीचे से लेकर मस्तक के ऊपर तक सात ऐसे स्थान हैं, जिनकी सहायता से योगी प्रकृति-शक्ति को नीचे से ले जाकर सातवें सहस्रदल के स्थान में शिवशक्ति का संयोग करके मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इस चक्र की क्रिया के पूर्ण होने पर मुक्ति की प्राप्ति होती है। यह साधन धारणा-साधन से प्रारम्भ होकर समाधि सिद्धि तक सहायता करता है। लययोग के ध्यान का नाम बिन्दुध्यान है। इस प्रकार से योगी साधन करते करते प्रकृति के सूक्ष्म रूप का बिन्दुरूप में दर्शन करता है। उसीका ध्यान बढ़ाते बढ़ाते और उसके साथ लययोग की कुछ और भी लयक्रिया जो गुरुमुख से प्राप्त होती है, उसका साधन करते करते योगी अंतिम क्रिया समाधि की प्राप्ति कर लेता है। लययोग की समाधि का नाम महालय है। लययोग की विशेषता के सम्बन्ध में स्वरोदय की क्रियाएँ और अन्यान्य लयक्रियाएँ, षट्चक्र के भेदन की क्रियाएँ—जैसे व्योमजयी, प्रभाजयी, सुरभिजयी, अजया आदि हैं, जिनके विषय में लययोग संहिता में निम्नलिखित वर्णन है—

सूक्ष्मा योगक्रिया या स्याद् ध्यानसिद्धिं प्रसाध्य वै।
समाधिसिद्धौ साहाय्यं विदधाति निरन्तरम्॥
दिव्यभावयुता गोप्या दुष्प्राप्या सा लयक्रिया।
महर्षिभिर्विनिर्दिष्टा योगमार्गप्रवर्त्तकैः॥
लयक्रिया प्राणभूता लययोगस्य साधने।
समाधिसिद्धिदा प्रोक्ता योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥
षट्चक्रं षोडशाधारान्द्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
पीठानि चोनपञ्चाशज्ज्ञात्वा सिद्धिरवाप्यते॥
समाधिसिद्धिर्ध्यानस्य सिद्धिश्चाप्यनया भवेत्।
आत्मप्रयत्नतो याति चैतया योगचिन्तनः॥

जो सूक्ष्म योगक्रियाएँ ध्यान की सिद्धि कराकर साधन की समाधि सिद्धि में सहायक होती हैं, उन अलौकिक भावपूर्ण, अति गोप्य और अति दुर्लभ उक्त क्रियाओं का महर्षियों ने लयक्रिया के नाम से वर्णन किया है। लयक्रिया ही लययोग का प्राण है और समाधिसिद्धि का कारण है। षट्चक्र, षोडश

आधार से अतीत व्योमपचक और उनचास पीठ, इनको जानने से लययोग में सिद्धि प्राप्त होती है। लय क्रिया के द्वारा होता है।

मन्त्रयोग म जैसे रूप कल्पना द्वारा ध्यान किया जाता है, हठयोग में जैसे भगवान् का ज्योति कल्पना द्वारा ध्यान किया जाता है, लययोग म वैसी कल्पना नही की जाती। लययोग का योगी योगसाधन के द्वारा अन्तर्जगत् में एक अलौकिक योगबिन्दु का दर्शन करता है। उसीको स्थिर रखकर उसीम परमात्मा के ध्यान करने को बिन्दु ध्यान कहते है। यह लययोग की विशेषता है। लययोग की दूसरी विशेषता यह है कि लययोगी यदि चाह तो सारे ब्रह्माण्ड को अपने शरीर म देख सकता है, क्योंकि लययोग सिद्धान्त के अनुसार समष्टिरूपी ब्रह्माण्ड का व्यष्टिरूपी मनुष्यपिण्ड पूरा नमूना है। लययोग की सहायता से ही प्राचीन काल के पूज्यपाद महर्षिगण इस मृत्यु लोक में बैठकर सारे ब्रह्माण्ड का पता लगा सकते थे।

महानुभाव से नामदेव तक कुछ ऐसे शब्दो का प्रयोग मिलता है, जो प्राय सभी ज्ञानाश्रयी भक्त कवियों की रचनाओं में पाये जाते हैं। वे है, 'खसम', 'भरतार', 'निरजन', 'बीठुला', 'सुन्न'। खसम, भरतार और निरजन तो सरहपाद की रचनाओं में मिलते है, जो कि ईसा की सातवी शती में हुए। खसम को प० हजारीप्रसाद द्विवदी ने अपनी 'कबीर' पुस्तक में 'ख सम' अर्थात् आकाश समान या 'सगुण निर्गुण में परे अवस्था' कहा है और उसे उसके अरबी अर्थ पति से भिन्न माना है। सिद्ध सरहपाद ने आठवीं शती में 'खसम' का प्रयोग इसी अर्थ म किया है—

सब्व रूअ तहि खसम करिजाइ
खसम सहावे मणवि धरिजाई।

वही हाल शून्य का है। सिद्ध शान्तिपा ने रुई का दृष्टान्त दिया है—

तुला धुणि धुणि आसुरे आसु।
आंसु धुणि धुणि निखर ससु॥

तुला धुणि धुणि सुणे अहारिउ॥

'निरजन' को नामदेव ने 'निर्मल' और 'ब्रह्म' दोनों अर्थों में प्रयुक्त किया है। कबीर आदि ने तो इस शब्द का आगे और भी प्रयोग किया है। प्रो०

रा० द० रानडे ने 'हिंदी रहस्यवादियों में निरंजन' नामक अंग्रेजी में दिये रेडियो भाषण में इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। महानुभावियों ने 'शून्य' का प्रयोग तो नहीं किया है, पर ब्रह्म को सर्वातीत, केवल, नित्यमुक्त, शुद्ध अरूप्य कहा है। इसके प्रमाण हैं 'सर्वातीत तो' (निर्वचन २०), 'एकु जीव कैवल्य' (एकु परकैवल्य), 'जीव केवल्य ते परकेवल्यरू रमें परकवल्य ते स्वस्वरूपी रमें' (विचार १२१), 'नित्यमुक्त तो' (निर्वचन १०), 'अज्ञानाचे लाश जय लागलेचि न दीसे ते नित्यमुक्त असे जाण माझे स्वरूप' (उद्धव गीता, ३८९-६५६)।

गोरखनाथ के 'शून्य' शब्द के प्रयोग का पहले विचार किया जा चुका है। निवृत्तिनाथ ने 'परमात्मतत्त्व' में कहा है 'दृष्टी जें आगर शून्याचे जं सार। तचि दशमद्वार जाण त्यापा।' और 'निरालम्ब देव निराकार शून्य। मनाचेही भान हरपले।' उज्जैन के प्राच्यग्रन्थसंग्रहालय से प्रकाशित डा० ह० रा० दिवेकर के 'चांगदेव तत्त्वसार' में शून्य का ६२१, ६३९, ६५१, ६५४, ७०१, ७१६, ७२०, ७५८ ओवियों में उल्लेख है। जैसे 'स्वयम् शून्य निर्गुणे। महाबोधे॥'

सिद्ध तेलोपा ने इसी शून्यमयता को 'खसम स्वभाव' कहा है—

चित्र खसम जहि समसुह पइसइ।
इन्दीअ विसअ तहि मत्रण दीसइ॥
आइ रहिअ राउ अन्त रहिअ।
वरगुरू पाअ अद्दअ कहिअ॥

'शून्य' के विषय में आचार्य क्षितिमोहन सेन का मत है कि 'रज्जबजी' ने कहा 'सतगुरु शून्य समान है' (गुरुदेव, अंग ५६)। ये शून्य और सहज शब्द बौद्धों, निरंजन और नाथपंथी योगियों, सहजियों और बाउल आदि संतों में भी हैं। सभी सहजवादी किसी न किसी रूप में शून्य को स्वीकार करते हैं। 'शून्य का भावात्मक जीवनाधार महाकाश न मिले तो कोई भी जीवन-बीज अंकुरित नहीं हो सकता। इसलिए सहजमत में गुरु को शून्य कहा गया है।' 'अमृतानुभव' में ज्ञानेश्वर ने गुरु को इसी प्रकार 'नामरूपशून्य' और केवल 'निवृत्ति' कहा है।

रामानन्दधारा में गुरुपरम्परा से प्रचलित एक नमस्कार है 'नमो नमो निरंजन नमस्कार गुरुदेवत।' यह न हिन्दी, न संस्कृत प्रणाम पुराना है।

दादू ने उसे अपन नाम से चलाया 'दादू नमो निरजन नमस्कार गुरुदेवत'। यह नमस्कार 'पार गत' समस्त सीमाओ के पार गया हुआ है। गुरु यदि शून्य हो तो किसी विपत्ति का डर नहीं। श यता ही आत्मा के विहार की सहज भूमि है। कला मात्र ही अनन्त म आत्मारूपी हस के सहज सगीत का कल्लोल ह (दादू परचा अग ६१)। सु दरदास क 'सहजान द' ग्रन्थ (२-४) म कहा है 'जीव म सहज ही भगवान् का नाम अपने आप नि शब्द भाव से ध्वनित होता रहता हे।' दादू ने कहा हे 'कुछ नहीं का नाम धरि भरम्या सब ससार। पूजनहारे पासि हैं, दही मा है देव। दादू ता कौं छाडि करि बाहिरी माडी सेव' (साच अग १४६-१४८)।

शून्य का उल्लेख ज्ञानेश्वर ने बार बार किया है। द्वैत मन के सकल्प के कारण जान पडता है। प्राणवायु पर स्वामित्व प्राप्त होने पर मन की उपाधि नष्ट हो जाने से जीवात्मा परमात्मा का ऐक्य हो जाता है। कुडलिनी ऊर्ध्वगामी करके प्राणवायु पर निरोध पाया जा सकता है। इस प्रकार से अन्त में 'सामरस्य के मदिर' में जीव मुक्त होकर प्रतिष्ठित हो जाता है। इस प्रकार से जो समाधिसुख, उन्मनी अवस्था या तुरीयावस्था प्राप्त होती है, वह अनिर्वचनीय है। डा० पेंडसे के अनुसार 'शून्य', 'महाशून्य' की यह परिभाषा ज्ञानेश्वर ने नाथपथ से ली है। [1]'हठयोगप्रदीपिका' में परतत्त्व के सम्बन्ध में कहा है 'तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् शून्ये निरञ्जने' (३।५३)। और 'सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्र महापथ। श्मशान शाभवी मध्यमार्गश्चेत्येक वाचका' (३-४)।

यहाँ सुषुम्ना नाडी को शून्यमार्ग कहा गया है। परतत्त्व तो शून्याशून्य से परे है। इस बात को समझाते हुए मन का विलय होने पर कैवल्य कैसे बचा रहता है, इसके विषय में सैंधव सलिल का दृष्टान्त 'हठयोगप्रदीपिका' में और ज्ञानेश्वर में भी दिया है—

कर्पूरमनल यद्वत् सैन्धव सलिल तथा।
तथा सधीयमान च मनस्तत्त्वे विलीयते ॥ ४५९ ॥

'कापुरीं अग्निप्रवेशु। की अग्नि घातला पोतासु। ऐसे नव्हे ससरिसु।

१ श्री ज्ञानेश्वरांचे तत्त्वज्ञान, पृष्ठ-२४१।

वेसु झाला। येका येकू वचला। शू यनि दु शू-य पुसिला। द्रष्टा दृश्याचा निमाला। तस्र होय ॥' ('अमृतानुभव' ७, १७७, १७८)

(कपूर का आग म या आग का कपूर म प्रवश हुआ—ऐसा कहने का कोई कारण नही है, क्योंकि दोनों का नाश एकत्रम होता है। एक म से एक कम करने पर बाकी शून्य रहते हैं, और वह शू-य अपना स्वय का अभाव दिखाता है, उसी प्रकार से द्रष्टा और दृश्य के मिट जाने के बाद होता है।) और 'ज्ञानेश्वरी' मे ६, ३८७ म कहा है 'तेया सुखाचेनि साघात। आले परब्रह्म औनोत। तेथ लवण जसे जलाते साड़ नेण।' (उस सुख के सघात से परब्रह्म स्वय आ जाता है। जैसे लवण जल से अलग नहीं रहता।)

'अमृतानुभव' और 'योगवासिष्ठ' में परमात्मा, जीव, जगत्, अविद्या, माया विषयक सिद्धान्त और दृष्टान्त एक से हैं[1]।

योगवासिष्ठ	ज्ञानेश्वर
अ परमात्मा	अ परमात्माविषयक साम्यस्थल
१ भगवन् जायते शून्यात् कथ नाम वदेति मे ॥ ३ २ ३४	१ ज्ञानेश्वरी १३ ८८०, ९२०, ६ ३१५, ८ २६, १० १६२, १५ ५१४, ७ २४, १८ १२०६। सर्व शून्याचा निष्कर्षु। जिया बाइला केला पुरुषु ॥ जेणे दादुलेन सत्ताविशेषु। शक्ति जाली ॥ 'अमृतानुभव' २७
शून्य नित्योदित सूक्ष्म निरुपाधि पर स्थिरम् ॥ ३ २ ३७	
यतो वाचो निवर्त्तन्ते यो मुक्तै रवगम्यते। यस्य चात्मादिका सज्ञा कल्पिता न स्वभावजा ॥ ३ २ ५	
य शून्यवादिना शून्यो भासको योऽर्कतेजसाम् ॥ ३ ५ ७	(अर्थ—सब शून्यों का यानी दृश्य पदार्थों का निषेध करके जिस परमात्मा का निषेध नहीं कहा गया है, ऐसा वह परमात्मा सब शून्यों का निष्कर्ष या परमावधि है। उस परमात्मा को जिस स्त्री ने पुरुषत्व दिया, उसी पति की सत्ताविशेष को लेकर वह शक्ति बनी।)

१ वही, पृष्ठ–३८६।

२ नभसोऽप्यधिक शून्य न च शून्य चिदात्मकम् । (इस पद का प्राय अनुवाद ज्ञानेश्वर ने किया है ।)

आ आत्मभाव

देशाद्देशान्तर दूर प्राप्ताया सविदा वपु । निमिषेणैव य मध्य तद्रूप परमात्मन ॥ ३ ७ १९

देशदेशान्तरप्राप्तौ सविदो मध्यमेव यत् । निमिषेण चिदाकाशं तद्विद्धि वरवर्णिनि ॥ ३ १७ १२

निमिषार्धभागेन देशाद् देशान्तर स्थितौ । तद्रूप सविदो मध्ये स स्वभाव उपास्यताम् ॥ ६३ ३४ ४७

देशाद् देशान्तर दूर प्राप्ताया सविद क्षणात । यद्रूपममल मध्ये पर तद्रूपमात्मन ॥ ६३ ३५ १

२ ए हवां सूपूरमण तेयाचे पात्र । तरि शून्यचि नव्हे त स्वभावें । वरि गगनाचेनि पालवें । गालूनि घेतल ॥ ८ १२ ॥

आ आत्मभाव व साम्यस्थल

द्रष्टा दृश्याच्या प्राप्ती । मध्य लेखू निफासी । योगभूमिका ऐसी । अगीं वाजे ॥ १८५ ॥

उठिला तरगु जैसे । पडे आणु ही नुमसे ॥ ऐसा ठायीं जैसे । पाणी होय ॥ १८६ ॥

का नीद सरोनि गेली । जागृति नाहीं चेयिली ॥ तेव्हा होय आपुली । जैसी स्थिति ॥ १८७ ॥

नाना येका डाऊनि उठी । अन्यत्र नव्हे पेठी॥ हे गमे तैशिया दृष्टी । दिठीं सुता ॥ १८८ ॥

का भावळो सरला दिवा। रात्रीचा न करी प्रसवो॥ तेणें गगनें हा भावो । वाखाणिला ॥ १८९ ॥

घेतला स्वासु बुडाला । घापता नाहीं उठिला ॥ तैसा दोहीं सी सिवतला । न हे जो अर्थु ॥१९०॥

का अवघाचि करणीं । विषयाची घेणी ॥ करिताचि येके क्षणा । जकी आहे ॥ १९१ ॥

तयासारिखा ठावो। हा निकराचा आत्मावो ॥ येणे का पाहीं । न पाहो लाभे ॥ १९२॥

(अर्थ—द्रष्टा और दृश्य का प्राप्त होने पर मध्यन्तर में जो स्थिति

उत्पन्न होती है उस स्थिति को योग भूमिका कहते हैं। जैसे एक तरग खिसक गई, दूसरी उठी नहीं, इस बीच की पानी की स्थिति। निद्रा पूरी हुई, जागृति पूरी नहीं हुई, इस सन्धि की स्थिति। दृष्टि एक चीज पर से उठी, दूसरी चीज पर नहीं गई, ऐसी बीच की स्थिति से जो देखेगा उसे योगभूमिका कहते है। दिन बीता, रात नहीं शुरू हुई, ऐसी बीच का जो गगन की स्थिति है वह परम आत्मभाव है। लिया हुआ साँस चला गया, दूसरा लिया नहीं, इन दोनों भावों को स्पर्श करने वाली प्राणों की स्थिति। अथवा सब इन्द्रियों का विषय लेने का व्यापार चलते समय भी क्षण मात्र के लिए जो प्रमाता की अवस्था है। वही आत्मा का परम, शुद्ध स्वरूप है। ऐसी स्थिति में आत्मा को देखना कैसे सभव है?)।

इ जीव

स तथाभूत एवात्मा स्वयमन्य इवोल्लसन्। जीवतामुपयातीव भावि नाम्ना कदर्थिताम् ॥ ३ १ १३

एव जीवाश्रिता भावा भवभाव नयोहिता। ब्रह्मण कल्पिताकाराद् लक्षशोऽप्यथ कोटिश ॥ ४ ४३ १

एव ब्रह्मैव जीवात्मा निर्विभागो निरन्तर ॥ ३ १४ २६

इ जीव के माध्यस्थल

अविद्येचे आडवे। भुजीत जीव पणाचे भवे। तया चैतन्याचे धावे। कारणे जो कीं ॥ २ ॥

जयाचेनि कृपा सलिलें। जीउ हा ठाववरी पारवाले ॥ ज शिवपणही वोनिले। अगों न लवी ॥ ११ ॥

जिउ घेतलयाविणे। चालों ने दिसी साजणें ॥ मृत्यु उरे स्वामीपण। तेंहि नव्हे ॥ ३९ ॥

न मनो भिद्यते जातो न जीवाद् भिद्यते मन ॥ ६ पूर्वार्द्ध ३ ७

चि`मात्रमा मा `जीवश्च चिन्मात्र भूतसन्तति ॥ ६ पूर्वार्द्ध २९ १२९

(अर्थ—सद्गुरु निवृत्तिनाथ ऐसे ह कि वे अज्ञानरूपी जगल म मे जन्मा हूँ, मरने वाला हूँ, ऐसे मिथ्या चक्र म पडकर दु ख भोगने वाले जीव चैतन्य की करुणा से आते ह। जिस गुरु क कृपारूप पानी से जीव इतना शुद्ध होता है, जीवता की अपेक्षा से आने वाले शिव`त्र से भी ऊत मानता है। शिष्य का जीव भाव हरे विना आप उसकी शोभा नहीं चलने देते। सेवकपन के सम्बन्ध से आने वाली स्वामिता आपको पसद नहीं।)

('अमृतानुभव', द्वितीय अध्याय)

ई जगत्

अविद्या ससृतिश्चित्र मनोबन्धो मलस्तम । इति पर्यायनामानि दृश्यस्य विदुरुत्तमा ॥ ३ ४ ४७

नहि दृश्यादृते किंचि`मनसा रूप मस्ति हि। दृश्य चोत्पन्नमेवैतन्नेति वक्ष्याम्यह पुन ॥ ४८

अद्वदत्त यथा हेम्नि मृगनद्या तथा जलम्। भित्तिर्यथा स्वप्नपुरे तथा द्रष्टरि दृश्यधी ॥ ३ ४ ५१

यदिद दृश्यते किंचिद् दृश्यजात पुरोगतम्। पर ब्रह्मैव तत्सर्वमजराम रमव्ययम् ॥ ६८

ई जगत्

दृश्य द्रष्टा ऐसे। दो ही अलुमालु दिसें। तेही परस्परानुप्रवेशें। कांहीं नाकीं ॥ अमृ ७ १७४ ॥

तेथं दृश्य द्दष्टा भरे। दृष्टेपण दृश्यीं सरे। मा दोन्ही न होउनि उरे। दोहींचें साच ॥ १७५ ॥

तान्हेलेया मृगतृष्णा। न भेटलिया सिणु जैसणा। मा भेटलिया कोणा। काय भेटलें ॥ २१० ॥

ज दृश्य दृष्टाचि आहे। मा दावणे का साहे। न दाविजे तरि नोहे। तया तो काहीं ॥ २१३ ॥

लेणें आणि भागार। भांगारचि येक स्फुरे। का जेथे दुसरें। नाहीचि म्हणोनि ॥ २३६ ॥

१	आश्रय	प्रकरण ७	१०,११,२४,२५,३०
२	तिरोधान	,,	८,९,१४,१५
३	स्वरूप	,,	५,२३,२५
४	अनिर्वचनीय	,,	२६,३९,४०
५	प्रमाण प्रत्यक्ष	,,	४१,४२,४६,४७
	अनुमान	,,	५४,५५
	शाब्द	,,	२७८,२८९,२९०
	अर्थापत्ति	,,	१०४,२२३
६	निवर्त्तक	,,	७८,८०,१८
७	निवृत्ति	प्रकरण ८	२,७,११
८	निवर्त्तक ज्ञान	प्रकरण ७	५७,१५७,२१६

परन्तु इस विवचन का तर्कयुक्त खडन डा० पेंडसे ने अपने ग्र थ म सातवें अध्याय म किया है ।

श्री न र फाटक ने अपने ग्र थ 'ज्ञानेश्वर वाङ्मय आणि कार्य'[1] में श्रीमच्छंकराचार्य के 'प्रबोधसुधाकर' से निम्न साम्यस्थल सुझाये है—

प्रबोधसुधाकर	ज्ञानेश्वरी
१ क्षीराद्धुद्धृतमाज्य यथा पुन क्षीरता न यातीह ।	१ म्हणोनि तूप होऊनि माघौतें । जेवी दूधपणा न येचि निरुतें ॥
२ दर्पणत प्राक्पश्चादस्ति मुख प्रति मुख तदाभाति । आदर्शऽपि च नष्टे मुखमस्ति यथा तथैवात्मा ॥	२ का आरसा समोर ठेविजे । आणि आपणपे तेथे देखिजे । तरि तधवाचि जाले मानिजे । काय आपीं नाहीं ॥ का परता केलिया आरसा । लोप इनाला तया आभासा । तरी आपणपे नाहीं ऐसा । निश्चय करावा ॥

१ वही, पृष्ठ २३७ ।

३ उरगग्रस्तार्धतनुर्भेकोऽश्नातीह म क्षिका शतश। एव गतायुरपि सन् विपया समुपार्जयत्येव ॥	३ वेडुक सापाचिये तोंडीं। जातसे सबुडबुडीं। तो मक्षिकाचिया कोडी। स्मरेना काहीं ॥ और, ज ददुर साप गिळिजतु आहे उभा। कीं तो मासिया वटोळा जिभा ॥
४ निशि वंशमनि प्रदीपे नीष्यति चौरस्तु वित्तमपहरति। ईरयति वारयति न वा त दीप किं तथात्माऽपि ॥	४ जैसा दीप ठेविला परिवारी कवणात नियमी ना निवारीं ॥ आणि कवण कवणिय व्यापारा ॥ रहाटे तेहि नेणे ॥
५ यद्वत्सूर्येऽभ्युदिते स्वव्यवहार जन कुरुते। तन्न करोति निव स्वान्न कारयति तद्वदात्माऽपि॥	५ ज लोकचेष्टा समस्ता। निमित्त मात्र कीं सविता।

ऊपर ज्ञानेश्वर की रचनाओं से ही अधिक उद्धरण इसलिए दिये गए कि महानुभावों के निखरे सूत्रों की अपेक्षा या नामदेव एकनाथ के का यमय पदों की अपेक्षा सुसूत्र दार्शनिक चिंतन ज्ञानेश्वर म विशेप रूप से मिलता है। 'ज्ञानेश्वरी' का अनुवाद हिंदी म उपलब्ध है इसलिए उसके अंशों के अनुवाद यहाँ अनावश्यक समझकर नहा दिये गए हैं।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि वेदान्ती शुद्धाद्वैतवादियों की जो दर्शनमान्यताएँ हैं, ठीक वही मराठी निर्गुण सन्तों का है। नाथपंथी ज्ञानेश्वर की बात ऊपर हम देख आये ह। महानुभावियों पर दत्तात्रेय सम्प्रदाय की और सूक्ष्मत बौद्ध शाक्त मतों की छाया है। नामदेव म आकर निर्गुण ब्रह्म और साकार विट्ठल एक हो जाते हैं। और एकनाथ के समय तक तो भक्ति का रूप अधिक प्रौढ़ हो जाता है। परन्तु मूल अध्यात्म सूत्र की अन्तर्धारा एक-सी रहने से एकनाथ के 'भारूड'–जैसे उलटबासियों म वही सूक्ष्मतन्तु बराबर मिलता है। यहाँ तक कि बन्ध मोक्ष की कल्पना तक म वही दुर्गापूजकों की अष्टपाशों से मुक्ति की बात मिलती है। ज्ञानेश्वर तीसरी ओवी में, एकनाथस्वामी की श्रीशुकाष्टक पर टीका में ४२ से ४७वीं ओवियों में कहते हैं—

मूल	एकनाथ[1]	ज्ञानेश्वर[2]
भेदाभेदौ सपदि गलितौ पुण्यपापे विशीर्णं। माया मोहो क्षयमधिगतो नष्ट सन्देहवृत्ती ॥	परमात्मा परंज्योती। परब्रह्म परमज्ञप्ति। परात्पर प्रकृति। परात्पर जो ॥	जयाचा भेदाभेद गळाला। शब्द ब्रह्मींच बुडाला। सकळ ब्रह्मबोध आला। निश्चयेसी ॥ १ ॥
शब्दातीत त्रिगुणरहित प्राप्य तत्त्वावबोध। निस्त्रैगुण्ये पथि विचरता को विधि को निषेध ॥	निर्विकार नित्य। निष्प्रपंच निर्निमित्य। निष्कर्म निजसत्य। सत्यमूर्ती ॥	जो पुण्यपापाशीं नातळे अग्नींत न पोळे आपुलनि ज्वाळें। न लिंपे माया मोह विटाळें। झाला संशयरहित ॥२॥
	अज अव्यय अचळ। अरूप अक्षय अढळ। अजरामर अमळ। अनादि जें ॥	जयाचा वाच्यांश निरसला। आणि शुद्ध लक्ष्यांश लाधला। गुणत्रयीं दुरावला। निर्गुण बोधें ॥ ३ ॥
	निःशब्द निष्काम निर्गुण निरुपम। निःसंग निर्व्योम निजानंद ॥	ऐसा झालिया तत्त्वबोध। तयासि कवण विधिनिषेध। तो स्वानंदसुखें क्रीडाविनोद। करित विचरे सदा ॥ ४ ॥

एकनाथ 'भारूड' में जो देवी का जोगाजा[3] है इसके भीतर निम्न अष्टपाश विमोचन का दर्शन है।

अष्टपाशों से मुक्ति आवश्यक है। 'दुर्गासप्तशती' के ८वें अध्याय में कहा गया है—

---

१ अनेककविकृत भक्तिपरमार्थ पर कविता, पृ० ९३, न० चिं० केळकर, १९०३।

२ वही, पृष्ठ–१३७

३ मराठी वाङ्मयाचा इतिहास, खंड दूसरा ल० रा० पांगारकर, पृ०–४४२

अथ सर्वबलदैंत्या षडशीतिरुदायुधा ।
कम्बूना चतुरशीतिनिर्यान्तु स्वबलैर्युता ॥
कोटिवीर्याणि पञ्चाशदसुराणा कुलानि वै ।
शत कुलानि धौम्राणा निर्गच्छन्तु ममाज्ञया ॥
कालका दौर्हृदा मौर्या कालकेयास्तथासुरा ।
युद्धाय सज्जा निर्यान्तु आज्ञया त्वरिता मम ॥

'हे दैत्यगण ! आज मेरी आज्ञा से सारी दैत्यसेना के सहित छियासी उदायुध, चौरासी कम्बु, पचास कोटिवीर्य, सौ धौम्र तथा कालक, दौर्हृद, मौर्य और कालकेय वंशों के असुर युद्ध के लिए तैयार होकर निकलें।'

जिन आठ दैत्य वंशों का नाम लिया है उदायुध, कम्बु, कोटिवीर्य, धौम्र, कालक, दौर्हृद, मौर्य और कालकेय, उन्हें ही आध्यात्मिक दृष्टि से 'अष्टपाश' कहा जाता है। उन अष्टपाशों के नाम 'कुलार्णव तन्त्र' में इस प्रकार गिनाये गये हैं—

घृणा लज्जा भय शङ्का जुगुप्सा चेति पञ्चमी ।
कुल शील तथा जातिरष्टौ पाशा प्रकीर्तिता ॥
पाशबद्धो भवेज्जीव पाशमुक्त सदाशिव ।

'घृणा, लज्जा, भय, शंका, जुगुप्सा, कुल, शील और जाति ये आठ पाश हैं। जो इन पाशों से बँधा हुआ है वह जीव है, और जो इनसे मुक्त है वही सदाशिव है।' ये पाश आठ हैं[1]

१ उदायुध—उद्गत है आयुध जिसका, उसे 'उदायुध' कहते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से इसीका नाम 'घृणा' है। वास्तव में घृणा उद्यतायुध ही है। दूसरे के प्रति घृणा या अवज्ञा का भाव होने से ही हम अहकार को बढ़ाते—उद्यत करते हैं। मैं बड़ा कुलीन और बोधवान् हूँ तथा दूसरे अकुलीन और अज्ञानी हैं ऐसी दृष्टि से ही घृणा का आविर्भाव होता है। इसीसे इसे उदायुध कहा है। घृणा के आलम्बन ८६ हैं, इसीसे उदायुधों की सख्या भी छियासी ही बताई है।

---

१ शिवनारायण शर्मा के 'कल्याण साधना अङ्क' में (पृ०–२४५)।

२ कम्बु—कम्बु शंख को कहते हैं। यह जीव का 'लज्जा' रूप दूसरा पाश या बन्धन है। शंख जाति का एक जलचर जीव होता है। शंख उसका आवरण या खोल है। जिस समय कोई प्रतिकूल वेदना आती है, तो वह अपने हाथ पाँव आदि समस्त अवयवों को सिकोड़कर इसीमें छिपा लेता है। मनुष्य की लज्जा का भी ठीक ऐसा ही स्वरूप है। मनुष्य लज्जा या आत्म गोपन इसीलिए करता है कि उसकी किसी प्रकार की दुर्बलता प्रकाशित न हो। यह भी एक प्रकार का पाश या बन्धन ही है। भेदज्ञान से ही लज्जा या संकोच का आविर्भाव होता है। पहले (अध्याय-५, श्लोक-४५ में) जो—

या देवी सर्वभूतेषु लज्जारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥

ऐसा कहकर मातृरूप से लज्जा को प्रणाम किया है, उसीके फलस्वरूप आज यह कम्बु असुर के रूप से आत्म बलि देने को उपस्थित हुआ है। इसकी संख्या चौरासी है, क्योंकि यह चौदह प्रकरणों का आश्रय करके षाटकौशिक देह में ही प्रकट होती है। इससे शुम्भ आदेश करता है 'कम्बूनां चतुरशीतिः।'

३ कोटिवीर्य—जिसका अतुलित पराक्रम हो, उसे कोटिवीर्य कहते हैं। यह जीव का 'भय' नामक तीसरा पाश है। भय वस्तुतः कोटिवीर्य है। जीव को अपने अस्तित्वनाश का भय न तो दिल खोलकर सांसारिक भोगों को ही भोगने देता है और न पूर्णतया साधन भजन में ही लगने देता है। इस भयरूप कोटिवीर्य असुरकुल का आविर्भाव पारमार्थिक सत्ता के अप्रकाश के कारण ही है। दस इन्द्रियाँ और पाँच कोश इस असुरकुल के प्रकाशस्थान हैं। इस प्रकार भयनामक पाश के पचास भेद होने के कारण ही उक्त मन्त्र में 'कोटिवीर्याणि पञ्चाशत्' ऐसा कहा है।

४ धौम्र—धूम्रनामक असुर के वंश को धौम्र कहते हैं। यह धूम्र हमारा पूर्वपरिचित धूम्रलोचन ही है। सब प्रकार की शंकाओं का आविर्भाव विपर्यय ज्ञान से ही होता है, यही धूम्र है और इससे आविर्भूत होनेवाला 'शंका' नामक चतुर्थ पाश ही धौम्रवंशीय असुरसमूह है। भय और शंका में भेद यह है कि भय अपने अस्तित्वनाश की आशंका को कहते हैं और शंका अपने से सम्बन्धित पदार्थों के विनाश की आशंका को। अथवा यों समझिये कि भय अपनी

मृत्यु का होना है और शोक धन, सन्तान आदि अपने वस्तुओं के नाश की। भेदप्रतीति से ही इसका आविर्भाव होता है, इसलिए यह भी एक बन्धनविशेष है। दस इन्द्रियाँ, और सूक्ष्म स्थूल भेद से दस भूतों का आश्रय करके ही इसका प्रकाश होता है, अतः असुर कुल की संख्या सौ है। इसी से मन्त्र में 'शतं कुलानि धौम्राणाम्' ऐसा उल्लेख हुआ है।

५ कालक—'काल' शब्द के आगे स्वार्थ में 'क'-प्रत्यय होने से यह पद सिद्ध होता है। इसका अर्थ है, काले रंग का असुर। यही 'जुगुप्सा' नामक पाँचवाँ पाश है। अज्ञान कृष्णवर्ण है, अज्ञान से ही बहुत्वप्रतीति या भेदज्ञान पुष्ट होता है तथा भेदज्ञान से ही जुगुप्सा, निन्दा अथवा छिपाने की इच्छा का आविर्भाव होता है। साधक जब तक एकत्व में उपनीत नहीं होता, तब तक वह किसी प्रकार कालक असुररूप जुगुप्सा के पंजे में परित्राण नहीं पाता।

६ दौर्हृद—यह दुर्हृदनामक असुर का वंशधर है। दुष्ट भावों का आहरण करनेवाले को दुर्हृद कहते हैं। उसका वंशज यह दौर्हृद 'अभिमान' रूप छठा पाश है। साधक को हजार बार अद्वय ब्रह्मसत्ता का उपदेश दिया जाए, तब भी कुलाभिमानरूप अज्ञान के कारण वह उसे ग्रहण नहीं कर सकता, अतः यह अभिमानरूप पाश भी एक आसुर भाव ही है।

७ मौर्य—यह मुरनामक असुर की सन्तान है, आध्यात्मिक दृष्टि से यह जीव का 'शील' संज्ञक सातवाँ पाश है। 'शील' शब्द का अर्थ है, स्वभाव या प्रकृति। अद्वय पद तक पहुँचने में अपना स्वभाव या प्रकृति अन्तराय है। प्रकृति ही जीव की जन्मदात्री माँ है। जिन्होंने इस सत्य को अनुभव कर लिया है, केवल वे ही इस रुद्रग्रन्थि भेद के क्षेत्र में पहुँचकर यह अनुभव कर सकेंगे कि यह प्रकृति स्वयं ही जीव को छोड़कर अव्यय आनन्दमयी सत्ता का पता लगा देती है। अपनी प्रकृति को 'माँ' न कह सकने पर विश्वाकृति का पता ही कभी नहीं पाया जा सकता और विश्वाकृति का पता पाये बिना विश्वातीत क्षेत्र में निरंजन स्वरूप में उपनीत नहीं हुआ जाता।

८ कालकेय—यह कालक असुर की सन्तान है। यही जीव का 'जाति' नामक आठवाँ पाश है। अज्ञान या भेदज्ञान से ही जात्यभिमान पुष्ट होता है, इसी से इसे कालक अर्थात् अज्ञानरूप कृष्णवर्ण असुर की सन्तान यानी कालकेय

कहा जाता है। वास्तव में ये कुल, शील, जाति आदि प्रत्यय अत्यन्त कठिनता से दूर होनेवाले हैं। ये बार बार विलीन होने पर भी फिर आविर्भूत हो जाते हैं। इन प्रतीतियों को समूल नष्ट करने के लिए ही मा का यह साधन समर रूप चरम आयोजन है।

एकनाथ स्वामी का 'जोगवा' इस प्रकार से है —

अनादि निर्गुणा प्रगटलि भवानी ।
अन्महिषासुरमर्दना लागुनी ।
त्रिविध तापाची कराया झनाझणी ।
भक्ता लागोनी पावसि तू निर्वाणी ।
आइचा जोगवा जोगवा मागेन ।
भेद रहित वारीसी जाइन ।
हातीं बोधाचा झेंडा मी घेइन ।
द्वैत मारूनी माळ मी घालीन । ध्रु० ।
नवविधा भक्तीच्या करूनी नवरात्रा ।
पोटा मागेन मागेन ज्ञानपुत्रा ।
धरूनि सद्भाव अन्तरीच्या मैत्रा ।
दंभ ससारा सोडीन कुपुत्रा ॥ १ ॥
हातीं बोधाची घेईन परडी ।
आशातृष्णेच्या पाडीन दरडी ।
मनोविकार करीन हे कुरवडी ।
अद्भुतरसाची भरीन दुरडी ॥ २ ॥
आता साजणि ग झाले निसग ।
विकल्प नवऱ्याचा सोडियला म्या सग ।
कामक्रोध हे झोडियले म्या माग ।
केला मोकळा मारग म्या सुरग ॥ ३ ॥
ऐसा जोगवा मागूनी ठविला ।
जाउनि नवस महाद्वारि फेडिला ।
एकाएकीं म्या जनार्दन दखिला ।
जन्ममरणाचा म्या फेरा चुकविला ॥ ५ ॥

(अर्थ—अनादि निर्गुणता भवानी अहम्रूपी महिषासुर के निर्दलन के लिए प्रकट हुई है। त्रिविध तापों का वह आइकर निर्वाण के समय भक्तों से मिलेगी। माता की 'जागरा' (मानता) मैं माँगूँगी, भेद से विरहित होकर वारी (तीर्थ) पर जाऊँगी। हाथ में बोध का छड़ा लूँगी। द्वैत हटाकर मैं माला पहनूँगी। नवधा भक्ति की नवरात्र करूँगी, सद्भावरूपी अन्तरंग के मित्र को पकड़ूँगी, ज्ञानपुत्र मेरे पेट में आ जाय ऐसा माँगूँगी, दम्भपरिवार को उस कुपात्र को छोड़ूँगी। हाथ में बोध की टोकनी लूँगी, आशा तृष्णा की भीत तोड़ दूँगी, अपने मनोविकार न्योछावर करके, अद्भुत रस की मैं 'दुरडी' (गोद) भरूँगी। अब सजनी, मैं निस्संग हो गया हूँ। मैंने विकल्परूपी पति का साथ छोड़ दिया। काम, क्रोध ये जल्लाद मैंने मार डाले। अपना मार्ग जो सुरत में से है, मैंने मुक्त कर लिया। ऐसा 'जोगवा' मैंने माँग रखा है। इसकी मानता अन्त में नवद्वारों में जाकर पूरी की है। इतने में मैंने गुरु एकाजनार्दन देखा, जन्म मरण का फेरा अब मिथ्या हो गया।)

इस प्रकार से निर्गुण भक्ति की परम्परा महाराष्ट्र में बारहवीं से सोलहवीं शती के आरम्भ तक अविच्छिन्न रूप में हमें मिलती है। ज्ञानेश्वर के 'भक्तराज' ग्रन्थ का आरम्भिक नमन इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है

नमो जी अनादिसिद्धा। अनन्ता आनन्दकन्दा।
चिदानन्दा अभेदा। अविनाशा तू॥ १॥
अजरा अमरा अचळा। अद्वैत अखण्ड अढळा।
अरूपा असंगा अकळा। अपरपारा तू॥ २॥
नमो अलक्षा अनामासा। अनुपम स्वयं प्रकाशा।
अप्रमाणा आत्महंसा। निरंजना तू॥ ३॥
निरालंबा निरंतरा। निर्मोहा निर्विकारा।
निर्गुणा निराकारा। निर्वैरा तू॥ ४॥
नमो व्यापक महदाकाशा। सत्तापूर्ण सदाभासा।
सदोदित सर्वेशा। सर्वादि तू॥ ५॥
प्रपंचाकार प्रकाशकू। चराचर आभासकू।
उत्पत्ति नाश पालकू। कारण तू॥ ६॥

एकचि तू परि अनेकू । अभेद परि अनतवपू ।
बहुव्यापी बहुनायकू । सर्वबीज तू ॥ ७ ॥

इसमें परमतत्त्व को एक साथ और एक और अनेक, अभेदमय और अनतवपपूर्ण, अनाभास और सदाभास कहा गया है। यही बात आगे एकनाथ के प्रसग में एकनाथ के दर्शन के विषय में पांगारकर ने कही है कि उनका ब्रह्म[1] निर्गुण, सगुण मूर्ति में भी है और वह सब होकर उनसे अतीत भी है।

अगले अध्याय में हम चक्रधरादि महानुभाव, ज्ञानेश्वर, नामदेव और एकनाथ का परिचय, ग्रन्थरचना और उनमें प्राप्त काव्य तथा दर्शन का संक्षेप में विवेचन करेंगे।



[1] वही पृ०-३१९, अध्याय १०,

अध्याय ४

महाराष्ट्र के निर्गुण कवि

चक्रधर, महानुभाव, ज्ञानेश्वर, नामदेव और एकनाथ

चक्रधर

कालक्रम से वस्तुतः महानुभाव संत पहले आने चाहिये। इनका परिचय हम परम्परा नामक अध्याय में विस्तार से दे चुके हैं। डी० के० भीमसेन राव के कन्नड ग्रन्थ आन्ध्र-महाराष्ट्र-तेलगु साहित्य के तुलनात्मक विवेचन में बसवेश्वर के वीरशैव सम्प्रदाय और चक्रधर के महानुभाव सम्प्रदाय की तुलना में भिन्न बातें मिलती हैं

साम्य

बसवेश्वर	चक्रधर
१ जातिभेद, वर्णभेद अमान्य।	१ जातिभेद, वर्णभेद, अमान्य।
२ स्त्रियों और शूद्रों को भी ब्रह्मज्ञान हो सकता है।	२ स्त्री शूद्र दोनों ही ब्रह्मज्ञान पा सकते हैं।
३ स्त्रियों का सन्यासग्रहण। (बौद्धों की भाँति)	३ स्त्रियों का सन्यासग्रहण।
४ मद्य मांसादि मकारवर्जित।	४ मकारवर्जित।
५ अहिंसा का प्राधान्य।	५ अहिंसा का महत्व।
६ सन्यासी और सन्यासियों के लिए भिक्षान्न अनिवार्य।	६ महानुभावियों के लिए भिक्षान्न आवश्यक।
७ जंगम या शैव सन्यासियों के लिए भिक्षान्न अनिवार्य।	७ जंगम भी महानुभावों में सम्मिलित।
८ कन्नड में ग्रन्थ लिखे, परन्तु संस्कृत का ज्ञान अवश्य रहा।	८ मराठी में ग्रन्थ लिखे, संस्कृत विद्याओं में अधीन।

९ ब्राह्मणकुलोत्पन्न ।	९ ब्राह्मणकुलोत्पन्न ।
१० वचनशास्त्र आचारसूत्र ।	१० चक्रधर के सूत्र 'निर्वचन' कहे गये हैं ।

मेद

१ वेद प्रमाण नहीं ।	१ वेदोपनिषद् मान्य ।
२ शिव आराध्य ।	२ कृष्ण दत्तात्रेय आराध्य ।
३ निराकारोपासना पर अधिक बल ।	३ साकारोपासना भी वर्जित नहीं ।
४ सूत्रों के साथ उपमा दृष्टांतों से उनका स्पष्टीकरण होता है ।	४ सूत्र मात्र ।
५ पद्यबद्ध काव्य अधिक, दर्शन का पुट मात्र ।	५ गद्य, काव्य की मात्रा कम । दार्शनिकता अधिक ।

फिर भी महानुभावियों का दर्शन निर्गुण परब्रह्म को मानता था, यह बात निश्चित है, जैसा कि डा० वि० भि० कोल्ते के 'महानुभाव तत्त्वज्ञान' ग्रंथ के पृष्ठ १०२ मे स्पष्ट है । वे कहते हैं-'शक्तिरूप धर्म की भाँति शक्तिरूप गुण भी ब्रह्मस्वरूप म नहीं हैं । इसीलिए उसे 'निर्गुण' कहते हैं । ब्रह्मस्वरूप निर्गुण होने से किसी भी प्रकार का कार्य वह स्वय कभी नहीं कर सकता । जीव की तरह ब्रह्मस्वरूप भी कभी विभाजित नहीं हो सकता । प्रमाण है 'विचारबद' का सूत्र 'तथा ब्रह्म ही स्वरूपे न विभागे आन जीवस्वरूप ही न विभागे'(१४७) और महावाक्यप्रमेय का सूत्र 'तेरी ब्रह्म म्हणिजे काइ ना येथ ब्रह्म म्हणिसले या निर्गुण पदार्थु एकु आति' । देवता और परमेश्वर जैसे अलग अलग प्रकार से अवतार धारण करते हैं, वैसे ही ब्रह्म स्वरूप कभी धारण नहीं करते । और अवतार धारण करके वे 'साकार, सावयव' नहीं होते । इसीलिए वह जीवोद्धारण का कार्य नहीं कर सकते । इसका प्रमाण है, उद्धरण १८ 'साध्य साधनाकारें आकारले करचरणवत ब्रह्म हें' । यहाँ ब्रह्म शब्द सूक्ष्मार्थ से सद्ब्रह्म के लिए प्रयुक्त न होकर स्थूलार्थ से ईश्वर के लिए प्रयुक्त है । और 'विचारस्थल' में (१४७) 'ब्रूहत्तर ते ब्रह्मस्वरूप हे कारण ' तेथ कार्य नाहीं का ते गुणधर्म

रहित उद्धरण व्यापार नाही केवळ लक्षण'। तथापि, परमेश्वर अपने ज्ञानमार्ग से उन जीवों को ब्रह्मस्वरूप तक पहुँचाता है, और वहाँ पालन करता है। उन्हें अपने स्वरूप का आनन्द भोग कराने की समृद्धि ब्रह्मस्वरूप में है। प्रमाण है 'आनन्द दुमदुमितु असे ब्रह्म ते नि शब्द' (विचारमालिका-१५५)। इतनी बात छोड़ दें तो किसी 'उपाधिमत' निरूप की भाँति ब्रह्मस्वरूप कहीं है भी या नहीं, यह निश्चित करना कठिन है। प्रमाण 'ब्रह्म ते अस्ति नास्ति ऐसे याचि विरजो नव्ह' (विचारमालिका १७) क्योंकि यदि वह है, तो उसका कोई कार्य नहीं दिखायी देता। औरों की बात तो दूर, स्वयं ईश्वर के उपयोग में भी वह नहीं आता। और वह नहीं है कहें तो नित्य पदार्थों में उसकी गणना है। ब्रह्म की इस निष्क्रियता के कारण और (मराठी) व्याकरण के अनुसार उसके लिंग पर श्लेष करके उद्धवगीताकार भास्कर भट्ट बोरीकर ने ब्रह्म मिलन के आनन्द को माना है। यथा 'आणीक एक ब्रह्म ते तव नपुंसक म्हणोनि तयाचिये मीळनी सुख ते तव घडेचि ना।' (७८४) परन्तु ईश्वर के आनन्द से ब्रह्मानन्द जो कम कहा गया है, वह केवल उसके निर्गुणत्व के कारण नहीं।'

चक्रधर के सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए, ह० ना० नेने ने महानुभाव तत्त्वज्ञान गीता पर आधारित अधिक है, ऐसा कहा है। चक्रधर के 'अन्वया वृत्ति' प्रकरण में कर्मभूमि के देवताओं से चैतन्य तक देवताओं का वर्णन करके उन सब से परमेश्वर कैसे श्रेष्ठ है, यह बताया है। वह जीव प्रपंचव्यतिरिक्त सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर एक ही है और सर्वशक्तियुक्त है, ऐसा 'महावाक्य' में कहा गया है। 'महावाक्य' के अनुसार—

सत ब्रह्म
चित माया
आनन्दु ईश्वरू

इन तीनों में अंशांशी भेद नहीं हो सकता। तीनों एक ही हैं, जैसे क्षीर और नीर। ब्रह्म सकलधर्मविरहित है। माया आद्या शक्ति है, और ईश्वर शुद्ध बुद्ध, नित्यमुक्त, अक्रिय, अमूर्त है। निर्वचन-१७ के अनुसार परमेश्वर जो वास्तव में निर्गुण निराकार है, वह माया के कारण ऐसा गुणवन्त जान पड़ता है। ये सब विरुद्ध धर्म माया के कारण हैं। माया के द्वारा ही परमेश्वर सगरण

और सहरण कार्य करता है। इसी माया के कारण जीव में चार प्रकार के मल व्याप्त होते हैं: विश्वमल, प्रकृतिमल, विकृतिमल, विकृति विकृति मल। ये चारों मल और दुर्गासप्तशतीवाले अष्टपाश बहुत कुछ बेकन के 'नोवम आर्गनम' के 'चार आइडोला' की तरह से हैं। अज्ञान, अधीनता और अविद्या इन तीन 'कर्मराहादी' के बन्धों से जीव का मुक्त होना ही उसका उद्धरण है। आचार मालिका के अनुसार 'स्वातन्त्र्य ही मोक्ष पारतन्त्र्य ही बन्ध' माया, देवता, प्रपंच आदि के अधीनत्व से परमेश्वर के द्वारा जीव की मुक्ति ही मोक्ष है। और इस मुक्ति की प्राप्ति के लिए साधना और आचार का विस्तार से वर्णन चक्रधर ने किया है।

ज्ञानेश्वर

महानुभावों के बाद दूसरे महत्वपूर्ण निर्गुण सन्त हैं—ज्ञानेश्वर। ज्ञानेश्वर का जन्म शक ११९७, श्रावण वद्य अष्टमी को आलन्दी में हुआ और वहीं शके १२१८, कार्तिक वद्य अष्टमी को वे समाधिस्थ हुए। ग्रन्थ मुख्यतः 'ज्ञानेश्वरी', 'भावार्थदीपिका', 'अमृतानुभव', और 'चांगदेव पासष्टी' हैं। ज्ञानेश्वर पर शैवमत का प्रभाव विशेष रूप से था। नाथपंथ का प्रमुख आराध्य शिव होने से उनके 'अमृतानुभव' के आरम्भ में 'शिवसूत्रों' का उल्लेख है। यह शिवसूत्र कौन से हैं? जे० सी० चटर्जी ने 'कश्मीर शैविज्म' ग्रन्थ में कहा है, 'शिवसूत्र' कश्मीर शैवों का प्रमुख ग्रन्थ है। वह वसुगुप्ताचार्य ने आठवीं शती के अन्त में या नौवीं शती के आरम्भ में रचा। सोमानन्द ने नौवीं शती में, अभिनवगुप्त ने दसवीं तथा क्षेमराज ने ग्यारहवीं शती में उस पर टीकाएँ लिखीं। इस प्रत्यभिज्ञाशास्त्र को ही त्रिक या त्रितयशास्त्र भी कहते हैं, क्योंकि इसमें—

शिव, शक्ति, अणु,
पति, पाश, पशु,
शिव, शक्ति, नर, —ये त्रिक विवेचित हैं।

यह सम्प्रदाय विवर्तवाद नहीं मानता। प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी में कहा गया है कि—'विवर्तं हि अस्वरूप निर्भासात्मा इत्युक्तम्, निर्भासनं च असत्यम् च इति कथमिति न चिन्तितम्। तस्मात् अनपह्नवनीयप्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभावः परमशिवः स्वातन्त्र्यात् रुद्रादिस्थावरान्तप्रमातृरूपतया नील

सुखादिप्रमयतया च अनतिरिक्तयापि अतिरिक्तयेव प्रकाशत इति स्वातन्त्र्य वाद प्रोन्मालित'। 'विश्व विवर्त या भास नही है। परमा मा स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी इच्छा से, ज्ञातृज्ञेयरूप म प्रकाशित होता ह। भास जिस वस्तु पर होता है, उस वस्तु का सत्यस्वरूप ढाँक देता ह। पर तु परमा मा प्रकाशरूप और ज्ञानरूप ह, इसलिए उसका स्वरूप कोन ढाँक सकता है, इस कारण से उससे भिन्न कोइ वस्तु निर्मित नहीं हुइ।' इस मत की ज्ञानेश्वर पर बडी छाया ह। 'अमृतानुभव' के पहले प्रकरण म ६४ ओवियों म शिवशक्ति का स्वरूप, उनका ऐक्य, ऐक्य म द्वैत, शक्ति की भिन्न भिन्न भासित होनेवाला क्रीडा, शिव को शक्ति बिना भिन्न न नही और शिव के बिना शक्ति का महत्व नही। यदि इस जोडी म से कोइ एक भी जागृत हो तो विश्व का यह दृश्य पसारा नष्ट होता है।

'शिवशक्ति का यह स्वरूप और कार्य समझाने के लिए ज्ञानेश्वर ने दृष्टा तों की झडी सी लगा दी ह छोटे डण्डे दो होन पर भी उनसे एक दूसरे के आघात से उद्भूत आवाज एक होती है, फूल दो होने पर भी उनकी सुगन्ध एक ही होती है, दीपक दो हों फिर भी प्रकाश एक ही होता है, दो ओठों से बाहर निकलनेवाला शब्द एक ही ह, दो आँखों की दृष्टि भी एक ही है—ऐसा ही शिवशक्ति का सम्ब ध ह। गुड और उसकी मिठास, कपूर और उसकी गध, दीपक और उसका प्रकाश ऐसी भेदभाषा बोलने की पद्धति है। पर तु गुड के बिना मधुरता नही होती और मधुरता के बिना गुड़ सम्भव नहीं, फिर भी गुड और मधुरता अलग अलग ह, यह भी मानना पडता है। गुड मधुरता का भेद ज्ञानमात्र यानी बुद्धिगम्य है। इसी प्रकार से सोना और कान्ति, हवा और गति, अग्नि और उष्णता, कस्तूरी और परिमल, सूर्य और प्रकाश के दृष्टान्त दिये हैं। अन्त में दोनों को एकरूप वन्दन करते समय फिर से कहा है कि शिव शक्ति स ही है, उससे भिन्न नही, फिर भी दोनों को भिन्न जानकर यह वन्दन है। अहकार का निरालापन शम्भु को अर्पित करके वन्दन के कारण मैं शाम्भवी म पूर्णत विलम गया हूँ।'[1]

---

१ न० र० फाटक ज्ञानेश्वर वाङ्मय आणि कार्य, पृ० - ।

डा० पडम के मतानुसार शैवसूत्रों से ज्ञानेश्वर ने निम्न बात ली है।[1]

१ 'ज्ञानबंध' (शिवसूत्र १-२, २-३) का 'अमृतानुभव' (३-१६) में स्पष्ट उल्लेख है। परन्तु 'शिवसूत्रविमर्शिनी'—जैसा अर्थ ज्ञानेश्वर ने नहीं किया है। शिवसूत्र सुषुप्तु स्वमोहादिवृत्तिरूप भेदात्मक ज्ञान मानते हैं तो ज्ञानेश्वर ज्ञान से शास्त्रज्ञान अथवा वैषयिक ज्ञान मानते है।

२ 'योगभूमिका' शब्द ज्ञानेश्वर ने शिवसूत्रों से लिया है। परन्तु शिव सूत्र उसे आत्मैक्य की अनुभूति मानते हैं तो ज्ञानेश्वर द्रष्टा के एक दृश्य और दूसरा दृश्य देखने के बीच की स्थिति को योगभूमिका कहते हैं, जहाँ 'अनुभविता, अनुभव तथा अनुभाव्य की त्रिपुटी' शेष नहीं रहती।

३ 'लाभ' भी शिवसूत्रों का पारिभाषिक शब्द है। भेदात्मक अहं प्रत्ययात्मक ज्ञान उसका अर्थ है।

४ चैतन्यस्वरूप आत्मा प्रमाणातीत है। शिवसूत्रविमर्शिनी में कहा है—

स्वपदा स्वशिरश्छाया यद्वत् लंघितुमीहते।
पादोद्देशे शिरो न स्यात् तथेयं वैन्दवी कला॥

---

१ इस विवेचन का मूल ओंविया अमृतानुभव' से यों है

दो दीपां एकी दीप्ति। दोहों फुलां एक वृत्ति॥
दोन्ही दिवा दीप्ति। येकचि जैवीं ॥ १८ ॥
ना ओठा येवी ओठा। दो डोळा येवी दिठी॥
तजा बोधा निद्रा मुद्रा। येवीच जेवीं ॥ १९ ॥
गोडा आणि गुळु। कापुर आणि परिमळु॥
निवडू जाता पांगळू। निवाड होय ॥ २३ ॥
मणिम दीप्ति येता। जेवि दीपुचि ये हाता॥
तेवि जियेचिया तेवता। शिवुचि लाभे ॥ २४ ॥
म्हणोनि भूतेशु आणि भवानि। वेगिळी न करवति मिनाला॥
मी निपालों नमनीं। हें ऐसें॥ ६० ॥
सांडुनि मोठेपणाचा लाभु। मिठें सिंधुत्वाचा घेतला लाभु॥
तवि अहं देऊनि शम्भु। शाम्भवी न्हालों॥ ६३ ॥
शिवशक्ति समावेशें। नमन करें म्या ऐसें॥
रम्भागर्भ आकारें। दिवाला जैसा॥ ६५ ॥

बिल्कुल यही दृष्टान्त ज्ञानेश्वर ने 'अमृतानुभव' (७ ११७ ११८)[1] में दिया है।

५ आवरणानुपपत्ति की कल्पना शंकर के अध्यासभाष्य में भी है।

६ अनल उष्णता, सूर्यप्रभा, सूर्यरश्मि, जलतरंग, वह्निज्वाला आदि शिवशक्ति के दृष्टान्त शिवसूत्र विमर्शिनी में भी हैं और ज्ञानेश्वर में भी हैं।

७ 'ह्रद' या गहरे सरोवर की कल्पना भी शिवसूत्र (१६) और ज्ञानेश्वरी (६, ११७) में एक सी है।

८ विश्व को फेन मानना दोनों में एक सा है।

९ स्फूर्तिवाद।

१० संसार स्वप्नवत् है। शिवसूत्र (४१) और ज्ञानेश्वरी (९, ६७-६८) में साम्य है। पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक ये तीनों सत्ताएँ ज्ञानेश्वर ने भी मानी हैं।

११ तुरीयावस्था में आत्यन्तिक एकाग्रता, जिसे ज्ञानेश्वर ने 'निजराचा आसभाव' कहा है।

१२ भेद औपाधिक है, यह बताने के लिए स्फटिक का दृष्टान्त। परमार्थसार (५, २५) और ज्ञानेश्वरी (८, ४१-४२-४३) में साम्य है।

ज्ञानेश्वर और कश्मीरी शैवों में छत्तीस तत्त्वों के विवरण में अन्तर है। सांख्य के चौबीस तत्त्व तो दोनों ने ही माने हैं। परन्तु ज्ञानेश्वर के अन्तिम बारह और शैवों के प्रथम बारह तत्त्व भिन्न हैं। ज्ञानेश्वर ने शैवों का 'मातृकाचक्र' भी नहीं लिया है। 'पशु, पाश और पति' वाली परिभाषा भी ज्ञानेश्वर ने ज्यों की त्यों नहीं ली। कश्मीरी शैव आत्मख्याति से अद्वैत सिद्ध करते हैं, तो शंकर अनिर्वचनीयख्याति से।

---

१ का मस्तकात निर्धारिली। जो छाया उठों पाहे आपुली।
तयाची फारावली बुद्धि जैसी॥
तसें दणवोनी सर्वथा। ह ने ऐसा यवर।
करी तो चुके हाता। वस्तूचा जिवे॥
बिलकुल यही बात कार्ल मार्क्स ने अलग शब्दों में कही थी—
'वन कैनाट क्लाइम्ब हिज ओन शोल्डर्स'।

ज्ञानेश्वर पर पांचरात्र दर्शन का प्रभाव बिल्कुल नहीं पड़ा है, ऐसा डा० पडसे का मत है। 'पांचरात्रदर्शन' के विवरण में बलदेव उपाध्याय ने अपने 'भारतीय दर्शन' में[1] जो कारणपरम्परा दी है, वह इस प्रकार से है शुद्धेतर सृष्टि अन्तर्यामी प्रद्युम्न > कूटस्थपुरुष > मायाशक्ति > नियति > काल > सत्वगुण > रजोगुण > तमोगुण > स्थलसूत्र > पंचतन्मात्र > बुद्धिअहंकृति > वैकारिक > तैजस, भूतात्मक और वैकारिक के बुद्धीन्द्रिय, मन, कर्मेन्द्रिय। इस प्रकार की मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताओं में ज्ञानेश्वर नहीं गये।

संक्षेप में, ज्ञानेश्वर निश्चित रूप से निर्गुणवादी थे, यह डा० पडसे[2] ने सिद्ध किया है। 'उपनिषद्, बौद्ध, योगवासिष्ठ, शैवाद्वैत, शंकराचार्य, सभी ने अद्वैत प्रतिपादन किया है और ज्ञानेश्वर ने भी। केवल अन्वयप्रकार ही लेकर ज्ञानेश्वर को शंकर से भिन्न बतलाना युक्तियुक्त नहीं है। ज्ञानेश्वर ने व्यतिरेक की भाँति अन्वय का भी विवेचन किया है, फिर उनका झुकाव व्यतिरेक की ओर अधिक है और शंकराचार्य की भाँति वे भी निर्गुण, निर्विशेष के समर्थक थे, ऐसा वामन पंडित का भी विश्वास था। ज्ञानेश्वर का दर्शन शांकर तत्त्वज्ञान की भाँति अद्वैतवादी है। यह अद्वैत सिद्ध करने के लिए ज्ञानेश्वर ने शंकर के अनिर्वचनीय मायावाद का अथवा अज्ञानवाद का उपयोग तो किया ही है, परन्तु उसके अतिरिक्त गौडपादकारिका, योगवासिष्ठ, शैवाद्वैत और नाथपंथियों के अद्वैतसिद्धि के लिए प्रयुक्त युक्तिवाद को भी लिया है। इस कारण से ज्ञानेश्वर का निर्गुण, निर्विशेष, अद्वैत दर्शन एक ओर से शून्यवादी और मायावादी और दूसरी ओर विज्ञानवादी, दृष्टिसृष्टिवादी और स्फूर्तिवादी बना है। आत्मख्याति और अनिर्वचनीयख्याति, अन्वय और व्यतिरेक दोनों का उपयोग उन्होंने किया है। उनका दर्शन वेदान्त के अलग अलग मतों की खिचड़ी नहीं है। न वे केवल अनुवादक मात्र हैं। उनके प्रतिपादन में जो नवीनता और मौलिकता दिखाई देती है, उन्हें वह वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, अश्वघोष, गौडपाद, शंकरादि महर्षियों की पंक्ति में ससम्मान बैठाने के लिए पर्याप्त है।'

---

१ पृ४- ३३।

२ श्री ज्ञानेश्वरांचें तत्त्वज्ञान, पृ० ४६४-६५-६७।

ज्ञानेश्वर के अनुभवामृत का नाम 'अमृतानुभव' रहा होगा, ऐसा शिवराम महादेव पराजपे का मत है। वह' नाम जो भी रहा हो 'भावार्थदीपिका' के बाद यह लिखा गया है, ऐसी निवृत्तिनाथविषयक आख्यायिका है।

नामदेव

नामदेव के सम्बन्ध में विस्तृत विचार हिन्दी और मराठी निर्गुण कवियों के तुलनात्मक अध्ययन के चौथे खण्ड में किया जाएगा। यहाँ केवल उनके और उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में जो सामग्री प्राप्त है, उसकी एक सूची देकर हम उनके निर्गुण मत की चर्चा मात्र करेंगे। स्टी० ए० किनकेड के 'सेंटस आफ पंढरपुर', एस० वी० राडेकर के 'दि भागवत सूत्रस इन महाराष्ट्र', हनुमन्तराव के 'दि हिन्दू रिलीजस मूवमेंटस इन मिडीवल डक्कन' इन अंग्रेजी ग्रन्थों के अलावा श० पु० जोशी का 'पंजाबातील नामदेव', य० मू० सरदेसाई का 'नामदेव महाराज' और र० ह० माळकर के 'नामदेवचरित्र' मराठी ग्रन्थ है। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत साहित्य संशोधक ज० ज० प्रियोळकर द्वारा प्रो० बालकृष्ण मुंडी को १ अगस्त, १९५१ को लिखे पत्र में निम्न संदर्भ सूची और दी गयी है।

उसके अनुसार 'सुधारक' में लिखी लेखमाला में श्री भारद्वाज के लेख 'ज्ञानेश्वर नामदेव कालनिर्णय' के अनुसार दोनों समकालीन थे। डा० भाडारकर, प्रि० पटवर्धन और प्रो० रा० द० रानडे भी इसी मत के हैं। हरिभक्तपरायण श्रीमती र० भिंगारकर ने उपर्युक्त लेख का उत्तर 'केसरी' में दिया था (जिसका हवाला 'ज्ञानेश्वर महाराजाचा कालनिर्णय' स तचरित्र १९०० में दिया गया है)। उनके अनुसार और पांगारकर भावे, आजगावकर, तथा डा० केतकर के अनुसार नामदेव ज्ञानेश्वर के बाद हुए। पांडुरंग शर्मा ने 'चित्रमयजगत' (अगस्त, १९२२, पृष्ठ ४०७) पर ज्ञानेश्वर नामदेव का समकालीनत्व सिद्ध किया है। नामदेव के सम्बन्ध में 'लोकशिक्षण' (मराठी मासिक—वर्ष—१, अंक—११, पृष्ठ—५६६) में 'एक महाराष्ट्रीय' अर्थात् श्रीयुत म० नि० भिडे ने 'पंजाबातील नामदेव सम्प्रदाय' लेख लिखा था। नानाजी के 'भक्तमाल' में नामदेव के विषय में निम्न छप्पय है—

१ चित्रमयजगत, जुलाई १९ ०।

नामदेव प्रतिज्ञा निर्वही ज्यों त्रेता नरहरिदास की ॥
बालदशा 'बीठले' पानी जाकै पै पीयो।
मृतक गऊ जिवाय परचो असुरन को दीयो।
सेन सलिल त काढि पहिल जैसी ही होती।
देवल उलट्या देरि सकुचित रह सबही सोती।
पडुरनाथ कृत अनुग ज्यों छानि सुकर छाई घास की।
नामदेव प्रतिज्ञा निर्वही ज्यों त्रेता नरहरिदास की ॥

इस छप्पय पर भ० श्री पडित, जनवरी १९५३ की 'युगवाणी' म लिखते हुए कहते ह, 'नाभाजी को अभिप्रेत नामदेव हमारे महाराष्ट्र के नामदेव ही है' इसम कोई सन्देह नहीं। नामदेव ज्ञानदेव के शिष्य थे, ऐसा नाभाजी कहते है और उन दोनो ने साथ साथ तीर्थयात्रा की थी, यह महाराष्ट्र म सब जानते ह। तब ये दोनों समकालीन थे, इस बारे म वादविवाद के लिए कोई गुजाइश ही नहीं है।

नाभाजी के अनुसार त्रिलोचन ज्ञानदेव के दूसरे शि य थ। इस त्रिलोचन का नाम महाराष्ट्र में बिलकुल नही जाना जाता। जे० एन० फरकुहर ने अपने ग्रन्थ 'एन आउटलाइन आफ रिलीजस लिटरेचर आफ इण्डिया' (पृष्ठ २९०, ३००) म त्रिलोचन के विषय म कहा है 'दूसरा मराठी गायक त्रिलोचन नामदेव का समकालीन था, पर तु उसके विषय म बहुत कम जाना जाता ह। आदि ग्र थ में उसके तीन हि दी पद मिले ह, पर तु उसके मराठी पद और उसकी स्मृति भी उसके मूल ज मस्थान से विलुप्तप्राय है।' म० श्री० पडित के अनुसार फरकुहर का यह कथन सत्य नहीं है, क्योंकि महीपती के 'भक्तिविजय' के अ तिम अध्याय म त्रिलोचन का नामनिर्देश है और मोरोपन्त की 'सन्मणिमाला' की ९०वीं आर्या म कहा है—

गावा त्रिलोचनाभिध आविल शुभगुणाधि कलनग वाणी।
हरिजनयशाच रमशिल तरि काय मना, सुखासि मग वाणी ॥

भारत इतिहास सशोधक (१८३७) के अनुसार नाभाजी का काल १५४२ है तो डी० बी० पारसनिस के अनुसार १५५८–१६५०, भिगारकर उसे प द्रहवीं सदी का मानते है और मिश्रबन्धु १६०० ईसवी का।

मराठी में शके १७३० के ढुंडिराज नरहरि भाट के 'नरकाची चरित्र' में, उद्धवचिद्घन के चरित्र में, महीपती के भक्तिविजय और भक्तलीलामृत में, ज० र० आजगावकर के नामदेव चरित्र (१९२७) में, वि० ल० भावे शास्त्री के 'नामदेववृत्त तीर्थावलीच अभंग' (१८९२) और तुकाराम तात्या और गांवलेकर के 'अभंगाच्या गाथा' में तथा भारत इतिहास संशोधक मंडळ (वर्ष-६, पृ०–४०) में 'नामदेव का निर्णय' लेख में नामदेवविषयक सामग्री मिलती है।

इन सब के आधार पर प्रो० मुडा ने जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे इस प्रकार हैं नामदेव दामा शेटी उपनाम रेळकर, जो कि नामाशिंपी, नामाशेटी, छीपा या चिपा नाम से भी ज्ञात हैं, सन् १२७० से १३ ० तक हुए। इनके जीवन और घटनाओं के बारे में चौथे खण्ड में विवेचन होगा। परन्तु वे 'निर्गुण पंथ' नाम के पंथ के प्रवर्तक थे, और आदिनाथ से विठोबा खेचर तक उनकी गुरुपरम्परा रही है, यह भी निश्चित है।

आदिनाथ गुरू सकळ सिद्धांचा
मच्छिंद्र तयाचा मुख्य शिष्य
मच्छिंद्राने बोध गोरक्षासी केला
गोरक्ष वोळला गहिनी प्रती
गहिनी प्रसाद निवृत्ति दातार
ज्ञानदेव सार चोजविले
ज्ञानियाचा राजा ज्ञानेश्वर माउली
खेचरा बोलला कृपासिंधू
ज्ञानदेवा चरणी खेचर शरण
नामदेवा पूर्ण कृपा केली
नामदेव हात चोखियाचे शिरीं
विट्ठल तो अक्षर उपदेशिलीं।[1]

वे सगुणोपासक तो थे ही। परन्तु बाद में 'ज्ञानोत्तर भक्ति' की सच्ची पहिचान होने पर वे 'निर्गुणोपासक' भी बने। अर्थात् अव्यक्त, निराकार

१ भावे महाराष्ट्र सारस्वत, पृष्ठ १७५।

स्वरूप का दर्शन भी उनके पदों में मिलता है। इस प्रकार से सगुण निर्गुण समन्वय मिलता है। ग्रन्थसाहब में नामदेव के पद २८, २९, ३२, ५४ में अव्यक्तोपासना का महत्त्व वर्णित है। वह कहते हैं

पद २८

भरव भूत सीतला धावै। खर बाहन उहु, छार उडावै॥
हउतउ एक रमईआ लहउ। आन देव बदलावनि दहउ॥
सिव सिव करते जो नरु धिआवै। बरद चढै डउरू ढमकावै॥
महामाई की पूजा करै। नरस नारि होई अउतरै॥
तू कहिअत हो आदि भवानी। मुकति की बरिआ कहा छपानी॥
गुरमति रामनाम गहु मीता। प्रणवै नामा इउ कहै गीता॥

पद २९

आजु नामे बिठलु देखिआ। मूरखु को समझाई रे॥
पांडे तुम्हरी गायत्री लोधे का खेतु खाती थी
लैकरि ठेगा टॅगरी तोरी लांगत लांगत जाती थी।
पांडे तुमरा महादेउ धउले बलद चढिआ आवत देखिआ था
मोदी के घर खाणा पाका वाका लडिका मारिआ था।
पांडे तुमरा रामचंद्र सो भी आवतु देखिआ था
रावन सेती सरवर होई घर की जोइ गॅवाई थी।
हिंदू अंना तुरकू काणा दुहाते गिआनी सिआणा
हिंदू पूजै देहुरा मुसलमानु मसीत।
नामे सोई सेविआ जह देहुरा न मसीत॥

ईश्वर के विश्वव्यापक रूप का वर्णन[1]

पद ४९

आउ कलन्दर केसवा। करि अबदाली भेसवा
जिनि आकास कुलह सिरि कीनी कउसे सपत पयाला
परम पोस का मदरू तेरा

१ मुडी 'संत नामदेवांची हिंदी कविता' युगवाणी, १९५१।

छपन कोटि का पहनु तेरा सोला सहस पजारा।
भार अठारह मुदगरू तेरा सहनक सभ ससारा।
ऐसी महजिदि मनु मउलान सब्ज निवाज गुजार
बीबी कऊला सऊ काइनु तेरा निरकार आकारै
इह विधि बने गुपाला॥

और ब्रह्म की सर्व यापकता के वचन हैं
सकल पुरख इकु चलितु उपाइ॥
घटि घटि अनरि ब्रह्म लुकाइआ॥ ६। ॥
जीअकी ज्योति न जाने काइ
तमे किआ सु मालूमु होइ ॥ २६ ॥
आनि जुगादि जुगादि जुगा जुकु ताका अत न जानिआ
सरब निरतरि रामु रहिआ रवि ऐसा रूपु बखाविआ॥ ६० ॥
ईभे बीठलु, ऊभे बीठलु, बाठल बिनु ससार नहा
थान थनतरि नामा प्रणव पूरि रहिउ त सरब महो॥ ३ ॥

नामदेव की स्तुति मे एकनाथ ने पद कहा ह
धन्य धन्य नामदेव। सर्व वणवाचा राव ॥ १ ॥

एकनाथ

पैठण दक्षिण काशी कहलाती है। वहा एकनाथ के प्रपितामह भानुदास हुए। उन्होंने भक्त दामाजी के समय का अकाल (सन १४४८ से १४५१) देखा था। उसे १० वर्ष की उम्र में सूर्यनारायण का साक्षात्कार हुआ। तब से नाम भानुदास पडा। गायत्री के तीन पुरश्चरण के बाद उसने निश्चय किया कि अब वह न राजसेवा करेगा, न कोई व्यापार। पर पाडुरग का भजन करता रहेगा। विवाह के बाद सब अडोसी पडोसियों ने उसे कपडे की दूकान लगवा दी, उसमे उसे नुकसान हुआ। परन्तु भानुदास की सच्चाई की सभी प्रशसा करते थे। भानुदास ने १०० अभग लिखे है। उनमें भावगीतात्मकता है। आगम निगम का स्थान, अद्वय आनद, परमानद, सच्चिदानद, श्रुतियों में अनुवादित ब्रह्म विट्ठल में ही उन्होंने पाया था।

"पवित्रता जवि प्राणेश्वरी ।
भानुनाम ह्मणे निर्धारी गा विठोबा ।"

भानुदास का पुत्र चक्रपाणि । चक्रपाणि का पुत्र सूर्यनारायण और उसकी पत्नी रुक्मिणी । उनके पुत्र थे एकनाथ । एकनाथ का जन्म तुलसीदास के जन्म के आसपास (१५३२ ईस्वी) ही हुआ है । एकनाथ ने अपना भागवत ग्रंथ काशी क्षेत्र में १५७४ ईस्वी में लिखा । उसी वर्ष तुलसीदास के रामचरितमानस का आरंभ हुआ । एकनाथ और तुलसीदास दोनों अभुक्त मूल नक्षत्र में जनमे । दोनों के माता पिता एक वर्ष बाद चल बसे (अपनी जननीको तज्यौ जनमी तुलसीदास , मुळीच्या मुळीं ज मला एकनाथ) । इसी बात पर एकनाथ ने एक अध्यात्मपरक अभंग रचा है कि पिता पुरुष और माता प्रकृति को मूल (नक्षत्र) में जन्म करके मारनेवाला 'एकी एक' मूल को जाकर भिडा । १२वें वर्ष में एकनाथ देवगढ में जाकर जनार्दन स्वामी से मिले । वही उनके गुरु थे । दत्तसंप्रदाय का अकर्तात्मबोध उन्हीं से पाया । अपने सब अभंगों में इसलिए एकनाथ ने 'एका जनार्दन' पदान्त में कहा है । एकनाथ काशी में बहुत समय तक रहे । 'निर्वैर सर्वभूतेषु' आदर्श का आजीवन पालन करके १५९९ में नाथ का निर्वाण हुआ । एकनाथ को आगे के विवेचन में संक्षेप में जैसे महाराष्ट्र में कहते हैं, वैसे 'नाथ' ही कहा जायगा ।

माधव गोविंद रानडे ने एकनाथ के कार्य के विषय में कहा कि 'भागवत धर्म एकनाथ के प्राकृत ग्रन्थों में जैसे स्पष्ट है वैसे और कहीं नहीं । एकनाथ के ग्रन्थों में तो भागवत धर्म दिखाई देता ही है पर उनके चरित्र में भी दिखाई देता है । भागवत धर्म चरित्र में दिखाना एकनाथ का विशेष भाग्य था । आपकी हमारी क्या गति होगी, भोले भाले कैसे तरेंगे, यह विचार उनके मन में था । हम हैं पशु, हम शास्त्र पठन कर तो पेट की चिंता से कैसे मुक्त हों, ऐसे करोड़ों लोगों को न योगमार्ग चाहिये, न ज्ञानमार्ग, न कर्ममार्ग । इंद्रिय निग्रह नहीं होता । हमें सुलभ मार्ग चाहिये और वह नाथ के चरित्र में है । निरहंकार रहकर भक्ति करने में नीति, मुक्ति, वैराग्य सभी कुछ है । नाथ का भागवत पढ़कर हम यह जान कर शांति पाते हैं[1] ।'

१ पांगारकर मराठी वाङ्मयाचा इतिहास, पृष्ठ ३१८–३१६ ।

परमात्मा निर्गुण है इसके बारे में भागवत (अध्याय ३,३८१) में वे कहते हैं—'निरसूनि रूप नामगुण । ध्याना ठसाव निज निर्गुण ।' भगवान स्वयं कहते हैं

माझें स्वरूप निज निर्गुण । अथवा वकुठीच सगुण ।

दोन्हीं एकचि निश्चय जाण । सगुणनिर्गुण समसाम्य॥ (भागवत २१ ३०)

सगुण निर्गुण को समान मानने की उनकी वृत्ति है। वैसे एकनाथ कहते हैं कि जैसे सबेरे, शाम, मध्याह्न तीनों समयों में आकाश अलिप्त होता है, उसी प्रकार से उत्पत्ति स्थितिरूप सृष्टि होती जाती है। परब्रह्म उससे अलिप्त है। जागृति का ज्ञान, स्वप्न का मिथ्याभान, सुषुप्ति के साक्षी पूर्ण वही नारायण हैं। 'एव परमात्मा परज्योती। आत्मा हृदयस्थ त्रिजगतीं।' नयन उसी ब्रह्म के सहारे देखते हैं, रसना उससे स्वाद लेती है, श्रवण उससे सुनते हैं। अहंकार का अहंभाव, मन का मनत्व, बुद्धि का बोद्धृत्व वही एक परब्रह्म है।[1] वह मनबुद्धिवाचा की कल्पना से अनाम, निर्विकल्प और अगम्य है। परन्तु नाथ की रचनाओं के काल तक आते निर्गुण धारा केवल मूलाधार के रूप में बची थी। सगुण ने जनमन को अधिक आकृष्ट कर लिया था।



१ एकनाथी भागवत ४ ५८-५४

अध्याय ५

निर्गुण कवियों में प्रयुक्त सामान्य प्रतीक और संकेत

निर्गुण कवियों द्वारा प्रयुक्त सामान्य प्रतीक भाषा में है स्थूल सूक्ष्म देह, प्रकृति, पुरुष, षट्चक्र, अनाहत नाद, प्रणव, कुंडलिनी, त्रिपुटी, तुरीयावस्था, पंचतत्त्व, अंतःकरणचतुष्टय, भास, सायुज्यता, निरंजन, सच्चिदानंद, चैतन्य, उन्मनी, स्वप्रकाश, स्वानुभूति, आत्मानंद, विवर्त, ज्ञानेन्द्रियपंचक, कर्मेन्द्रिय पंचक, परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, पटल इत्यादि। मराठी आध्यात्मिक कविता में भी इस योगविषयक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग सर्वत्र मिलता है।

सबसे पहले षटचक्र और अनाहत(द) नाद देखें, तो उनका उल्लेख प्राय सभी कवियों ने किया है। 'यह अनुभूति का चिह्न पिंड में है, देखो ध्यानपूर्वक' आशय का मराठी के आदिकवि मुकुंदराज का एक पद देखिये

हे खुण अनुभवाची पिंडी परतानी पाहू।
आपे आप प्रकाशला तेणे आनंदे राहे ॥ ध्रुवपद ॥
पश्चिमनिशेसि जाता उजरा टाकिला मेरू।
अनुहात गगन गर्ज थोर उठला गजरू ॥ हे खुण० ॥
त्रिकुटी स्थिरावाला मनपवन वारू।
जिंकिले पंचप्राण केला विषयासी मारू ॥ हे खुण० ॥
आधारी नाम मुळी तीही एकचि ततु।
सहस्रदळा वरती तेथें राहे निवातु ॥ हे खुण० ॥
विघडले सप्त बंद षट्चक्राची माळ।
चंद्रा वीण चांदणे दिसे मुक्ति कल्लोळ ॥ हे खुण०[1] ॥

इसमें जिस 'अनुहात' नाद का उल्लेख है उसके बारे में योगियों का विश्वास

---

१ अनेक कविकृत भक्तिपरमार्थपर कविता भाग २। न० चिं० केळकर, १९०३।

है कि चित्त की सब बाह्य वृत्तियाँ बंद होकर उसके अंतर्मुख होने पर शरीर में इस प्रकार के नाद सुनाई देते हैं। ये नाद इस प्रकार से हैं (१) चिण, (२) चिण चिण, (३) घंटानाद, (४) शंखनाद (शुं शुं) (५) तंत्री नाद (बीन के तारों का नाद), (६) तालनाद (७) वेणुनाद, (८) मृदंग नाद, (९) भेरीनाद, (१०) मेघनाद। इस नादमीमांसा में कहाँ तक सत्य है यह तो अनुभवी ही जानें, परन्तु श्रुतिशास्त्र के आधार पर 'फ्रीक्वेन्सीज़' की दृष्टि से यह चढ़ता हुआ विभाजन बहुत कुछ वैज्ञानिक है यह मानना पड़ता है। सिंहगर्जना और मेघगर्जना का निनाद सबसे अधिक होता है यह निःसन्देह सत्य है।

वही बात शून्य की मीमांसा में पाई जाती है। हम पहले भी कह चुके हैं कि इस 'ख' वाचक पद का प्रयोग सब कवियों ने किया है। ज्ञानेश्वर के छोटे भाई सोपानदेव (जन्म शके ११९६) के पंचीकरण में[1] 'आदि गणपति निरंजन' का जो वदन है उसका नाम ऊर्ध्वशून्य है। जीवेश्वर में महाशून्य है यह श्रोता जानें। मूलमाया ही सरस्वती है। उसे निजप्रकृति समझ। अर्धशून्य को सज्ञान आत्मज्ञाता माया कहते हैं। सर्वशून्य यह देह है। पाँचवा शून्य निःसन्देह प्रपंच है। सत्त्व रज तम त्रिगुण सुनिये। रजोगुण ब्रह्म है, सत्त्व विष्णु नारायण है, तमोगुण रुद्र है। तमोगुण से आकाश जनमा। आकाश वायु से व्याप्त हुआ। वायु से अग्निरूप बना। अग्नि से जीवन बना। जीवन से पृथ्वी व्याप्त हुई। पंचभूतों का विस्तार हुआ। ये पंचभूत साभास बने। उनके शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध पंचविषय हुए। अब उनका भेद सुनिये शब्द आकाश का था, स्पर्श वायु को प्रमाण था, रस संपूर्ण आप था, रूप, गंध पृथ्वी के। आगे शरीर के साथ हर एक के पाँच पाँच गुण दिये हैं जिनमें तेज के पाँच गुण क्षुधा, निद्रा, आलस्य, उद्वेग और मैथुन कहे गये हैं और वायु के आकुंचन, चलन, वलन, स्पर्शन, निरोधन। और आकाश के लज्जा, मोह, राग, शांति, भय। यह स्थूल देह का विवरण हुआ। स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण देहचतुष्टय है। साकार स्थूल देह है, वहाँ षट्चक्र मनोहर हैं। उनमें पहला चक्र मूलाधार है। गणेश वहाँ रमता है। आगे चार मातृकाओं का वर्णन है

१ अनेक कविकृत पदसंग्रह भाग १ वा० दा० ओक १८९४

'तेथ चारी मातृका। रिद्धि सिद्धि शांति देखा।
इतुका विस्तार आइका। आधारचक्राचा ॥ १७ ॥

'व श' दुसरे चक्र स्वाधिष्ठान। तेथ ब्रह्मा देव जाण।
सावित्री शक्ति आपण। जाणावी स्वाधिष्ठानां ॥ १८ ॥

'ड ळ' तिसरे मणिपूर नाभिस्थान। तथें विष्णु देव जाण।
लक्ष्मी शक्ति आपण। दश मातृका पाकोळ्या ॥ १९ ॥

'ट फ' नीलोत्पल रंग त्याचा। नाद दश अंगुलाचा।
एव प्रकार तयाचा। तें मणिपूर जाणावे ॥ २० ॥

चोथे चक्र अनुहात। तेथें रुद्र आदिदैवत।
द्वादशांगुल अतिशोभित। द्वादशदळ ॥ २१ ॥

रंग श्यामवर्ण। पार्वती शक्ति जाण।
सद्गुरू अधिष्ठान। मोक्षदाता ॥ २२ ॥

'क ठ' पाचवें चक्र विशुद्ध। कण्ठस्थान प्रसिद्ध।
षोडश जाण एवविध। चक्र पाँचवें ॥ २३ ॥

'अ अ' सहावे अग्निचक्र। दोनी पाकोळिया विचित्र।
हंस परिसा पवित्र। नांदे तथे ॥ २४ ॥

'ह क्ष' सातवें सहस्रदळ। तेथ सद्गुरु आत्माराम केवळ।
सूक्ष्म पवित्र सुढाळ। ज्योतिर्मय ते असे ॥ २५ ॥

स्थूलदेह पीतवर्ण। रक्तमिश्रित ओट हात प्रमाण।
लिंगदेह अंगुष्ठप्रमाण। श्वेतरक्तमिश्रित ॥ २६ ॥

तिसरें देह कारण। पर्वार्ध त्याच प्रमाण।
तेथें अंधकार संपूर्ण। मंडला असे ॥ २७ ॥

मसुरीदल प्रमाण। चौथें देह महाकारण।
त्याचा असे सुनील वर्ण। दैवत महामाया ॥ २८ ॥

परम सूक्ष्म बिंदुस्वरूप। ज्योतिर्मय निर्गुण रूप।
सद्गुरु कृपें तव लक्षावे ते स्वरूप। ज्योतिर्मय ॥ २९ ॥

इडा पिंगला सुषुम्ना। या त्रिकूटी जाणा।
त्याच्या सांगों अनंता खुणा। श्रोतया जना प्रती ॥ ३० ॥

गंगा यमुना सरस्वती । इडा पिंगला सुषुम्ना मिळती ।
तोचि त्रिवेणी संगम म्हणती । आत्मज्ञानें मज्ञान ॥ ३१ ॥

ऐसा त्रिवेणी संगम जाण । तेथें मनशा करावें शुद्ध स्नान ।
शुद्ध जाहलिया निधान । मग दिसे डोळा ॥ ३२ ॥

प्राण अपान व्यान उदान समान । हे जाणावे पाँच प्राण ।
कोणाचें कवण स्थान । सावधान परिसाव ॥ ३३ ॥

अपान असे गुदस्थानी । समान वसे नाभिस्थानीं ।
व्यान सर्व फिरोनी । घस्त करी ॥ ३४ ॥

उदान असे कंठ देशी । मुख्य प्राण नासिकीं ।
पंच प्राणाची स्थिति । ऐसी जाणिजे ॥ ३५ ॥

आता सांगा चारी वाचा । परा पश्यंती मध्यमा वैखरी याचा ।
निवाडा करोनिया साचा । सांगीतला पाहिजे ॥ ३६ ॥

स्थूलदेहीं वाचा वैखरी । लिंगदेहीं मध्यमा वरी ।
कारणीं पश्यंती निर्धारीं । महाकारणीं परा वाचा ॥३७॥

अहं, बुद्धि, चित्त, अंतःकरण । हे मनाचे चतुष्टय जाण ।
यावरी काराची खुण । सांगेन आता तुम्ही ऐका ॥ ३८ ॥

अकार उकार मकार । चौथी अर्धमात्रा पंचम व्यंजन साचार ।
ॐ घडला निर्धार । सत्यत्वें पै जाणावा ॥ ३९ ॥

अकार ब्रह्मा आपण । उकार विष्णु नारायण ।
मकार रुद्र जाण । मूलमाया ते अर्धमातृका ॥ ४० ॥

माथा उरल जें व्यंजन । ते जाणावें निरंजन ।
आता अवस्थाची खुण । सांगतों पै तुम्हीं ऐका ॥४१॥

जागृति स्वप्न सुषुप्ति तुर्या । या चारी अवस्था गुणवर्या ।
आलया, स्थूलदेहाच्या कार्या । जागृति आली ॥ ४२ ॥

लिंगदेहीं स्वप्न पाहे । कारण मूढ सुषुप्ती राहे ।
तिन्हींची साक्षिणी आहे । महाकारण तुर्या ॥ ४३ ॥

आता त्रिगुणाच्या तीन शक्ति । ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति ।
इच्छाशक्ति, याची त्रिगुणी व्याप्ति । असते सकळत्व ॥ ४४ ॥

दशेंद्रियांचा निर्धार आहे। पाँच इन्द्रिय विचारुनी पाहे।
कर्मेन्द्रिय ती हे। परिसला पाहिजे तीं ॥ ४५ ॥
चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, घ्राण, वाचा। ज्ञानेन्द्रियपंचकाचा।
आता विचार कर्मेन्द्रियाचा। केला पाहिजे ॥ ४६ ॥
वाचा, पाणी, पाद, शिश्न, गुद। हा कर्मेंद्रिये निश्चित।
त्रिपुटीचा वृत्तांत। सांगों आता ॥ ४७ ॥
ज्ञेय ज्ञाता ज्ञान। ध्येय ध्याता ध्यान।
दृश्य द्रष्टा दर्शन। यांत म्हणती त्रिपुटी ॥ ४८ ॥
सलोकता समीपता सरूपता। चौथी मुक्ती सायुज्यता।
श्रोतीं जाणाव्या तत्वता। मुक्ति चारी ॥ ४९ ॥
काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ। हे तव जीवेश्वरीं स्वयंभ।
याचा मानू नये लोभ। यातें गिळिले पाहिजे ॥ ५० ॥
विक्षेपता गतायाता। सुनिष्ठता सुलीनता।
याच्या भूमिका तत्वता। अनुभवा या हो ॥ ५१ ॥
ऐसें हे पंचीकरण। सारांश महावाक्य जाण।
हें विचारितां सज्ञान। आत्मज्ञान दृढ होय ॥ ५२ ॥
षट्चक्राची गणती। इति श्रीमहावाक्यसमाप्ति।
सद्गुरुरूपें करिता स्फूर्ति। शांति लाभेल पैं गा ॥ ५३ ॥
त्याचा प्रसाद कथिला। पंचीकरणाचा सारांश काढिला।
श्रोतीं सज्ञानीं वदिला। अनुभवसिद्ध जो ॥ ५४ ॥
ऐका मुद्रा चारी। खेचरी, भूचरी, चराचरी।
चौथी जाण अगोचरी। या चारी मुद्रा जाण पाँ ॥ ५५ ॥
आता ऐका पाचवी निर्गुणेश्वरी। साहावी ते षण्मुखी निर्धारी।
सद्गुरुरूपें निरंतरीं। परब्रह्मस्वरूप पूर्ण होय ॥ ५६ ॥
सोपान करी विनवणी। कृपा कीजे सतसज्जनीं।
वेदोक्त श्री गुरुची वाणी। श्रोता वक्ता तोचि पैं ॥ ५७ ॥
तया वीण दुजें नाहीं। तोचि निबळा, सर्वांठायीं।
देहातीत असे पाहीं। जैसा घटी रवि दिसे ॥ ५८ ॥

जो निजसुखस्वरूपन्ताता। नोचि सन्गुरु नाण तत्वता।
ताचि परमा मा मानूनि अनता। लाभ मोक्षप याना ॥ ५९ ॥
इति श्री पचीकरण। ग्रन्थ समाप्त करा सोपान।
ह ऐकोनि ज्ञानन्द आपग। प्रेम वोसटले ॥ ६० ॥
निवृत्ति मुक्ताई म्हणे धन्य। सोहींव नान पूर्ण।
परब्रह्म निरोपिल उर्वरीत जाण। बोलणे येथून खुटल ॥ ६१ ॥

प्राय यही योगवाली शब्दावली ज्ञानेश्वर ने एक पालने क गीत[1] में प्रयुक्त की है

आधार बा! मूलबध वाम चरण निरुद्ध रे।
स्वाधिष्ठानीं लिगस्थान तेथ धरीं प्रसिद्ध रे।
दक्षिणेचा चरण माथा ठवुनिया विरुध रे।
तयासि तू रक्ष आधीं, सिद्धासन तें शुद्ध रे।
अनुहत बा! हृदयस्थान जेथें वायूचे सधान रे।
साधना लावि त्याशी नित्य करुनि सधान रे।
घटाच नाद होती तेथें राहुनि लीन रे।
विशुद्धी कठस्थान वग जावे जिंकोनि रे।
अग्नीचक्र भ्रूमध्यागे भोगी सुषुम्नेच्या अग रे।
प्राणापान समरशीं प्रणावाचा सयोग रे।
सत्रावीच क्षीर घेई ल्वीकेच्या नी मार्ग रे।
अलक्षाशीं लक्ष लावीं वेरोनिया राजयोग रे।
पाह पा सहस्रदळ शुद्ध स्वरूप केवळ रे।
निज्ञान हे दृष्टि लाहे नान राहे समूळ रे।

ज्ञानेश्वर के अभगों में १२४ अभग 'योगपर' कहे गये हैं। उनमें से कुछ अभग तो स्पष्टत इसी योगिक, षट्चक्रात्मक परिभाषा का प्रयोग करते हैं [2]

१ नयनाचे शेजारीं दशव द्वार नापा।
ऐका मार्ग सोपा बालतसे ॥ १ ॥

[1] पद सग्रह पृ० ८–९।

[2] ज्ञानेश्वर अभग गाथा, पृ० ६०, ६३ और ६७।

आधारा पवन अपान विराजे।
आगुळ चार साने तया ठायो ॥ २॥
मणिपुर चक्र नाभिस्थान कमळ।
सहा अगुळाचा खेळ असे तेथे ॥ ३ ॥
वायुचक्र अनुहात हृदय असे एक।
प्राणासी नि शक तेथे नेई ॥ ४ ॥
अग्नीचक्र सुराग शोभत मराशत्र।
प्राणासी उल्थावे तयावरी ॥ ५ ॥
सहस्रदळीं ब्रह्मरध्र शोभतसे निळ।
प्रकाशाचे उमाळे जेथ असती ॥ ६ ॥
ज्ञानदेव म्हणे ऐका प्राणायाम।
या अभगीं नि सीम अर्थ झाला ॥ ७ ॥ (१९)

२ नयनाच अजन मनाच रजन।
ठसा हा सघन वाइयानो ॥ १ ॥
ओंकार अक्षर अक्षरीं हारपे।
अनुभवाच्या मापें माजू बापा ॥ २ ॥
विंदूचें जू मूळ प्रणवाचें फळ।
योगियाचे खेळ तेच गायीं ॥ ३ ॥
ज्ञानदेव म्हणे निवृत्तिप्रसादें।
स्वरूपाच्या विनोद बोलीलें हें ॥ ४ ॥ (३२)

३ अकार उकार मकार ओंकार।
प्रणव हा साकार सुरेख रे ॥ १ ॥
मसुरामात्र सार योगी ध्याती देही।
निरजन पाहीं ब्रह्म तेंची ॥ २ ॥
ज्ञानदेव म्हणे देह झालें देव।
प्रणवची शिव अनुभव ॥ ३ ॥ (३७)

४ इडा वाम दक्षिणे पिंगला।
दोहींत या कळा ब्रह्मस्थानीं ॥ १ ॥

प्रणव सैरा वापा धावे अवघड वाटे।
रीघा नवपाटे जीव जीवना ॥ २ ॥
ज्ञानदेव म्हणे हाची कीं रे प्रणव।
यापुरता अनुभव नाहीं नाहा ॥ ३ ॥ (८)

प्रणवासी रूप नाहा काहा छाया।
दशवे द्वारीं मूळमाया असे का रे ॥ १ ॥
सहस्रदळी वृत्ति लाविता नि शक।
मानासी भवासी ऐक्यता सर्व ॥ २ ॥
ज्ञानदेव म्हणे या परत नाहीं।
बोलण्याचा सोयी अनुभवी जाणे ॥ ३ ॥ (५९)

ज्ञानदेव अपने योग पर अभगों में कहते हैं कि उस 'निरजन' देश म पहुँचकर त्रिकुट का फेरा पीछे छूट जाता है—अर्थ नारी पुरुष एकरूप दिखाइ देते हैं। रवि शशि का तेज एक-सा जान पड़ता है। योगी वहाँ एक आश्चर्य देखता ह कि नारी और पुरुष एकरूप दिखाइ देते हैं। जो शिव है वही शक्ति है। व्यक्त में भी कुछ व्यक्त नही है। वहाँ सगुण देह है। पर निर्गुण शिर हे। उसी को आकाशशीर्ष कहा ह। आकाश क अत म प्रणव का गुह्य हे। वहाँ साधु निरजन बीज देखते ह। सद्रूप चिद्रूप अद्वय एक कला जान पडती हे। तुया में अखड निवास रहता ह। स्थूल देह निगल कर सूक्ष्म वचा रहता हे। 'प्रणव उसका पिता हे, अक्षर माता है।' कमल पर कमल उलटा रखकर, कमल म कमल ओधा है। कबीर की 'रस गगन गफा म अजर झरै' जैसी अनुभूति से ज्ञानदेव कहते हैं 'आकाशाची गुफा अत नाहा जिवा'। (१६) ये सभी योगपरक अभग ज्ञानेश्वर की सकेतात्मक भाव व्यजना के उत्तम प्रमाण ह। प्रतीक भाषा म 'कोड लग्वेज' की भाँति सख्याओ म ही बोला जाता है। यथा ज्ञानेश्वर ने 'स्वात्मानुभव' में कहा ह

'वस्तु सागावया कारण। चोवि राहिले मुक्त पणे।
अठराचा अत करण। हिंपुटी जाली ॥ ३६ ॥
साही जण खटपटित। चौदा जणा वेवादत।
इतुक्याही जाणत। तेचि निज' ॥ ३७ ॥

(अर्थ वस्तु कहते समय चार गूँगे रह गये। अट्ठारह के दिल निराश हो गये। छ लोग भी बहुत कोशिश करते रहे। चोदह लोगों न निवाह किया। इनको जो जानता ह, वही 'निज' है।) इस अभग म चार, अट्ठारह, छ और चोदह सकेत से सिर्फ कहे गये ह। स्पष्ट है कि चार वेद, षट् शास्त्र, अट्ठारह पुराण और चोदह विद्याओं की अक्षमता इसम वणित हे।

इस प्रकार मुकुन्दराज और महानुभावों की सूत्रात्मकता, निवृत्ति ज्ञानदेव सोपान मुक्ताबाइ म आकर अधिक आध्यात्मिक रूप ग्रहण करती हे और नामदेव एकनाथ म आकर वह प्रगीतात्मक हो जाती है।

नामदेव का एक पद हे

नव्हतच कैस झाल। रे खेळिया! नाही तच दिसू लागल रे। ध्रु०।
अरूप होत ते रूपासि आल। जिव शिव नाव पावल रे।
आपुली आवडी धरूनि पोटीं। आप आपणात व्याल रे।
झोंप याकारण बायको केली, तिन हें पोट वाढवील रे।
एक अगा त्रिविध होउनी सर्वहि भूती भौतिक दाखवील रे।
नव्हतच० ॥ १ ॥
ब्राह्मणाच पोर एक व्याल । रे खेळिया! बारा वर्षं लपल रे।
कापत कापत बाहेर आल, नागवच पळून गेल रे।
सातोंडया सव्याच बाळक, त्यान बाळकपण आथिल रे।
खळता खेळता चकित चकल, कपाट फोडुन गेल रे।
नव्हतच० ॥ २ ॥ (पदसग्रह पृ० १६)

एकनाथ के 'अनुभवानद' में ४० से ४६ ओवियां इस आध्यात्मिकतापूर्ण अद्वैतवाद का अच्छा समर्थन करती हैं

स्वरूपा असे म्हणे न साहे। ते स्वरूपचि अखड आहे।
तरी जाणावया म्हणिजेत ऐसे । स्वरूपीं असिजे ऐसे ॥ ४० ॥
असिजे नसिजे हें काहीं । स्वरूपात्मया वियोग नाही।
सागरात तरग वियोग असे काई। मा तरग सागरी मेळविजे ॥ ४१ ॥
ऐसा भासे कीं स्वरूपीं सागर मी तरग। तरी मज स्वरूपा कैंचा वियोग।
सागर माझें सर्वांग । अथवा सागरच मा ॥ ४२ ॥

अहं ब्रह्म ऐसी स्फूर्ति । स्फुर हेचि जयाप्रति ।
अखंडित वाणे ब्रह्मस्थिति । स्वरूपत्वचि अस ॥ ४३ ॥
स्वरूपभावनें देह पडे । तरी काय जाहलें आणिकीकडे ।
तया अंतकाळीं स्मराव न लागे रोकडे । स्मराव जया तोचि तो ॥ ४४ ॥
तोचि तो अवघा असे । तया अंतीं स्मरण कायसें ।
जें होवें तें आधीच असे । देह नसतां ब्रह्म ॥ ४५ ॥
देहें नसी ब्रह्म होणें । तें निर्गुण सायुज्यता म्हणणें ।
हे पाचवी मुक्ति जाणणें । वेदांत शास्त्रीं ॥ ४६ ॥

नामदेव और एकनाथ के पदों में यही योगपरक भाषा अधिक काव्यात्मक सन्तमय रूप ग्रहण करती है । सायुज्यभाव का, एकरूपता का इतना अच्छा वर्णन संत कवियों में बहुत कम पाया जाता है ।

कबीर की '*लाली देखन जो गया, मैं भी हो गई लाल*' वाली मस्ती से एकनाथ ने भी गाया है

मन रामीं रंगलें । अवघें मनचि राम झालें ।
सबाह्य अभ्यंतरीं अवघें रामरूप कोंदलें हो ॥ ध्रु० ॥
आत्मया रामाचें ध्यान लागलें मज कैसें हो ।
क्रिया कर्म धर्म अवघें तेणेंचि प्रकाशें हो ।
सत्य मिथ्या प्रकृति पुरुष रामचि अवघा भासे हो ॥ १ ॥
चित्रचि हरपलें अवघें चैतन्य जाहलें हो ।
देखतां देखतां अवघें चित्रचि मावळलें हो ।
पाहतां पाहणेंपणा हरिला, सर्वस्वें ठकविलें हो ॥ २ ॥

(पदसंग्रह, पृष्ठ २८)

(अर्थ सब राम में रँग गया है कि सारा मन ही राम हो गया । सबाह्याभ्यंतर सब कुछ रामरूप से ही भरा हुआ है । आत्मारूपी राम का ध्यान मुझे कैसे लगा है, हो । क्रिया, कर्म, धर्म सब कुछ उसीसे तो प्रकाशित होता है, हो । सत्य, मिथ्या, प्रकृति, पुरुष सब कुछ राममय भासित होता है, हो । चित्र ही जहाँ खो गया वहाँ सब कुछ चैतन्यमय हो गया, हो ।

देखते देखते सब चित्र 'अथर्वा'। देखते देखते देखने का साधन हिरा गया, सब कुछ ठग लिया, हो।)

'तत्वमसि' (तत् त्वम् असि) महावाक्य उपनिषद् का है। उसमें 'तत्' और 'त्वम्' की एकता जिस 'असि' पद से दर्शित है उसका अर्थ जहदजहल्लक्षणा से लेना चाहिये। जहल्लक्षणा में पद के कुछ अर्थ का त्याग किया जाता है और अजहल्लक्षणा में अत्याग होता है। यह लक्षणा यहाँ कैसे प्रयुक्त होती है, देखिये। 'त्व' पद जीव को अनुलक्षित करता है। जीव के स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण (देहचतुष्टय) और उनकी जागृत्यादि अवस्थाएँ सब कुछ 'त्व' पद का शबलवाच्यांश है और इस देहचतुष्टय से भिन्न जो त्व पद है वह शुद्ध लक्ष्यांश है। देहचतुष्टय प्रशमित होने से त्व पद का शबल वाच्यांश शेष हुआ। जीवता गया और केवल साक्षी चैतन्यमात्र बचा रहा। इसे त्व पद का शोधन कहते हैं। अब तत्पद का शोधन स्वानंदघन परमात्मा को 'अहं ब्रह्म' कहकर जो स्फूर्ति हुई, उसी स्फूर्ति का नाम माया है। उसमें जो चैतन्यरूप बिंबित हुआ उस प्रतिबिंब का नाम है ईश्वर। उस ईश्वर के विराट्, हिरण्यगर्भ, माया, महामाया देहचतुष्टय हैं और उत्पत्ति स्थित्यादिक अवस्थाएँ हैं। ये सब तत्पदशबलवाच्यांश हैं। इन विराटादि चारों देह और अवस्थाओं का उपशमन होने पर जो बचता है वह तत्पद शुद्ध लक्ष्यांश है। अब त्वंपद शबलवाच्यांश और तत्पद शबलवाच्यांश जहल्लक्षणा से छोड़ दें और त्वंपद शुद्ध लक्ष्यांश और तत्पद शुद्ध लक्ष्यांश यह दोनों अजहल्लक्षणा से लें। इस प्रकार से जीव की पिंडात्मक जीवता का निरसन होता है और ईश्वर की ब्रह्मांडात्मक शिवता भी कम होती है और बची रहती है जीवशिव की एकात्मता। वही है 'असि' पद। इसीकी चर्चा इन निर्गुण संतों ने की है।

अध्याय ६

लोकोत्तर अभिव्यंजना की प्रवृत्ति

सभी निर्गुण संत कवियों में केवल अपने गुह्य परम अनुभव को सरल शैली में अभिव्यक्त करने की पद्धति दिखायी देती है, बल्कि कुछ जनसाधारण की विचार शैली से भिन्न और उलटा, विचित्र और सहसा समझ में न आने वाली भाषा में बात करने का भी उनका ढंग होता है। इसमें एक तो अपनी असामान्यता का भी एक प्रकार से आरोपण वे करते हैं, साथ ही अपने अनुभव की असाधारणता का भी आभास वे देना चाहते हैं। ऐसी लोकोत्तर अभिव्यंजना में कुछ पहेली बुझौवल करने या कुछ गोरखधंधे की तरह जनसाधारण की समझ को चुनौती देने का भाव रहता है और कहीं कहीं रूढ़ विश्वासों और मान्यताओं को तीव्र आघात देने की प्रवृत्ति प्रधान रहती है। माता पुत्र या भगिनी बन्धु के विवाह या रतिसमागम की चर्चा इसी प्रकार की बात है। प्रो० रानडे ने अपने 'हिन्दी मिस्टिसिज्म' व्याख्यानों में इसका प्रतीकात्मक अर्थ वैदिक भूगोल से लगाया है। परन्तु जैसे ज्ञानेश्वर का एक कूट[1] पद है

ऐसा गे! माय कसा हा योगी।
जे ठायीं जन्मला तो ठाय भोगी॥ ध्रुवपद॥
माय कुमारी बाप ब्रह्मचारी।
एकविस पुत्र झाले उदरी॥ ऐसा गे०॥ १॥
आचार सांडोनी झालासे भ्रष्ट।
मावशीसी जेणें लाविला पाट॥ ऐसा गे०॥ २॥
आणिक याच नवल सांगू मी कायी।
बहिण भोगिली एकचि ठायीं॥ ऐसा गे०॥ ३॥

१ अनेक कविकृत पद संग्रह, भाग १, बा० दा० आंक १८०४

पितयाचा अंश घऊना आला।
मातेसि जेण उपभोग कला ॥ एमा ग० ॥ ४ ॥
ज्ञानदेव म्हणे अनुभवी जाणे।
अनुभवावाचूनि काहीच नेणे ॥ एमा गे० ॥ ५ ॥

इसी प्रकार के माता पुत्र सम्बन्ध का एक अभग है, जो कि 'आध्यात्म पर अभग' में १२वाँ[1] दिया गया है।

पति जन्मला माझ उदरा। मी जाल तयाची नोवरी ॥ १ ॥
पतिव्रता धर्म पाहा वो माझा। सबा परि पति भोगिजे जोजा।
निर्गुण पति आवडे मज। आधी माय पाठी जाल्ये भाज ॥ २ ॥
मी पतिव्रता शिरोमणी। ज्ञानदेवो निरजनी क्रीडा करी ॥ ३ ॥

और १५वाँ अभग है

मज रमा रेवनिला शृङ्गारू।
माझ उदरीं जन्मला भ्रतारू ॥ २ ॥
जागी सुती ना मी निद्सुरी।
चोली सुदली तोडूनी गळसरी ॥ ध्रु० ॥
लक्षण म्हणें का सुलक्षण म्हणे।
येक उदरार्चा आम्ही दोघे जण ॥ २ ॥
सोईरिक पडिपाड समसाटी।
मी वो नैसल तयाचे पाठीं ॥ ३ ॥
निकट आहेव पण।
कैवल्या आधा तेलकाकण ॥ ४ ॥
निवृत्तिदास तेथें नाहीं।
लग्नमुहूर्त वहुला ठाईं ॥ ५ ॥

ज्ञानदेव के नाम पर प्रचलित यह अगला कूटपद हिन्दी सन्तों म भी कुछ अलग ढग से मिल जाता ह। कबीर की उलटबासियों म इसका समानार्थक पद मिलेगा। वह दूसरा कूट[2] पद है

१ ज्ञानेश्वर अभङ्ग गाथा, पृष्ठ १, ५, ७
२ अनेक कविकृत पद सग्रह, पृष्ठ ४

इस प्रकार से असम्भाव्य को आध्यात्मिक अनुभूति द्वारा सम्भाव्य सहज बताने का चमत्कार प्राधान्य इन पदों म है। एकनाथ के ४१ और ६० सख्या के पद भी ऐसे ही दृष्टिकूट हैं। वे पद इस प्रकार के हैं

'रे कानोबा! साग पा याच नाव।
त्याचा वसता कोण ठाव॥ ध्रुवपद॥
कृष्णा! एक पाखरू आहे। ते मुख विण चारा खाय॥
त्याला डोळे नाहा परि ते उडे। ते वाचे विण बोलता हे॥ १॥
तया पाख नाहा परि त उडे। त्यासि हिंडता त्रिभुवन थोडे।
त्याच नखी आकाश बुडे। तें सर्वेचि पाहे चहुंकडे॥ २॥
त्यासि मायबाप दोनीं नाही। त्याचा उपज कोणे ठायीं।
त एका एकपण पाही। असे जनार्दनाचे पायीं'॥ ३॥

और दूसरे की टेक है सद्गुरराया। सुनो

'देव पुज गेला देऊळ उडाले परेस सद्गुरुराया रे।
चिचेच्या पानावर देउळ रचलें आधि कळस मग पाया रे।
दोहीं तोडी हरिणी पाण्यावर आली सुसा विण पाणी प्याली रे।
आंधळ्यानें देखिली, बहिरे बानें ऐकिला, पांगळ्याने लागुपाठ केली रे।
पावला नाहीं सागड मृगजळ डोहीं वाइनेचा पुत्र पाहिला रे।
एका जनार्दनी एकपणे विनती अखण्ड रामनाम बोला रे।'

ज्ञानेश्वर का एक कूट पद इस प्रकार का है

देउळा आधी कळसु वाईला। पाहोनि गेला आपुलें दृष्टी। १।
विपरीत गे माये देखियेलें। कासवीचें दूध दोहिलें॥ ध्रु०॥
आधीं पुत्र पाठी वाहन व्याली। लेण लेउनि ठेली साडे पथ रे। २।
बाप रखुमादेवीवरु विपरीत सुपरीत जाणे। सन्त तिये खुणे सतोषले।३।
(ज्ञानेश्वरमहाराजाच्या अभगाची गाथा, पृष्ठ—१५७)

इन सभी पदों में असम्भव, सृष्टि विधान प्रतिकूल, नियतिकृतनियम रहित जो सामान्य बातें पायी जाती हैं, वे संक्षेप में यों हैं जननी से सम्भोग, कुमारी माता, ब्रह्मचारी बाप, मौसी से ब्याह, बहिन से रति, पति का उदर से जन्म, सहोदर प्रियतम प्रेयसी, वीरान गाँव में बस्ती, हाथ टूटे हुए घड़े

बनानेवाले कुम्हार, वध्या को पुत्र, अंधे को मार्ग सूझना, बिना उदक का तालाब, राई बराबर पछी का त्रिभुवन में पर फैलाना, सात सागरों को उस पछी द्वारा चोंच से उठा लेना, बिना चोंच के खाना, बिना माँ बाप के जन्मना, बिना पाखों के उड़ना, इमली के पत्ते पर देवालय की रचना, पहले शिखर बाद में नींव की रचना, मुख के बिना पानी पीना, लँगड़े का दौड़ना, मृगजल सरोवर में तरना आदि आदि। इन सब का आध्यात्मिक अर्थ तो पाना कठिन है, परन्तु यह सब नकारात्मक भाषा अनिर्वचनीय को शब्दों में बाँधने का एक प्रयास मात्र है। जो अनुभव इन्द्रियातीत है, उसे इसी प्रकार की नकारात्मक प्रतीक योजना कुछ अंश तक रूपायत्त कर सकती है।

इस प्रकार की लोकोत्तर अभिव्यञ्जना का एक माध्यम मुकरियाँ, ढकोसले, कहावतों जैसे ग्रामगीतों के प्रकार भी रहा है। एकनाथ ने अपनी कई रचनाओं में ऐसी कई चीजों का प्रयोग किया है, जो पढ़ने में सहसा ग्राम गीतात्मक लगती है। उदाहरणार्थ—मन्दिरों को जीवन अर्पित करने वाले 'वाघ्या' पर एक पद देखिये

अहं वाघा सोहं वाघा प्रेम नगारा वारी।
सावध होउनि भजनीं लागा देव करा केवारी॥ १॥
मल्हारीची वारी। माझ्या मल्हारीची वारी॥ ध्रुवपद॥
इच्छा मुरळीस पाहूँ नका तुम्हा पडाल नरकद्वारीं।
बोध बुधली ज्ञान दिवटी उजळा महाद्वारीं॥ २॥
आत्मनिवेदन रोडगा निवतिल हारोहारी।
एका जनार्दना धन्य खंडराव त्यावरि कुचा वारी॥ ३॥

और एक सपेरे का मंत्र है—'साप चावला सांप। अगागागा अबाबाबा अरेरेरे सांप चावला सांप।' स्वरूपमन्दिर में जब मैं अकेली थी, तब माया के साँझ झुटपुटे में अविद्या के बिल में से लोभ मोह की दो पट्टियों का भुजंग एकदम बाहर आया और उसने करांगुलि को डस मारा। आशालहरियों से देह तप गयी, कडुवा विषय नीम मीठा लगने लगा और भजन गुड़ मीठा होने पर भी कडुआ जान पड़ा। दरिद्रता का झड़ू (गदा) आया और असत्यरक्त की उलटियाँ हुईं। कामिनी काम का चित्र आँखों में चढ़ा, स्तुति निन्दा के दाँत काले हुए। अब सद्गुरु सपेरे को बुलाओ।

'वाघ वराग्याचे पाजिले पाणी । विवेकाजन घातले नयना ॥
अभंगस्वरूपाची लाविली विभूती । उतरला सर्प निवारिली भ्रांती ।
एका जनार्दनीं आलिसे प्रचीती वो ॥'

एकनाथ के 'भारूड' ऐसे लोकगीत शैली पर लिखे अजब गीतों का एक 'कवाड' है । 'भारूड' का सीधा अर्थ यही 'कवाड' शब्द व्यक्त करता है । इन 'भारूडों' में वासुदेव, बालसन्तोष, सरोदा यानी पिंगला, भविष्य अथवा शकुन कहनेवाला 'कुडमुड्या जोशी', वाघ्या, गोंधळी, कोल्हाटी, डोंबारी, माळी, जाडजंग, खलिया, फकीर, जोगी, सबके रूपों में नाथ प्रकट होते हैं । स्त्रीरूपों में महारिण, कजारीण (कजरनी), जगझाडा, कोल्हाटीण, सौरी, टकडी, मुरळी, हुदडी आदि के वेशों में और भाषाओं में नाथ बोलते हैं । देवी सम्बन्धी कई पद हैं उनको भवानी का 'सुगा' बनकर वे 'गोंधळ' करते हैं । 'रोडगा' चढ़ाते हैं, 'जोगवा' माँगते हैं, 'फुलोरा' सजाते हैं । पांगारकर के शब्दों में इन 'भारूडों' में भले बुरे, पापी पुण्यवन्त, ज्ञानी अज्ञानी सब लोगों में सर्वात्मभाव से चलनेवाला महापुरुष दिखाई देता है । किसी भी आश्रम, जाति, वर्ग, पेशा, वंश, स्वभाव का अभिमान या तिरस्कार जरा भी नहीं है । सर्वात्मभाव से सब में समरस नाथ इस अजबखाने में मिलेंगे ।'—(पृष्ठ–४२८)। तुळजापुर की देवी के मुख्य दरबार 'गोंधळी' हैं । वे झांझ, सम्बल और तुणतुणे एकतारी पर गाते हैं । एक उनका नायक होता है दूसरा स्वर में साथ देता है । साथ में दो जन वाद्य बजाते हैं । उनके साथ 'दिवटे' (मशालची) भी होते हैं । पांगारकर ने आदिमाया पर एक ओजस्वी 'भारूड' अपने इतिहास में पृष्ठ ४३६ से ४३९ तक दिया है, जिसकी प्रथम पंक्ति है 'नमो निर्गुण निराकार । मूळ आदिमाया तू साकार ॥' इसी तरह का एक बड़ा 'गोंधळ' मुझे पदसंग्रह में मिला, उसके अंश उद्धृत कर रहा हूँ । पद ८४ वें में

जय जगदम्बे । पूर्ण कदम्बे जगविद्बोधे । देह तुला अर्पिला ।
तुज म्यां फुलवरा अर्पिला ॥ ध्रुवपद ॥
माझें घरीं पाहुणा भैरव येउनी बैसला हो ।
त्रिगुणाचा त्रिशूळ घेउनी प्रपंच विस्तारिला हो ।
जोग्या बोलाऊन पत्र पुजून भरड म्यां घातिला हो ॥

चाल ॥ प्रमा वढावळ, मामिली ग7, झाली निफळ।
ताड ॥ सुखाचा लेश नाही लागला । तुज म्या फुल्वरा बाधिला ॥ ४ ॥
सुज्याबाची डाक भरोनी मग्माइ आलविळा हो ।
त्रिगुणाची निजय करूनी यावर रंगविला हो ।
धूप दीप नवेद्य अर्पुनी पचारती कर्ली हो ।
चाल ॥ तिन जाटिल, बहु जाचिल ।
तोड ॥ मग म्या सोडुनी दिलहू तिला । तुज म्या फुलवरा बाधिला ॥ ५ ॥
ऐस त्वन बल अनन्त नवस बहु फेडले हो ।
परी त फळ कष्टा झाल गळा यउनी शरठी पडल हो ।
।
चाल ॥ झाले विटेवरी उदास, धरिली कास, ।
तोड ॥ पटरी पाहुन जीव माझा हर्षला । तुज म्या फुलवरा बाधिला ॥६॥
वकुठाहुन निधान त्याचे असली जे प्रियकर हो ।
त्याची गाठ पडली त्याण मग दिधला अभय कर हो ।
।
चाल ॥ परात्पर सोयरा, पुडलीक वरा, दिधला थारा ।
तोड ॥ तेरां मज बुडतां हात दिधला । तुज म्या फुलवरा बाधिला ॥ ७ ॥
डोळा घालुनी अजन देउनी मग मी गेल राउळा हो ।
वीटवरी जगदम्बा एकाएकी नयना देखिला हो ।
मनोभावें वरदळ वृत्ती देह्यानी खुटली हो ॥
चाल ॥ एका जनार्दनीं भली, द्वैत हारपली, एक सचली ।
तोड ॥ जन्ममरण पट फाटला । तुज म्या फुलवरा बाधला ॥ ८ ॥
और एक पद 'कोल्हाटीण' नाम की पुश्चली का है
कोलाटीण झालयं बाई । मी कोलाटीण झाल्य ।
वेलुवेगळ बाई । मी कोलाटीण झाल्य ॥ ध्रुवपद ॥
अनादि निर्गुण पूर्ण परात्पर अभेद नमियेला ।
काया वाचा मनें शरण गेल्य मी त्याला ।
मुळचा सम्बन्ध ठाव तेणें मजला दाखविला ।
ज्ञान अजन घालुनी प्रवृत्ति मार्ग खुटवीला ॥ कोलाटीण० ॥ १ ॥

प्रवृत्तीच वस्त्र फेडुन, सुखी सुखी रीजलयें ।
परात्पर परपुरुष पाहुन, त्यासी मी गेल्यें ।
अग सगती करूनी त्याचे सुख म्या हरीवीलें ।
अजरामृत म्या सेवीलें ।। कोलाटीण० ।। २ ।।
आशा मनसा तृष्णा ह्या तीही मेळवित्या राडा ।
भाव चोवटा करूनी तेथ लाविला झडा ।
करून उलट प्राणाचा क्रोध तो मारीला मेंढा ।
मग तो हकार मेंगा त्यानीं या भुलवीलें सोंगा ।।कोलाटीण०।। ३ ।।
पायें सारुनी मागें मारिलीस उफराटी उडी ।
भ्रांती लुगडें फिटोनि गेलें काया झाली उघडी ।।
दुरोनी आणू भव मिळूनी येथें माडीलीस फुगडी ।
झाली द्वैतपणाची नीवडी ।।कोलाटीण०।। ४ ।।
परद्वार म्या केलें जन्म सार्थक झालें ।
पचवीस दादुले हातीं म्या धरूनी उठविले ।।
आतरग्रहसावलींत येउनी निश्चळ बेसलें ।
एका जनार्दनीं एकीं एकपण मुरलें ।। कोलाटीण० ।। ५ ।।

एकनाथ का एक भूत पर भी कूट पद है, जो इस प्रकार से है

धोंगडें माझें बोलणें । कानोबा ! ।। ध्रुवपद ।।
वाकडा म्हणे कृष्णाच्या त्रापा, मी येक देखिलें भूत रे ।
त्याचें बीज पहिलें जळोनि गेलें, शेषित राहिले किंचित रे ।।
देहे वीण छळतो तेथेंच पीडितो त्या ठाय असे मळमूत्र रे ।
तेणें जिंकले कोणकोणातें त्यासी जिंकणार कोणता रे ।। धों० ।। १ ।।
जुनाट जोगडा काळाचा काकडा डोंगरी राहतो भोळा रे ।
झडपीला हावे नागवाची थावे पाठी लागला भिल्ल भौंडा रे ।।
कर्दळी सोपा उघडुनी झोपा पाहुनी भुलले तोंडा रे ।
जग आंधारी महाभेसुरी मायावी याचा चालला लोंढा रे ।।धों०।।२।।
कल्लोळ हाडाचा बाप धाडाचा अखंड घडतो मडकीं रे ।
त्यासीं येक बहु संचार झाला हिमालया चे खडकीं रे ।

बहु वेन्याची नवरी पाहुन, जिवात भरली धडकी रे।
कुणी येक वेळीं पायां लागली, भेडसाविले कडकी रे ॥ धों० ॥ ३ ॥
नगाची खादी, नगाची दडी, अति हाडाचा ठगा रे।
त्यासी येक बहुत सचार झाला, येउनी जडला आगा रे ॥
सुता आगाचा परा नगीचा, चीरी फेडतो फांगा रे।
त्यासी येक पुटवृक्ष भेटला, डागानां मोडल्या टागा रे ॥ धों० ॥४॥
गगा मा दारी सागला वरी, रमला तपोवर्गा रे।
त्यासी येक पुत्र जर्ळा जन्मला त्यान कले अमरा परव रे ॥
तीचा साची वेदोनारायण त्याच ब्राह्मण वरने रे।
कुरगणीच पाडस जुपिले मोरचाल अयोध्यापुरी रे ॥ धों० ॥५॥
डोळियाचे जवळी बीज जन्मला तेंची त्याच वाहन रे।
बापापोरासीं येक तोंडानीं आगवा तारकाइ कली हनन रे ॥
शेल्याआत्मज सौतीचा तनया, तुझया हातीं त्याचे मरण रें।
दिना न दारीं जोका रमला नातवड त्याच गहन रे ॥ धों० ॥६॥
लगोट बन्धन दुगात शेंपुट आजनी जीत काळतोंडा रे।
रातींतन जेणं शेपटीसीं बांधुन सकष्टी आणिला धोंडा रे ॥
त्रिभुवनासी तो देव ऋषी, बाप ज्याचा चातोंडी रे।
सोळासहस्र नारी भोगुन ब्रह्मचारी ह्मणवीसी लडा रे ॥ धों० ॥७॥
वाकडा यान आणा घातला जाणा उकलील वार कुळागत रे।
आठापदाची अष्टपदी गाईली तो एकासी अद्भुत रे ॥
पदापदाचा अर्थ करीतो तो येक असे बहुश्रुत रे।
एका जनार्दना विनवीतसे भूत नव्हे कानोबाच सूत रे ॥ धोंगडे० ॥८॥

निरजन स्वामी (जिनके विषय में कुछ पता नहीं चलता) का एक 'गोंधली' इसी प्रकार का अध्यवसित रूपक है। उसम वह कहते हैं 'देहनगर अष्टपुरी म पुरजन राज्य करता है। बुद्धि उसकी गुणवती सु दरी स्त्री थी। अहकार प्रधान था। दुष्टराशि और दुर्जन। राजा प्रधान के हाथों खेल गया तो उसने क्या खेल शुरू किया, रानी और राजा के बीच म विषमता पड गयी। आगे जो होनी हो। राजा बोले 'आइये प्रधानजी, विषय वन में चलें। वहां पराई अगना भोगें। मन पवन नाम के घोडे पर सकल्प का साज सजाकर

राजा शिकार पर चले। इन्द्रिय दल ने हाका किया। आगे जो होनी हो। फिर उस पुरजन राय ने आत्मराज्य क्या छोड़ा। नेकार जीनपन जोड लिया। पाच वन पार किये। विषय के वन म पहुँचा। वहा वासना की दरी था। छ चोरों ने वहा उसे पकड लिया। 'ले ले ले' कहनेवाली राक्षसिया वहा था। द्वपभेद के वनचर थे' इत्यादि इत्यादि।

एकनाथ का एक और पद है

हुडरा निघाली ससारा। वारीक माझा जुना ॥ ध्रुवपद ॥
दारची गोदन का तोडाना। मजला रहाट करून का द्याना।
माझे रहाटाकडे का पहाना ॥ १ ॥
तुमचा बैल का माराना। मजला तात करून का द्याना ॥
माझ्या ताताकडे का पहाना ॥ २ ॥
तुमची तल्वार का मोडाना। मजला चात करून का द्याना।
माझ्या चाताकडे का पहाना ॥ ३ ॥
तुमची टाळ का मोडाना। मजला भिंगरी करून का द्याना ॥
माझ्या भिंगरीकडे का पहाना ॥ ४ ॥
तुमची वस्त्र का फेडाना। मजला पिंजुन पिंजुन का द्याना।
माझ्या पिंजण्याकडे का पहाना ॥ ५ ॥
पिंजुन पिंजुन केला पीलु। नव इन्द्रिया खेलु।
एका जनार्दना पीलु ॥ ६ ॥

(अर्थ 'हुडरी' गिरस्ती करने चली। मेरा 'बारीक पुराना ह। दरवाजे की 'गोदन' चाहे तोड दो। उसका मुझे रहॅट जरूर बना दो। मेरे रहॅट की ओर देखो ॥ १ ॥ अपना बैल चाहे मार दो। पर मुझे तात जरूर बना के दो। मेरी तात की ओर चाहे देखते रहो ॥ २ ॥ अपनी तलवार चाहे क्यों न तोड़ो। मुझे तकली जरूर बना दो। मेरी तकली की ओर देखो ॥ ३ ॥ तुम अपनी झांझ चाहे तोड दो। मुझे लट्टू बना दो। मेरे लट्टू की ओर देखते रहो ॥४॥ तुम अपने वस्त्र चाहे छोड़ दो (नगे हो जाओ)। उन्हें धुन धुनकर मुझे दे दो। मेरे धुनने की ओर देखो ॥ ५ ॥ धुनकर के पूनी बनाई। नौ इन्द्रियों का खेल है। एका जनार्दन कहते हैं ऐसी पूनी है ॥ ६ ॥)

कहीं कहीं एकनाथ आधुनिक अर्थ में अश्लील भी हो गये हैं। यथा—विद्या अविद्या के संवाद पद्य में जहाँ अपने से छोटे पति और अपने से बहुत बड़े दुबारा ब्याह करनेवाले पति का उल्लेख है। यह 'पद्यसंग्रह' में पृष्ठ–५२ पर एकनाथ का ९४वाँ पद है। प्रथम पंक्ति 'हिणवर बिजवर म्हाजणी। दोघी गडणी। सुखदुःख बोलती। हितगुज गाती' ॥ ध्रुवपद ॥

इस प्रकार से नामदेव, ज्ञानेश्वर, एकनाथ में ही नहीं, उनकी परम्परा के अन्य कवियों में भी कूट पद कहने की, लोकोत्तर अभिव्यञ्जना करने की शैली बहुतायत से पायी जाती है।



अध्याय ७

मराठी निर्गुण कवियों का रहस्यवाद और उसका प्रभाव

शू य शोधिलें नाहीं जेणें। काय विवरण केलें तेणें।
अज्ञानपण फुगणें। गाढव जीणें पशूचे ॥ १ ॥
वर्णाकृति शून्याचार। हा नाहीं ज्या विचार।
नघडे नघडे साक्षात्कार। जाण सर्वथा तया नरा ॥ २ ॥
आधीं शू याची शोधणी केली। मग सद्वस्तू प्राप्त झाली।
अमृतवेळाची बोली। बोलतां नये ॥ ३ ॥
आधीं शू य तें शुभ्रवर्ण। मध्यें श्वेत रचिलें जाण।
अर्ध शू य तें ताम्रवर्ण। प्रत्यक्ष जाण दिसतसे ॥ ४ ॥
महाशून्याचा वर्ण निळा। अ यक्त तेजाचा ओतिला गोळा।
ग्रासुनी ठेला भूगोला। योगी डोळा पाहती ॥ ५ ॥
ऐसे शून्याचें नाहीं ज्ञान। तववरी अवघेचि अज्ञान।
जनीं अवघा जनार्दन। अज्ञान सज्ञान काय बोलू ॥ ६ ॥
ब्रह्म ज्ञानाची किल्ली। सांगितली एकेच बोली।
निवृत्तिराजें बोलविली बोली। तचि बोली बोलिलों ॥ ७ ॥

(ज्ञानेश्वर योगपर अभग, १४[१])

(अर्थ जिसने शून्य नहीं शोधा है, वह क्या विवरण करेगा, उसका फूलना (अहकार) अज्ञान से भरा है। उसका जीवन गधे जैसे (भारवाही) पशु का जीवन है ॥ १ ॥ वर्णाकृति शून्याचार, यह जिनका विचार नहीं है, उन्हें साक्षात्कार कभी नहीं हो सकता ॥ २ ॥ पहले शू य का शोधन किया। बाद म सद्वस्तु प्राप्त हुई। अमृत बेल की बोली नही बोलनी चाहिए ॥ ३ ॥ पहले शून्य शुभ्र वर्ण होता है, वह बीच में सफेद रचित होता है। आधा

१ मौज ४ अगस्त, १९४८।

शून्य ताम्रवर्ण होता है। यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है ॥ ४ ॥ महाशून्य का वर्ण नीला है। मानों अव्यक्त तेज का कोई गोला ही ढाला गया हो। वह समस्त भूगोल को ग्रसकर सामने खड़ा है, योगी उसे आँखों से देखते हैं ॥५॥ ऐसे शून्य का ज्ञान जब तक नहीं है, तब तक सब कुछ अज्ञान है। उनमें सब कुछ जनार्दन ही है। उसमें अज्ञान सज्ञान क्या बताऊँ ॥ ६ ॥ ब्रह्म ज्ञान की कुंजी है। वह एक ही शब्द में मैंने कह दी। निवृत्तिराज ने मुझसे बुलवाया। वही मैं बोला ॥ ७ ॥)

मराठी में रहस्यवाद को गुडगुंजन और शून्यशोधन भी कहते हैं। ज्ञानेश्वर तक यह रहस्यवाद कैसे आया, यह दक्षिण भारत की अन्य भाषाओं के प्राचीन साहित्य से जाना जा सकता है। दक्षिण की पाँच भाषाओं में तमिल सबसे पुरानी और मलयालम सबसे आधुनिक है। क्रम से तमिल के बाद कन्नड, तेलुगु, मराठी और अन्त में मलयालम आती है। श्रीनिवास अय्यर ने ईस्वी ५०० से १५०० के मध्यकालीन तमिल साहित्य पर कहा है[1] 'यह काल हिन्दू संस्कृति के पुनरुदय का काल था। आर्यों के ब्राह्मणधर्म का इस युग पर बड़ा प्रभाव है। ब्राह्मणधर्म का बौद्धों और जैनों से झगड़ा हुआ। शिव या विष्णुपंथी लोगों ने बौद्ध-जैनों को तमिलनाडु से निष्कासित किया। उस समय का वास्तु अभी भी विस्मय का विषय है। वे विमान और गोपुर इसी युग में बनाये गये। नाय मार नामक ६३ शैवपंथी उस समय देश में घूमते थे और उनके गीतों के संग्रह का नाम 'तेवारम' है। 'तेवारम' में 'नलायिर दिव्यप्रबन्धम्' नामक वैष्णव मन्त्रों के संग्रह से पद संख्या तिगुनी है। शंकर, रामानुज इसी काल में पैदा हुए। कम्बन की रामायण भी इसी युग में लिखी गयी।' तमिल शैव सन्तों में रहस्यवादी प्रवृत्ति की चर्चा पूर्व विवेचन में स्थान स्थान पर हुई ही है। वह प्रभाव छनकर अन्य भाषाओं में भी आया।

तेलुगु भाषा में निर्गुण सन्तकाव्य प्राय नहीं के बराबर है, फिर भी वह युग लोक भाषाओं में रचना का युग था। पंडिताऊ संस्कृत से सब ऊब गये थे। आंध्र में भी यही हुआ। डाक्टर जी० वी० सीतापति ने 'तेलुगु भाषा

१ मौज ४ अगस्त १९४८।

और साहित्य' नामक परिचय लेख[1] में कहा है कि 'पालकुरिकि सोमनाथ (१२८० से १२३०) कवि ने लोकसाहित्य की नाव डाली थी। ये कट्टर शैव थे। इनका शैव मत वीर शैव था। इसी का इन्होंने प्रचार किया। लोकभाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था। इनका 'बसवपुराण' और 'पण्डिताराध्यचरित' द्विपदी छंद में सरल भाषा में रचे गये। जैसा यह वीर शैव समकालीन ब्राह्मण धर्म के प्रति विप्लवकारी था, वैसी ही उसकी सरल रचनापद्धति, साहित्यिक क्षेत्र में संस्कृत छंदोबद्ध पद्धति तथा संस्कृत शब्दावली के विरुद्ध विप्लवकारी मानी जाती है।' श्रीनाथ (१३७० से १४४०) संस्कृत और तेलुगु के प्रकाण्ड पण्डित थे। शैवमतावलम्बी होने से आपने शैवपुराणों का भी प्रचुर मात्रा में अनुवाद किया। इसी युग में शतक साहित्य की रचना आरम्भ हुई। इन शतकों में 'सुमतिशतकम' और 'वेमनशतकम्' बहुत लोकप्रिय हैं।

प्रो० द० रा० बेन्द्रे ने[2] कहा है कि 'बारहवीं शती कन्नड साहित्य और सामाजिक इतिहास में बड़ी क्रान्तिकारी है। दक्षिण कर्नाटक में रामानुज अपना पंथ स्थापित करने का यत्न कर रहे थे, तब उत्तर में हैदराबाद के कल्याण प्रान्त में कलचूर्य वंश के बिज्जल राजा के राज्यकाल में बसवेश्वर, अल्लमप्रभु, सिद्धराम, महादेवी, चन्नबसव इत्यादि वीरशैव सन्तों ने हर चीज में बड़ी क्रान्ति की। महाराष्ट्र के वारकरी और रामदासी पंथ की भाँति वीरशैव मत भी अभी तक अव्याहत चल रहा है। आध्यात्मिकता में वीरशैव साहित्य की तुलना महाराष्ट्र के सन्त साहित्य से होगी। इन सन्तों के साहित्य से कर्नाटकी समाज की रचना ही बदल गयी।'

उत्तरकालीन कर्नाटक सन्तों के यानी हरिदासों के पदों के अनुवाद बसवगुडि, बैंगलोर के 'दि इंडियन इंस्टिट्यूट आफ कल्चर' ने हाल में प्रकाशित किये हैं। 'दि कर्नाटक मिस्टिक्स एण्ड देअर सांग्ज़'[3] में कनकदास और पुरन्दरदास के पदों के भी अनुवाद हैं। उनमें से दो यहाँ इसलिए दे रहा हूँ कि सन्तों का कार्य सब दिशाओं में कैसे एक सा था। कबीर ने जो आगे चलकर कहा

१ बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् प्रकाशन, पृष्ठ ३।

२ मौज साप्ताहिक, १६ जून १९४८।

३ बी० टी० आचार्य, जनवरी १९५३।

'तुम कत ब्राह्मन हम कत सूद।
हमारे कैसे लहू तुम्हारे कैसे दूध ॥'

—कबीरग्रंथावली, पृष्ठ-१०१

और उसीकी ध्वनि रैदास के इस पद में मिलती है

'नागर जन मेरी जाति चमार
मेरी जाति कुटबाढला ढोर ढोवंत।
नितहि बानारसी आसपास।'

—ग्रंथ, पृष्ठ-६९७-९८

वही कनकदास ने अपने एक पद 'कुल कुल वेन्नुत्तिरलु'[1] में कहा है

'उच्च जाति, नीच जाति, पुराना कुल, इन बातों का क्या अर्थ है, क्या वे जो केवल संग को मानते हैं, वे जाति और वर्ण मान सकते हैं, कमल कीचड़ से निकलता है और फिर भी उस पद्म से हम भगवान की अर्चना करते हैं। दूध गाय के मांस रक्त से बनता है, पर द्विज उसे कैसे पीने लायक समझते हैं। कस्तूरी पशुओं से आती है, पर क्या ब्राह्मण भी उसका उपयोग नहीं करते हैं। नारायण और शिव किस जाति से ये दोनों आये, आत्मा किस जाति का है, या बुद्धि या जीवन किस जाति के हैं, यदि परमात्मा किसी से प्रसन्न है, तो जाति की बात यहाँ क्या है।'

उसी प्रकार से धार्मिक ढोंग पर आक्रमण व्यंग्य दादू या नानक में मिलते हैं, वही पुरन्दरदास के इस पद में भी है 'नगेयु बरितु'।[2] इन तीनों की तुलना दर्शनीय है, तुकाराम में भी ऐसी ही आलोचना मिलती है।

१ दादू (पद १३५, तरक चिंतामणी)

जात कुल मद कौ मातो रे, तन धन जोबन देखि गर्बानौ, माया रातौ रे॥टेक॥
अपनो ही रूप नैन भरि देखै, कामिनी को संग भावै रे।
बारम्बार विषै रस मातै, मरिबौ चिति न आवै रे[3]॥ ८ ॥

---

१ वही, पृष्ठ-७।

२ वही, पृ०-८०।

३ श्री स्वामी दादूदयालजी की वचनावली संवत् १९८८ में प्रकाशित हुई, जयपुर स्टेट प्रेस पृ०-२६७।

२ नानक

गऊ बिरामण कोकर लावहु, गोबरि तरणु न जाई ।
धोती टीका तै जपमाला धानु मलेच्छा खाई ॥
अन्तरि पूजा, पढहि कतेबा, सजमु तुरका भाई ।
छोडिले पाखंडा, नाम लइए जाहि तरंदा ॥[1]

३ पुरंदरदास

'हा, हा, हा ! यह क्या कोलाहल है । इन लोगों का शुद्धिवादिता का ढोंग तो देखो । अब तो हँसते हँसते मेरे पेट में बल पड जाएँगे, इन लोगों की अजीब बातें देखकर । वह दुष्ट, अभी नहीं आया है और जपमाला फेरता है । उसका खानगी जीवन जानना चाहते हो, बिना लाज संकोच के वह अपने पडोसी की सुंदरी पत्नी के साथ फँसा हुआ है और वह साध्विन, वह मंदिर के द्वार पर है, उसे तो हर तरुण जानता है । वह एक ऐसी पत्नी है, जिसकी निष्ठा पति से चलित है । पर वह प्रतिदिन विशेष प्रार्थना में जाती है । और कुछ ऐसे हैं जो मद मोह मत्सर लोभ में आकंठ डूबे हुए हैं । मैं जब उन्हें व्यर्थ विट्ठल नाम लेते हुए सुनता हूँ तो काँप काँप उठता हूँ ।'

एकनाथ का एक पद है

'टोपी टिळा घालुनि माळा म्हणति आम्ही संत ।
पर नारीहीं देखता डोळा चंचल झालें चित्त ॥' पदसंग्रह, पृष्ठ ५३ ।

सन्तों की यह ढोंग के प्रति रोषवृत्ति सभी भाषाओं और सभी कालों में पायी जाती है । वे तो अन्तर्बाह्य पारदर्शिता, सहजता के हामी थे । उन्हें यह द्वैत, दुचित्तापन या दो चेहरे पसन्द नहीं थे । महाराष्ट्र के सन्तों के रहस्यवाद पर अधिकारी वाणी से लिखनेवाले प्रो० रा० द० रानडे के अनुसार 'रामानुज का प्रभाव अपने जन्मदेश में कम हुआ, पर उत्तर भारत में बहुत जोरों से पुनरवतरित हुआ । रामानन्द रामानुज के दार्शनिक शिष्य थे, पर अपने आध्यात्मिक गुरु से लड़कर वह बनारस में आये और उनसे तीन बड़ी रहस्यवादी शाखाएँ चलीं—एक तुलसी की, दूसरी कबीर की, तीसरी नाभा की । मध्व के सम्प्रदाय से चैतन्य नामक बंगाली सन्त निर्मित हुए

१ ग्रन्थ, पृ०–३५५ ।

जिन पर उनके पूर्ववर्ती सन्त चण्डीदास और विद्यापति का भी प्रभाव पड़ा। वल्लभ के प्रभाव से गुजरात में मीराबाई और नरसी महता आगे बढ़े। और इस प्रकार से एक जनवादी रहस्यवाद उपजा, जो कि जनभाषा के माध्यम से अपने रहस्योपदेश सिखाता था। यह संस्कृतवाले अभिजात रहस्यवाद से भिन्न था।'[1]

उन्हीं के शब्दों में 'नौवीं शती के तामिल शैव सन्त माणिक्क वाचगर (स्वर्णमयी वाणी के व्यक्ति) में हम ईश्वर के प्रति एक स्वाभाविक भक्ति पाते हैं, जो कि अपने दोषों के ज्ञान के साथ साथ ईश्वरोपलब्धि तक धीरे धीरे बढ़ती जाती है।' डा० कारपेंटर के शब्दों में वह ममी अपनी पहली प्रसन्नता परम आनन्द, बाद की हिचकिचाहट, निराशाएं, पश्चात्ताप, लज्जा और उन सब में से मुक्त होकर अन्तिम विजय व्यक्त करता है। तमिल वैष्णवों में नौवीं शती के नम्मलवार का शिष्य था नाथमुनि (प्राय १००० ईस्वी)। उसने आलवारों के ४००० पद्य संकलित किये। उसका पौत्र था यामुनाचार्य (सन् १०५०)। और उन्हीं की परम्परा में हुए रामानुज (१०५० से ११३५)। राधाकृष्ण सम्प्रदाय में सन्त का वधूरूप होना और भगवान का वररूप होना भक्ति को कुछ दूषित करता है, परन्तु वीर शैव रहस्यवाद एकदम ओजस्वी और पौरुष पूर्ण है। उसमें एक ओर शुद्धाद्वैती एकेश्वरवाद है, और दूसरी ओर नीतिवादियों का शुद्धिवाद। मलप्रभा और कृष्णा नदियों के संगमस्थल पर संगमेश्वर का पुजारी बसव १२वीं शती का सुधारक था। उसके पहले कई सिद्ध हुए, जो कि एक ओर तमिल आलवार और दूसरी ओर हिन्दी नाथों की तरह प्राचीन है। निजगुण शिवयोगी रहस्यवादी से अधिक दार्शनिक था, अखण्डेश्वर रहस्यवादी से अधिक नीतिवादी था, सर्पभूषण सबसे अधिक रहस्यवादी था। इन लिंगायतों के साथ ही साथ कर्नाटक में कनकदास, पुरन्दरदास, जगन्नाथ दास, विजयदास वैष्णव सन्त हुए।[2]

'मराठी रहस्यवाद' प्रकरण में प्रो० रानडे ने आगे कहा है कि 'महाराष्ट्र में रहस्यवादी धारा के आरम्भकर्ता थे ज्ञानदेव, जिनके पिता बनारस के श्रीपाद

१ मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, पृ०-१८-१६।

२ वही पृ०-१७-१८।

रामानंद के शिष्य थे। शायद वे रामानन्द ही थे। इसी एक मूल सामान्य उत्स से एक ओर कबीर, तुलसी और दूसरी ओर महाराष्ट्र के सन्तों का रहस्यवाद निकला। निवृत्तिनाथ और ज्ञानदेव गहिनीनाथ की गुरुपरम्परा से आये, यह निश्चित है। गहिनी ने गोरक्ष से और गोरक्ष ने मत्स्येन्द्र से ब्रह्मविद्या पाई। यह नाथ सम्प्रदाय था। मत्स्येन्द्रनाथ के पूर्व पुराणतिहास (माइथालाजी) है तो मत्स्येन्द्रनाथ के बाद इतिहास। नाथों ने ज्ञानेश्वर द्वारा महाराष्ट्र में रहस्यवाद की नींव रखी (ज्ञानदेवे रचिला पाया)। उस नींव पर नामदेव आदि ने 'इमारत' बनाई। तुकाराम उसका शिखर हुआ। ज्ञानेश्वर से नामदेव, नामदेव से एकनाथ, एकनाथ से तुकाराम परम्परा में रामदास हेराक्लाइटस की भांति अलग खड़े हैं। रामदास का सम्प्रदाय ही अलग है। वह वारकरी मत नहीं। आध्यात्मिक दृष्टि से वारकरी हों चाहे गैरवारकरी, रहस्यमय अनुभूतियों की भांति वे सब जमा करते हैं। ज्ञानेश्वर के बाद, उनके समकालीन नामदेव में गोरा कुम्हार ने कुछ कमी देखी और इसलिये उन्होंने उनको कच्चा मटका कहा। विसोबा खेचर सोपान के शिष्य थे, जो निवृत्तिनाथ के शिष्य थे। एकनाथ के गुरु थे जनार्दनस्वामी, जो स्वयं दत्तात्रेय के अवतार थे। एकनाथ ज्ञानेश्वर की परम्परा से भिन्न जान पड़ते हैं। तुकाराम चैतन्य से अपनी स्फूर्ति पाते हैं। ज्ञानदेव बौद्धिक रहस्यवादी हैं, नामदेव जनवादी युग के अग्रदूत थे। एकनाथ ऐहिक और पारमार्थिक जीवन का समन्वय करते हैं, तुकाराम का रहस्यवाद व्यक्तिवादी है और रामदास एक कर्मयोगी सन्त हैं। 'मरफी जोली' के अनुसार एक व्यक्ति सन्त बनकर भी अपना मूल स्वभाव बनाये रख सकता है। मराठी सन्तों में भी अलग अलग टाइप इसीलिए हैं।[1]

इससे अच्छा संक्षिप्त परिचय मराठी रहस्यवाद का अन्यत्र नहीं मिल सकता। इन संतों का प्रभाव न केवल १६वीं १७वीं शती तक, परन्तु आज तक भी बराबर सूक्ष्मता से मिलता है। बाद के कवियों पर प्रभाव का एक नमूना स्वामी समर्थ रामदास के शिष्यों में केशवस्वामी (इनका जन्म १६२८ इस्वी में भागानगर में हुआ। गुलबर्गा में इनकी समाधि है।) का यह निर्गुण पर पद्य देखिये। यह रचना हमारे विवेच्य काल के एक शती बाद की है

१ वही, पृ०-२०-२१।

आठ नहीं ब्रह्म नाही तहां ब्रह्म ब्रह्मची अवघ जाणा।
कल्पना योग मरती माग परी न सुकता ब्रह्मपणा[1] ॥ ध्रु० ॥
मी ब्रह्म झालों म्हणों आता तरी ब्रह्म नव्हे ऐसे कायी।
ब्रह्मेवीण आन न दिसे कांहीं दिस तिनुकें ब्रह्म पाहीं।
होय न हे ऐसा संशयची नाहीं निश्चयहीं तची आहे।
भेदाभेद आता तयें कैंचे जग आत्मास्थिति नान्ताहे ॥ आहे० ॥ १ ॥
वर्णाश्रमधर्म नाच मानुनीया यथाविधि आचरती।
स्वमताचा वहां अभिमान धरुनिया पृथक पृथक वाद करती।
पाषाडाच्या बळ होती ताडागळे भेदचा मीच म्हणती।
आम्ही ब्रह्म नव्हे म्हणती सर्वथा तरी ब्रह्मरूपचा आहती ॥आहे०॥२॥
जलची लहरणा वेगळ दिसे, परी वेगळचा नाही जाण।
तैस आत्मीमध्यअर्ती ब्रह्मची असे तेथ कैंचे न्यून पूर्ण।
कर्ता कर्म ज अभिन्न झालें तेथें बद्ध आणि मुक्त कवण।
गुरुकृप कशवा ऐक्य म्हणा तरी मुळींच नाही भिन्नपण ॥आहे० ॥ ३ ॥

आजकल के कवियों में 'अनिए' या बोरकर या मढकर या भावे की नय रहस्यवादी शब्दावली में वही स्वर बराबर अनुगुञ्जित जान पडता है। अपने साहित्येतिहास के दूसरे खण्ड को 'एकनाथ तुकाराम का काल' कहकर उसकी प्रवेशिका में ल० रा० पांगारकर ने बताया कि 'इतिहास और साहित्य' जुडे हुए फलों की भाँति एकात्मक है। इतिहास की उपेक्षा करके वाङ्मय का विचार नहीं कर सकते अथवा वाङ्मय की ओर मुँदी आँखों से देखकर कोई इतिहास लिखेगा तो उसकी कृति अपूर्ण रहेगी। ज्ञानेश्वर शिष्य चांगदेव का सन् १३१२ का लिखा 'तत्वसार' ग्रंथ अभी[2] प्रकाश में आया है। इसलिए पहले चांगदेव, सत्यामलनाथ, चोंभाकवि, अज्ञानकवि, बहिरापिसा के काव्यग्रंथों का परिचय दिया गया है। ज्ञानेश्वर शिष्य सत्यामलनाथ की शिवदिनकेसरी तक एक बडी योगपरम्परा महाराष्ट्र में रूढ हुई। दामाजीपन्त, कान्होपात्रा और भानुदास बेदर की बादशाही के समय पनपे। जनार्दनस्वामी, एकनाथ, दासोपन्त यह बाद की प्रसिद्ध कवित्रयी है। मुक्तेश्वर, रमावल्लभदास,

१ अनेककविकृत पद संग्रह। २ १९३६ में।

शिवकल्याण और तुकाराम बाद म आये। पन्द्रहवी, सोलहवी शताब्दी क अन्य गौण कवि ह रामा जनार्दन, जनी जनार्दन, विठा रेणुकानन्दन, मोरया गोसावी, विष्णुदास नामा, कृष्णदास मुद्गल, महालिंगदास, रंगनाथ मोगरेकर, कृष्ण याज्ञवल्की और मधुकरखरीय आदि आदि। 'इन सब पर विवच्यकाल के सन्तों क रहस्यवाद की, भाषा और शली की, सूत्रमय, दृष्टान्तरूप म बात कहने की पद्धति की गहरी छाया है। बीच म रामदास और रामदासोत्तर मोरोप त और लावणी पोवाडेकारों के युग छोड द तो आधुनिक कविता म पुन वही निर्गुणोपासक सन्तों की अध्यात्मित रूपक परम्परा केशवसुत के 'झपूर्झा', गडकरी की 'फुटकी तपेली' और 'धुवडास', बी० की 'चाफा' और ताँबे के 'रमल परपुष्पासी' जैसी रचनाओं में भी दिखाई देती है। ना० ग० जोशी तो अभी भी उसी आर्तता से अभग लिखते हैं और गुणव त हनुम त देशपाडे उसी तरह की अध्यात्मपरक कविता।

ग० बा० सरदार ने अपन ग्रथ 'सन्त वाङ्मयाची सामाजिक फलश्रुति' म उपसहाररूप म कहा है कि ज्ञानेश्वर के युग म जैन और लिंगायत दोनों पथों का महाराष्ट्र के कुछ भागों म थोडा प्रभाव पड़ा था। परन्तु उनका बहुत सा साहित्य कन्नड में था, इसलिए मराठीभाषियों से उनका सीधा सम्ब ध नही आया। उसकी अपेक्षा नाथ पथ का अधिक प्रसार हुआ। इस पथ के सिद्ध पुरुषों का दृष्टिकोण उदार और समावेशक था। महानुभाव, वारकरी, दत्त इत्यादि महाराष्ट्र के अनेक पथों पर नाथ सम्प्रदाय की कम अधिक छाया पड़ी है। फिर भी आज जो उपलब्ध है, वह नाथपथीय मराठी साहित्य बिलकुल फुटकर और अविश्वसनीय है। इस कारण से मराठी में विचारप्रवर्तक और कलात्मक वाङ्मय विपुलता से प्रथम निर्माण करने का श्रेय तेरहवीं शती के महानुभावों को है। परन्तु स यासप्रवणता और विजनवास के कारण उनकी विचार सरणि सामा य जन के मन में गहरे नहीं गयी। उलटे उनकी साम्प्रदायिक सकुचितता के कारण यह पथ उत्तरोत्तर कम लोकप्रिय होता गया। चक्रधर को आरम्भ म महाराष्ट्र के प्रतिष्ठित वर्ग की सहानुभूति प्राप्त थी। भास्कर दामोदर जैसे अनेक प्रतिभासम्पन्न पण्डित उनकी मडली में थे। परन्तु फिर भी वह जनमन को नही पकड़ सका।[१]

[१] वही, पृ०-९० ।

ज्ञानेश्वर के ग्रन्थों में अद्वयानन्द वैभव, अष्टांग योग, दलितोद्धार की प्रेरणा और प्राकृत भाषा का समर्थन नाथपंथ की देन है। रूढ़ि की अपेक्षा मानवता को, शब्दप्रामाण्य की अपेक्षा अंतःस्फूर्ति को, उपचार की अपेक्षा आत्मविकास को उन्होंने महत्त्व दिया। वे मूर्तिभंजक नहीं बने परन्तु शूद्रातिशूद्र के संताप के लिए भक्तिपथ के रूप में राह बना दी। नाथपंथ की भांति वेदांत और काश्मीरी शैवमत के संस्कार भी ज्ञानेश्वर पर हुए हैं। फिर भी उनका जीवन विषयक दृष्टिकोण स्वतन्त्र है। सर्वसामान्य लोगों की शक्ति पहिचानकर उन्होंने भक्ति का प्रचार किया, परन्तु उसमें भी ज्ञान की प्रतिष्ठा कम न होने दी। 'अमृतानुभव' (१.२९) में वे कहते हैं

'अहो ऐक्याचें मुद्दल न ढळे। आणि भजिरपणाचा लाभ मिळे' ॥

अर्थात् ऐक्य का मूलधन कम न हो और साथ ही सर्व सुन्दरता का लाभ भी मिले। यही उनकी अभेदभक्ति का आदर्श था। इसलिए अपने तत्त्व निरूपण में सगुणनिर्गुण की 'बेमालूम सांधा' (पता न लगे ऐसी युति) की। उसमें निर्गुण की शुद्धता है पर रूखापन नहीं है। सगुण की सहृदयता है, परन्तु शबलता नहीं है। उनकी भक्ति की कल्पना स्थूल और साकृतिक नहीं। वे ज्ञानेश्वरी (अध्याय १८, ११३३) में कहते हैं—

ज्ञानी इयेतें स्वसंवित्ति। शैव म्हणती शक्ति।
आम्ही परमभक्ति। आपुली म्हणों॥

(ज्ञानी जिसे स्वसंवित्ति कहते हैं, शैव जिसे 'शक्ति' कहते हैं, उसी को हम 'श्रेष्ठ भक्ति' कहते हैं।) उनमें दार्शनिक की विवेकपरता, योगी की निरामयता, संतों की भूतदया और साहित्यिक की सौन्दर्य दृष्टि ये गुण एकत्र मिलते हैं।[1]

नामदेव को पुस्तकी विद्या का संस्पर्श नहीं था। इस कारण से उनके साहित्य में तार्किक रूक्षता अथवा तान्त्रिक (रीतिवादी) बारीकियाँ कहीं नहीं मिलतीं। उल्टे घोर निद्रा में से जागृत हुए आदिमानव की ताजगी और कुतूहल उसमें दिखाई देता है। उनकी भूमिका स्थितप्रज्ञ तत्त्वचिंतक की नहीं है, दीन सेवक की भी नहीं है। माँ की गोदी में निस्संकोच खेलने वाले लाड़ले

१ वही पृ०, २१–२२।

बालक की है। 'हँसूँगा, रूठूँगा, प्रेम से अपार की मिजाज को बढ़ाऊँगा।' इस रूप में वे कभी विठोबा पर गुस्सा होते हैं, कभी मचलते हैं, कभी उससे मैत्री करते हैं। उनके प्राजल और सवेदनक्षम मन को जीवन के अथाह, सम्पन्न, विविधप्रवाही रूप जैसे जैसे लगे वैसे ही उनकी रचनाओं में उतरे। भक्ति प्रेम सुख की विभिन्न छटाएँ उनमें दिखाई देती हैं। कल्पना के पंखों पर चढ़कर नामदेव कभी आदर्श सृष्टि में स्वच्छन्द ऊँचे नहीं उठते, परन्तु मानव जीवन की प्रत्येक लहरी के साथ नाच ऊपर तरने में वे रँग जाते हैं। उनके पहले के संस्कृत साहित्य में कल्पना की रंगीनी है, वर्णनों की बहार है। नामदेव के साहित्य में आत्मप्रकटीकरण की प्रेरणा ही सब से बलवान है। सामान्य मनुष्य के जीवन की उत्कण्ठा, अनुताप, कारुण्य, आर्तता, संशयाकुलता, विस्मय, वात्सल्य आदि भावनाएँ उनके अभंगों में उमड़ी हैं। उनकी प्रचार पद्धति भी अपूर्व थी। उन्होंने केवल सामान्य दिशा दिखाई, पूरा रास्ता नहीं बना दिया। प्रत्येक व्यक्ति को स्वभावानुसार कोई भी मार्ग स्वीकारने की छूट उन्होंने दी। अथवा महाभारत में जैसे कहा गया है[1], वैसे आकाश में उड़ने वाले पक्षियों की भाँति या पानी में संचार करने वाली मछलियों की भाँति हर साधक अपना मार्ग स्वयं खोज ले ऐसी उनकी अपेक्षा थी।[2]

सबसे बड़ी बात जो मराठी संतों के विषय में कही जानी चाहिये, वह यह थी कि वे सामान्य जन के प्रतीक थे। यानी उनमें कोई अतिमानव नहीं था। पागारकर ने कहा है कि 'हमारे संत हास्य, विनोद, विडंबन भी जानते थे। एकनाथ के लीलाविनोदपरक काव्यों से और उनके 'भारूड' के अजायबखाने से यह दिखाई देता है। उनकी स्त्रीविषयक कल्पनाएँ उदार और रसज्ञतापूर्ण थीं। अधिकतर संत गृहस्थाश्रमी थे। विषय वासना को संयम में रखकर एकनाथ ने द्रव्य के अनर्थ बताते समय उसकी उपयुक्तता भी कही है। संत एकदेशी नहीं थे, सर्वदर्शी थे'।[3]



[1] शकुनानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके।
पदं यथा न दृश्येत तथा पुण्यकृतां गतिः॥ (महाभारत, १२।२३९।२४९)

[2] ग० वा० सरदार स० वा० ची फलश्रुति पृ० ९६।

[3] म० वा० चा० इतिहास प्रवेशिका पृ० २६–२७।

खण्ड ३

विषय सूची

अध्याय १

विशेषताएँ

काव्य शब्द कु धातु से बना है, जिसका अर्थ है गुनगुनाना। कूजन इत्यादि इसीसे बने हैं। काव्य का मूल रूप चाहे स्वांत सुखाय, अज्ञातमूल, बच्चों के प्रासपूर्ण अर्थहीन गान जैसा रहा हो, अब तो वह रहस्य बहुत कुछ ज्ञात है।

कविता स्वयं मानवजीवन की व्याख्या है। अतएव उसकी परिभाषा नहीं हो सकती। कविता जैसी व्यापक रस प्रक्रिया को एक विशेष परिभाषा में बाँधना महासागर के जीवन को अपने घट में भर लेने के प्रयत्न से कम असाध्य नहीं। इस कारण कविता का अभिप्राय समझने के लिए पहले तो विभिन्न चिन्तकों तथा कलाकारों के विविध मतों को देखना होगा और फिर उस विविधता के भीतर रमी हुई एक ही आत्मा, एक ही लय और एक ही झंकार को पहचानना होगा। दर्शन के क्षेत्र में, अनैक्य में ऐक्य अथवा 'व्यक्तित्व' शब्द से जो बोध होता है, वही कविता के लिए भी समझना आवश्यक है।

कीट्स कविता को 'आलोक की एक स्वप्न हीन वर्षा' (A dreamless shower of light) कहकर पुकारता है तो शेली कवि को चण्डोल (Sky lark) मान कर कविता को कल्पना की अधिष्ठात्री मान बैठा है। कार्लाइल उसे संगीतमय विचार कहता है, तो रस्किन 'तथ्य का आत्मा का बंधनरहित होना' (Dis entanglement of the soul of fact) मान कर चला है। हेनरिक इब्सन ने तो कविता को 'कयामत के दिन तक का लिखा हुआ आत्मा का लेखा जोखा' (Doom s day records of the soul) कहा है। हमारे यहाँ काव्य को 'रसात्मक वाक्य' कहा गया है। बा० जयशंकर प्रसाद 'काव्य और कला' नामक निबन्ध में कविता को

समरूपात्मक अनुभूति करते हैं, तो सुमित्रानन्दन पन्त मनुष्य के परिपूर्ण रूपों का वाणी को ही कविता कह कर चले हैं। महादेवी के लिए तो मनुष्य स्वयं ही एक सजीव कविता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल की सुप्रसिद्ध परिभाषा सृष्टि से मानव हृदय का रागात्मक सम्बन्ध जोड़कर ही चुप रही है। मैथ्यू आर्नाल्ड ने कविता को जीवन समीक्षा माना है।

कविता को यदि व्यक्ति के हृदय के साथ बाहर की समस्त चराचर सृष्टि का तारतम्य जगाने वाली प्रक्रिया मानें तो इसकी परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष स्पष्टतया लक्षित होगा। व्यक्ति का 'अहम्' (इगो) तथा 'अहम्' से परे का 'पर' (नान ईगो) इनके एकीकरण के सम्बन्ध में दर्शन के क्षेत्र में उपनिषद् काल से जर्मन दार्शनिक हेगेल और फिश्ते तक बड़े बड़े ज्ञान, बड़े बड़े प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं। क्या कविता इस एकाकारता, इस कण कण में परिव्याप्त सामंजस्य और लय से, जिसे कि गाल्सवर्दी अपने 'कला पर कुछ बिखरे विचार' (Inn of tranquality के Letters खण्ड) में पूर्णता के तीन मुख्यांग लय, छन्दस् और साम्य (Harmony, Rhythm and Proportion) के नाम से पुकारता है, वंचित रह जाएगी, उल्टे वह तो उस सामंजस्य के साम्राज्य की एकच्छत्र सम्राज्ञी है। विक्टर ह्यूगो एक का एक छोटा सा वाक्य है 'कला देश काल को अतिक्रान्त करके चलती है' (Art transcends the domain of Space and Time), इस वाक्य में कविता के अन्तर्गत आने वाली व्यापक सहानुभूति के स्पष्ट दर्शन हो जाते हैं। मैथ्यू आर्नाल्ड के 'समीक्षा' शब्द के प्रयोग को इसी दृष्टि से समझना होगा।

जो केवल कलावादी हैं, वे इस पर एकदम कोलाहल कर उठेंगे। क्या कविता का भी कोई हेतु है, क्या वह भी हेत्ववलम्बिनी है? हेतुमय और हेतु प्राण है? इन लोगों की दृष्टि में मानव, जीवन और संसार सभी अनन्त, गत्यात्मक और लक्ष्यहीन हैं। परन्तु वैसे अन्तिम सत्य की दृष्टि से देखें तो प्रभु का प्रत्येक रज कण सहेतुक है। अतएव कविता हेतु प्राण न होकर हेतु प्रधान है यह मान लेने पर, वह हेतु क्या है, यह जानना आवश्यक है।

मनुष्य चिर अतृप्त है, चिर असमाधानी। उसके प्रश्न होते हैं, उसकी आकांक्षाएँ होती हैं, और वह निरन्तर उनके समाधान के प्रयत्न में संलग्न

रहा करता है। वह सच्ची बात जानना चाहता है। वह चाहता है कि एक ऐसे स्थल पर पहुँच जाए कि निराशा, असमाधान, मृषा और असत्य शून्य कुछ न रहे। यही सत्य की पिपासा मानवमात्र की अन्तरात्मा में रमी हुई है। इसी अन्तिम हेतु का, साध्य का, सामंजस्य दुर्बल मनुष्य के वृत्तिगत साधनों से करना पड़ता है। मनुष्य के वृत्तिगत साधनों में सर्वप्रधान है उसकी सौन्दर्यबोध की सहज वृत्ति (इंस्टिंक्ट)। उसका समाधान वह एक स्थिर आधार खोज कर लेना चाहता है। जहाँ सुंदर सत्यान्वेषण या सत्य सौन्दर्यान्वेषण है वहाँ कविता का उद्गम, अस्त, अभीष्ट, इप्सित, सब कुछ विद्यमान है। और वहाँ मंगलमयता का, कल्याण ('शिवम्') का प्रश्न सम्मुख आता है। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ने अपने 'साहित्य में सौन्दर्य बोध' नामक निबन्ध में स्पष्टतया यह प्रमाणित किया है कि जिस प्रकार सत्य सुंदर से स्वतन्त्र अपना अस्तित्व नहीं रख सकता, वैसे ही मंगल (शिव) भी सत्य के ही अन्तर्गत आता है। मंगल और सत्य अविच्छिन्न हैं। और यही 'आनन्द रूपममृतम्' का भेद जहाँ कवि जानने पहचानने लगता है, वहीं वह केवल कलाविद् न रहकर मर्मी चिन्तक बन जाता है। कविता को केवल कला नहीं माना जा सकता। 'कला' से अधिक वह आत्माभिव्यक्ति है, वह व्यक्ति का वशहीन आत्मप्रकटीकरण है।

'रहस्यवाद' शब्द का अभिप्राय भी समझना होगा। 'रहस्य', जो गोपनीय, अज्ञात रहे, उसे 'वाद' से आबद्ध कर सदियों ने इस शब्द पर अपना अर्थ गढ़ लिया है। अब उसका अर्थ रहस्योन्मुख, रहस्यप्रधान तथा रहस्यमयी साहित्य रचनाओं में ही सीमित रह गया है। प्राचीन काल में परमात्मा के साक्षात्कार आदि में विश्वास करने वाले ही नहीं, वरन् वैसी दिव्य अनुभूति में 'स्व' को तन्मय कर देने वाले कवि अथवा अकवि मर्मी रहस्यवादी (मिस्टिक्स) कहलाते थे। डार्विन, मार्क्स और फ्रायड की बीसवीं सदी में उस प्रकार का व्यक्तिनिष्ठ और असली रहस्यवाद तो कहाँ रहा, वह आज साहित्य की भाषा के अक्षरों में ही बँधा सा रह गया है।

इस प्रकार दार्शनिकों का जिस प्रकार शुद्ध रहस्यवाद है, वहाँ धर्म से अनुरंजित संत अगस्टीन, एकहार्ट, चैतन्य और मीरा का भी अपना रहस्यवाद

है। आजकल मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से रहस्यवाद और दिव्य अनुभूति के क्षणों को विकृत मन का भाग स्वप्न ही माना जाता है। परन्तु उस दार्शनिक, धार्मिक या वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण उसका साहित्यिक मूल्य होगा। रवीन्द्रनाथ ने रहस्यवादी कविता को एक ओर सत्य के स्वरूप के लिये मानव स्वभाव की मानसिक प्रक्रिया माना है, तो दूसरी ओर उसे वे एक भविष्यवाणी भी मान कर चलते हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने 'कबीर का रहस्यवाद' के प्रारम्भ में रहस्यवाद की परिभाषा दी है, जिसमें जीवात्मा की सृष्टि और प्रकृति के भीतर रमे हुए अलौकिक स्वरूप, अज्ञात शक्तितत्त्व के साथ निश्छल और एकान्त सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास और उसकी उत्कटता के पक्ष में एकाकारिता की प्रत्यक्ष अनुभूति की ओर इंगित है।

रहस्यवाद की उत्पत्ति मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार तीन मूल वृत्तियों पर आधारित है: मनुष्य की समाधान पाने की निरन्तर प्यास, मनुष्य का अज्ञात के प्रति स्वाभाविक कौतूहल आकर्षण और मनुष्य के भीतर सदा जागृत रहने वाला भय। समस्त धर्मभावना की उत्पत्ति भी इसी भय की वृत्ति में कुछ विद्वान् मानते हैं। परन्तु रहस्यवाद का वास्तविक आरम्भ तो प्रकृतिगत विराट् तत्त्वों को देखकर कुतूहल से आविष्ट हो जाने वाले आदिम सामगायक आर्यों में ही मिल जाता है। 'रसो वै सः' का अर्थ और क्या है? रस जितना है वह 'वही' है, कविता जितनी है वह सब सत्यान्वेषी, रहस्यवादी वृत्ति को ही लेकर चलती है। यहाँ अंडरहिल ने अपने 'मिस्टिसिज्म' नामक ग्रन्थ में रहस्यवाद और जादू और रहस्यवाद और भास स्वप्नों का जो नाता जोड़ा है उस साक्षात्कार के प्रश्न को कैसे छोड़ दिया जा सकता है। 'हद बेहद दोनों गया' तक तो कवि ठीक है, पर 'कबिरा देखा नूर' की प्रत्यक्षानुभूति के विषय में विवाद खड़ा होता है। कुछ लोगों ने ऐसे सिद्धों को वाणी के लोक से परे, कविता और शब्दसृष्टि से परे माना है। वहीं कवि बनना मर्मी बनने का एक सीढ़ी है, एक श्रेणीमात्र मानी जाती है। रहस्यवादियों में पर्योपपथ इसी सत्य के ग्रहण (रियलाइज़ेशन) में मंजिल दर मंजिल बढ़ने के विश्वास से उत्पन्न हुए।

तो अंतिम अवस्था सारूप्य थी, अनन्त शक्ति से जीवात्मा के एकाकार सम्बन्ध प्रस्थापन की तो है ही। वहाँ कवि शुद्ध 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' को चरितार्थ करता हुआ वाणी के लोक से परे, 'सगुण निर्गुण से परे रहा हमारा

ध्यान' की प्रेरणा चेतना प्राप्त करता है। ऐसे कवि अध्यात्मवादी होते हैं। वे कवि से अधिक दार्शनिक विचारक हैं। दूसरे वे हैं जो कल्पनानिर्मित आश्रय या आधार में अपनी संपूर्ण निष्ठा और श्रद्धा आरोपित कर, 'मैं तो साँवरे के रँग राची' की अनुभूति में लीन हो जाते हैं। गौरांग महाप्रभु चैतन्य आकाश की श्यामलिमा देख कर 'यह तो मेरे प्यारे श्याम का स्वरूप है' कह कर मूर्च्छित हो जाया करते थे। वे इसी कोटि में हैं। परन्तु सारूप्य की भावना में भक्ति के भीतर की श्रद्धा का स्थान जहाँ प्रेम ने ले लिया वहाँ मनुष्य के कायिक, वासनात्मक अस्तित्व ने भी अपना असर रहस्यवाद पर डाले बिना न छोड़ा। साकारोपासना का जो पतित स्वरूप नायिका भेद के ग्रन्थों में मिलता है, उसका बीज इसी वृत्ति में है। मूलतः यह प्रवृत्ति बहुत शुद्ध और अतिरेकमय तन्मयता ले कर चली थी। इसका जन्म फारस के सफेद ऊन पहनने वालों में हुआ। अत्तार, रूमी, जामी, मन्सूर, हाफिज, उमर खय्याम सब इसी परम्परा के प्रेमरहस्यवादी थे। ब्राउन महोदय ने अपने फारसी साहित्य के इतिहास के दूसरे भाग में इस काव्य धारा के प्रेम तत्त्व ज्ञान पर मार्मिक प्रकाश डालते हुए हमारे यहाँ के अद्वैत से उसकी तुलना भी की है। प्रेम रहस्य वादियों के आगे चल कर दो पथ हुए। एक तो वे जो प्रतीकात्मकता को ही लेकर चले, दूसरे वे जो सांकेतिक आधारों को ही सब कुछ मान बैठे, वे संकेतवादी थे। अंडरहिल ने आध्यात्मिक विवाह, यात्रा तथा किमिया के संकेतों पर एक स्वतन्त्र अध्याय लिखकर तत् तत् की आलोचना की है। परन्तु कुछ मर्मी यह संकेतों का अवगुंठन नहीं चाहते थे। वे सीधी सी बात कटे छँटाये ढंग से कहना ही अच्छा समझते थे वे तत्त्ववादी थे। कबीर के 'नैहर से दाग लगाइ आई चुनरी लोग कहें बड़ी फुहरी' वाली बात इसी धारा का अलक्षित प्रमाण लिये हुए है। वे प्रकृति रहस्यवादी थे। आगे के युगों में वर्ड्सवर्थ या सुमित्रानंदन पंत इसी कोटि के कवि हैं।

इस प्रकार कविता तथा रहस्यवाद दोनों के मूल में मनुष्य की एक ही सी वृत्ति कार्यशील होती हुई पाई जाती है। लौकिक तथा अलौकिक, जड़ तथा चेतन, इस जगत् के दोनों पक्षों में तारतम्य प्रस्थापन की सदा का उलझन मनुष्य के जी में बसी है। उसीसे चिन्ता और कविता दोनों का जन्म हुआ है। परन्तु यहाँ मनुष्य की क्रियाओं की मूलाधार मनोवैज्ञानिक सज्ञा त्रिधारा-

ज्ञान, इच्छा तथा भावना की दृष्टि से कविता और रहस्यवाद के गठबंधन को समझना आवश्यक है।

रहस्यवाद जहाँ ज्ञानाश्रित, शुष्क और भावशून्य है, वहाँ वह कविता का अभाव अथवा प्रेयस् भी नहीं। दर्शन जहाँ भावुकता से अनुरंजित होता है वहाँ कविता का रहस्यवाद उद्भूत होता है। इन दोनों, बुद्धि पक्ष तथा भाव पक्ष, के भीतर की इच्छा वृत्ति को भूलना उचित न होगा। कल्पना तो बुद्धि ही के अन्तर्गत आ जाती है। अतः व्यक्ति के दृष्टिकोण से रहस्यवादी कविता जहाँ इच्छा से प्रभावित भाव पक्ष की सबलता लेकर ही चलती है, वहाँ समष्टि की दृष्टि से उसके बुद्धितत्त्व को भी उपेक्षित मान कर नहीं चला जा सकता। व्यक्ति का प्रेयस जहाँ समष्टि के श्रेयस से अपना तादात्म्य जोड़ लेता है, रहस्यवादी कविता का साफल्य उसी में निहित है।

इस नाह्योपेक्षापूर्ण, अन्तर्विश्वासी, अन्तःप्रधान कविता के द्वारा लौकिक जड़ जगत् के बाह्याश्रित वस्तु और तथ्य को प्रधान मान कर चलने वाले विज्ञान और जड़वाद के विरुद्ध आक्रमण प्रारम्भ होता है। मार्क्स की दृष्टि से धर्म चाहे अफीम ही हो, उसके बिना व्यक्ति जी नहीं सकता। पर प्रश्न केवल, धर्म का साहित्य क्षेत्र में कहाँ तक प्रवेश हो, दर्शन का कविता पर कहाँ तक बोझ हो, यह है। सापेक्ष दृष्टि से इस प्रकार के प्रतिक्रियात्मक आक्रमण से लाभ और हानि दोनों ही हो सकते हैं। किंबहुना, एक ही वस्तु देश काल के अन्तर से लाभ अथवा हानि बन जा सकती है। जहाँ इस प्रकार के काव्य से लोक पक्ष में चिंतनशीलता, स्वार्थ और ममत्वजनित जड़ जर्जरता पर संतोष की एक मीठी सी मुस्कराहट और शांति का आधिपत्य होगा, वहीं यह शान्ति का अतिरेक कहीं बौद्धों के शून्यवाद के समान देश को निराश, अश्रुप्रेमी और दुःखवादी न बना डाले, यह डर भी सदैव बना रहेगा। तो दर्शन और काव्य, धर्म और समाज के सम्बन्धों में परस्पर पूरकता अथवा अन्योन्याश्रितता को ही कसौटी माना जा सकता है। जहाँ तक दोनों वस्तुएँ एक दूसरे की पोषक हैं, वहाँ तक सब कुछ इष्ट है। अनिष्ट की सम्भावना तो परस्पर विद्वेष ही से होगी। पर 'मा विद्विषावहै' का पाठ, क्या कविता और क्या दर्शन, बहुत पहले पढ़ चुके हैं।

अब साहित्यान्तर्गत विविध वादों की दृष्टि से चर्चा की जाय। साहित्य में

रहस्यवाद के पर्याप्त रूप से सन्निकट माना जा सकने वाला वाद है आदर्शवाद (आइडियालिज्म)। आदर्शवाद जिस प्रकार एक रूढ़िसम्मत अथवा चिन्ता सम्मत आदर्श को अभीष्ट मान कर 'अलम है इष्ट अत अनमोल, साधना ही जीवन का मोल' (पन्त) कह कर चलता है, उसी प्रकार वर्मा आत्मा भी अपने मनोलोक में एक आदर्श की सृष्टि अवश्य करती है। परन्तु आदर्शवादी जहाँ वास्तव जीवन से अपने आदर्शों को कहीं अलग ऊँचे जा कर बैठा देता है, रहस्यवादी ठीक उससे विपरीत 'वास्तव में रमी हुई वास्तविकता' को ही अपना अभीष्ट मान कर चलता है। यह सत्य अभीष्ट उसे पूर्णतया 'आदर्श' बना देता है और वह बिम्ब ग्रहण बहुत सरलता से करता है। इसी भाव का एक गीत ईरानी सूफी जामी का है। आस्कर वाइल्ड ने इसीलिए कला को 'आदर्श' न मान कर अवगुंठनमात्र माना है।

इस प्रकार रहस्यवादी आदर्श और यथार्थ के बीच में सधिकार के नाते उपस्थित होता है। इस कारण उसका वास्तव से भी पर्याप्तरूपेण घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु वह 'वाद' के दायरे से घिरा हुआ नहीं। रहस्यवादी का यथार्थवाद विवाद से परे आवश्यक भित्ति, माध्यम या प्रतीक के रूप में विद्यमान है। यूरोप में वास्तववाद का अतिरेक जिस प्रकार स्वभाववादी (नेचरलिस्ट) और नग्नवादियों (न्यूडिस्ट्स) में जाकर हुआ, तथा ज़ोला, बालज़क, बादलेयर, मोपासा और कुप्रिन तक में जिस वासनावाद के चिह्न स्पष्ट दिखाई देते हैं, उसी प्रकार से हम आदर्शवाद को अतिरेक वाले रहस्यवाद का मान सकते हैं। स्वभाववाद से प्रेम रहस्यवाद का मूलाधार के रूप में, इस कारण, बहुत कुछ सामीप्य रहता है, परन्तु जहाँ स्वभाववादियों के लिए वासना अंतिम लक्ष्य है, वहाँ रहस्यवादी उसे माध्यममात्र से अधिक महत्व नहीं देना चाहते।

रहस्यवाद का रोमेंटिसिज्म से बहुत ही गहरा सम्बन्ध है। रहस्यवादी का मनोलोक मूर्त और अमूर्त, पूर्ण और अपूर्ण, ऐसे असंख्य कल्पना चित्रों से रंगीन और गीतात्मक हो जाया करता है। इस कारण इसे बुद्धि की प्रखर चपलता का भावना के हाथों अनुशासित होना ही कह सकेंगे। रोमेंटिसिज्म में मुख्यतः लौकिक की उपेक्षा का भाव कार्यशील था और वही रहस्यवादी

का उद्देश्य भी है, परन्तु जहाँ रोमन्टिक कवि जान बूझ कर लौकिक को अतिरंजित रूप में देखकर या बुद्धिपुरस्सर उपेक्षा करके चलता है, वहाँ रहस्यवादी कवि न कभी उपेक्षा ही करता है, न अतिरंजन ही। वह लौकिक को अलौकिक द्वारा आविष्ट अवश्य देखता है, परन्तु उसने लौकिक को कभी भूल जाना भी नहीं सीखा। अन्त में कल्पनावाद के अतिरेक से प्रादुर्भूत यूरोप के वर्तमान समीक्षा क्षेत्र में तथा कला क्षेत्र में मनमाना ताण्डव मचाने वाले 'अभिव्यंजनावाद' (एक्सप्रेशनलिज़्म) तथा 'बिम्बवाद' (इम्प्रेशनलिज़्म) का भी रहस्यवादी कविता से सम्बन्ध देखना उचित है। क्रोचे का अभिव्यंजनावाद जहाँ तक बाह्याश्रित तथा 'आचारप्रधान मनोविज्ञान' (बिहेवियरिज़्म) के समान केवल कायिक अभिव्यक्ति की बात करता है, वहाँ तक ममियों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, पर जहाँ वह शुद्ध साक्षात्कार के क्षणों (मोमेन्ट्स आफ प्योर इन्टुईशन) की चर्चा लेकर चलता है, वहाँ वह रहस्यवाद की ही वस्तु है। बिम्बवाद की चर्चा तो रहस्यवादी के दिवास्वप्न वाले संकेतवाद में आ ही चुकी।

रहस्यवाद और काव्य की इस मित्रता के विकास का इतिहास भी कम आश्चर्यजनक नहीं। अधिकतर धार्मिक सन्तों की वाणी से इसका मूलारम्भ होता है। ज्यों ज्यों मनुष्य विचार और शास्त्रों में बुद्धि की तेज छुरी से अधिक काम लेने लगा, त्यों त्यों भाव कल्पना मिश्रित रहस्य स्वप्न के उसके गुण कम होते गये। जहाँ तक कविता का सम्बन्ध है रहस्यवाद ने उसे शुद्धता, आत्मनिष्ठता, मार्मिक दृष्टि से प्रकृति की ओर देखना और संकेताश्रय प्रधानता ये सब बातें विशेष रूप से दी हैं।

सेंट अगस्टीन, एमार्ट आदि के ईसाई रहस्यवाद से बहुत पूर्व सुकरात और अफलातून में यूनानी संस्कृति की मन और काया की सामंजस्य भावना तथा सौन्दर्योपासक वृत्ति मिलती है। अंग्रेजी कविता साहित्य में रोमंटिक युग के पुनरुत्थान काल में शेली, वर्ड्सवर्थ से ब्राउनिंग तक जहाँ रहस्यवाद की यह प्रवृत्ति स्पष्ट झलकती है, वहाँ कीट्स, ब्लेक, मेटरलिंक और इतर अत्याधुनिक पश्चिमी लेखकों में भी यह वृत्ति प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से बहुत कार्यक्षम जान पड़ती है। अंग्रेजी रहस्यवाद की विशेषता उसका उथलापन है। अंग्रेजी हृदय कभी भी विशेष रूप से रहस्यभाव प्रवण न हो सका। हाँ,

वड्सवर्थ और शेली का प्रकृतिरहस्यवाद अवश्य बहुत प्रभावशाली चीज रहा।

पर इससे बहुत पहले फारस में धर्म की कट्टरता के विरुद्ध सूफियों का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था। इसका उल्लेख ऊपर आ चुका है। हाफिज, जामी और उमरखय्याम के इस प्रेममूलक रहस्यवाद में बेहोशी और खुमार का प्राधान्य है। 'ईं शर्बते आशिकी हमा मर्दारास्त' अथवा 'पेश आ सबुक राहते रूह ए साकी' वाली खय्याम की रुबाइयों में केवल शून्यता नहीं है। उनका एक एक कूजा रहस्यवाद से लबालब भरा है। उर्दू कविता में लाक्षणिकता इसी फारसी प्रभाव से आई।

फारस की यह धारा हिन्दी कविता में जायसी, कबीर, मीरा पर अपना प्रभाव डाल चुकी थी। कबीर के रहस्यवाद पर प्रकाश डालने वाले कुछ दोहे इस प्रकार हैं

पावक रूपी साइयाँ सब घट रहा समाय।
चित चकमक लागे नहीं तातें बुझि बुझि जाय॥

'गुरु' अथवा निखिल विश्व का जो परम स्वामी है वह तो सर्वव्यापी है। वह प्रत्येक के हृदय में विद्यमान है, परन्तु उसी तरह अव्यक्त रूप में, जैसे पत्थर में आग छिपी रहती है। परन्तु चित्त के पत्थर को चकमक के साथ जब तक घर्षित नहीं किया जाता तब तक चिनगारी नहीं उत्पन्न होती। इसी कारण उस अव्यक्त परम पावक की कभी कभी झलकमात्र तो मिल जाती है, परन्तु फिर वह कहीं अदृश्य हो जाती है। आवश्यकता है किसी गुरु रूपी चकमक के संयोग में आने की, जो उन छिपे हुए अग्निकणों को स्पष्ट रूप से प्रज्वलित कर दे।

सरगुण की सेवा करूँ, निर्गुण कहा प्रमाण।
सरगुण निर्गुण से परे, तहे हमारा ध्यान॥

कबीर कहते हैं कि यदि परमात्मा को सगुण कहें तो उसमें सेवाभाव की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार निर्गुण में बुद्धि द्वारा आकलन की (अर्थात 'सगुण निर्गुण' दोनों उपासना पद्धतियों में अहभाव विद्यमान रहता है)। परन्तु कबीर का 'साईं' तो 'खालिक खलिक, खलिक में खालिक, सब घर रहा समानी' जैसा हो, उसमें ऐसा 'बिलगि बिलगि बिलगाई हो' कैसे हो सकेगा। ब्रह्म तथा

जीव को एकरस एकरूप मानने वाले शुद्धाद्वैतवादी कबीर को ऐसा विशिष्ट द्वैत पसंद न था। इसीलिए वे हठयोग के नाते कहते हैं कि नाम भाव या नाम साधना से कहीं अधिक ध्यान धारणा की आवश्यकता है जिससे कि सगुण निर्गुण सबसे परे केवल सच्चिदानंद रमते हैं।

मानसरोवर वाले दोहे में परमावस्था का चित्रण है। हंस से कबीर मुक्तात्मा का अभिप्राय लेते थे। यह दोहा कबीर के उन दोहों में से है जिनमें सांकेतिकता अधिक होने से मूल अर्थ उतना स्पष्ट नहीं होता। सरल शब्दार्थ तो यों है कि हंसी जब केलि करती है तब मानसरोवर का अवगाहन अतिशय सुंदर हो जाता है, और उस मुक्त अवस्था में जब कि मानसरोवर में केलि अर्थात् 'सुरति' स्वामी (परमात्मा) के साथ हो तब मोतियों में से मोती (आँखों के अश्रु आदि) चुन लिए जाते हैं, अथवा कठिन सीपियों में का ज्ञान मुक्ता (मुक्ति) उपलब्ध की जाती है और फिर 'आवागमन न होय'। इसमें ध्यान देने योग्य दो बातें हैं—एक तो 'अब उड़ि अन्त न जाय' में समस्त मानवी, लौकिक गति का अन्त। अर्थात् सायुज्य प्राप्ति के बाद योनि भ्रमण का कैसे अन्त हो जाता है, यही इससे स्पष्ट ध्वनित होता है।

साधारण ज्ञान के अनुभव में तो जो मन रिक्त है वह परिपूर्ण होता जाता है, और जो मन परिपूर्ण है वह रिक्त होता जाता है, परन्तु चरम अनुभव की दशा में तो खाली और भरा हुआ, इस प्रकार का कोई भेद नहीं है। सच्चे सन्त के लक्षणों में कबीर इस बात को दूसरे शब्दों में कहते हैं कि 'भाव और अभाव' दोनों साधु के लिए एक से हैं। कबीर अकिंचन और धनिक, मूर्ख और पंडित में भेदभाव न मानकर संपूर्ण समत्व को साथ लेकर चलते हैं। उसी 'समत्व' की भावना को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि यह पंचतत्व और वह तत्व दोनों एक से हैं। वस्तुतः सबके भीतर रमी हुई आत्मा एक ही है। अन्तर केवल बाह्य है, गात्रों का है, अवयवीय है। और इसके कारण यदि कबीर की बात समझनी हो तो हृदय से, आत्मा से समझें, न कि तार्किक पद्धति से।

बाद में कबीर वियोग पक्ष की महत्ता बताते हुए कहते हैं कि चूंकि मनुआ 'दुख में ही सुमिरन' करता है इस कारण विरह को छोटा या नोकर

समझने की आवश्यकता नहीं। ऐसा समझना भूल है। विरह तो नराधिप है, सर्वसत्ताशाली, सर्वान्तर्यामी। जिसके हृदय में विरह सचारित नहीं होता, वह हृदय क्या है, श्मशान है। इसमे विरोधाभास कितने मजे का है! जो विरह से व्याकुल है वह हृदय श्मशान सा होगा, या जो नहीं है वह? परन्तु यहाँ श्मशान से उनका अभिप्राय शून्यता से है। जिस अन्तर में विरह नहीं वह तो रिक्तमात्र है, चाहे उसमे क्षणिक सुखों का जैसा भी भाडार क्यों न भरा हो।

कबीर के कुछ दोहों के बाद मीरा के रहस्यवाद की कुछ चर्चा की जाय। मेवाड के मरुप्राय मानस में भक्ति की मन्दाकिनी प्रवाहित करने वाली महारानी मीरा की कविता रचना नहीं, हृदय के स्वाभाविक उद्रेक से फूटे उद्गार है। मीरा के अनूठे गीतिकाव्य पर विचार करने से पूर्व उनकी वैयक्तिक तथा तत्कालीन सार्वदेशीय परिस्थितियों का पार्श्वपट प्रस्तुत करना आवश्यक है। मीरा महारानी थी। राजस्थान का अतुल गौरव, चित्तौड़ के ऊँचे ऊँचे महल, अनगिनत परिचारिकाएँ उनकी सेवा में प्रस्तुत थीं। परन्तु वैभव और ऐश्वर्य का यह अतिरेक उनके अन्तस्तल में अनुराग न उपजा कर विराग का निर्माण करने में ही कारणीभूत हुआ। यह मानसिक प्रतिक्रिया भलीभाँति समझने के लिए मीरा के जीवन से सम्बन्धित उन बातों को भी जानना आवश्यक है जिनके कारण मीरा सम्राज्ञी न रहकर 'वैरागिन' या 'भगतिन' बन गयी। पति की मृत्यु के उपरान्त मीरा को अपने देवर 'राणा' के हाथों अनेक प्रतारणाएँ सहनी पड़ीं। दुखिनी विधवा का भक्ति उन्मुख मन इन सब लौकिक कष्टों को सहते सहते, ननद जेठानियों के वाक्प्रहार झेलते झेलते सदैव अपने 'गिरधर गोपाल' की 'बाँकी, साँवली सूरत' में ही लगा रहा। जब लौकिक पीडा का अतिरेक हो गया, तब प्रतिक्रिया रूप, मीरा के हृदय में भक्ति की धारा का आवेगपूर्ण और उत्कट उद्गम होना नितान्त स्वाभाविक ही था।

मीरा के आविर्भाव काल में सार्वदेशीय परिस्थिति यह थी। समस्त उत्तर भारत में भक्ति धारा का एकरस प्रभाव प्रवहमान हो रहा था। शकराचार्य का शुद्धाद्वैत ज्ञानाश्रित था, इसलिये जनसाधारण तक उसकी पहुँच न थी। उसकी प्रतिक्रिया के रूप में रामानुजाचार्य द्वारा बोया हुआ भक्ति का अकुर राम और कृष्ण के दो आराध्यों में स्वतन्त्र रूप से उद्गत हुआ। उपासना मार्ग

की इसी राह पर मीरा का विह्वल मन भी अपने 'साँवरिया' के प्रेम में उन्मत्त, तन्मय हो उठा। भक्ति के उस धारा-प्रवाह के वेगशाली संगीतमय काल में ऐसा कौन भावुक हृदय था जो 'माधुर्य भाव' की उपासना में योग न देता। तिस पर मीरा तो स्त्री ही थी और सो भी ऐसी स्त्री जिसका कोई स्वामी, कोई आश्रय यहाँ जड़ जीवन में शेष न था। उनका इसी भक्ति के उन्माद में रँग जाना अनिवार्य ही था।

प्रश्न यह उठता है कि क्या मीरा में भी रहस्यवाद के दर्शन होते हैं, और यदि वह मीरा में विद्यमान है तो वह किस प्रकार का रहस्यवाद है। प्रो० रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद की परिभाषा इस प्रकार की है 'जीवात्मा' का, प्रकृति के अन्दर जो 'दिव्य और अलौकिक शक्ति' है उसके साथ 'शान्त और निश्छल सम्बन्ध' जोड़ने की प्रवृत्ति। सभी रहस्यवादी अव्यक्त, अरूप और सीमाहीन ईश्वर के साथ निकटतम प्रेम सम्बन्ध जोड़ना चाहते हैं। केवल उनकी साधना पद्धतियों में अन्तर है। मीरा की भक्ति साकारोपासना तक ही न रहकर सामीप्य और सारूप्य की भी प्रार्थना है।

म्हाणे चाकर राखो जी
चाकर रहसूँ, बाग लगासूँ, नित उठ दरसन पासूँ,
वृन्दावन की कुंज गलिन में गोविन्द लीला गासूँ।
चाकरी में दरसन पाऊँ, सुमिरन पाऊँ खरची,
भाव भगति जागीरी पाऊँ, तीनों बातों सरसी।
ऊँचे ऊँचे महल बनाऊँ, बिच बिच राखूँ बारी,
साँवरिया के दरसन पाऊँ, पहिन कुसुम्भी सारी।
मीरा के प्रभु गहिर गँभीरा, हृदय रहो जी धीरा,
आधी रात प्रभु दरसन दीन्हे जमुनाजी के तीरा॥

इसी प्रकार केवल साक्षात्कार नहीं, अपितु 'मानक्रीड़ा' जैसे 'स्याम म्हासूँ एँडा डोले हो, म्हारी आँगुरी नाहि छुवत, वाकी पहुँचा पकरे हो' आदि प्रसंग और इतना सहज सामीप्य कि 'माई मैं गोविन्द ली हों मोल' और उसमें भी विशेषता यह कि 'लहा तराजू तोल' आदि बातें रहस्यवादी के उत्कट आनन्द की चरम स्थिति की द्योतक हैं।

कबीर के समान आध्यात्मिक विवाह के उल्लेख भी मीरा में अनेक स्थलों पर लक्षित हैं। जहाँ वह कहती है कि 'लोक लाज खोयी' और 'बदनामी लागे म्हणे घणी मीठी जी', वहाँ उसका लौकिक लज्जा अलज्जा के बन्धनों से परे, निर्भीक, अलौकिक और शुद्ध प्रेम जो है वह कबीर के 'सतगुरु रे रँगरेज, रँग दे मेरी चुनरी' से क्या कम है, जहा मीरा को 'सेज अलौनी' लगती है और 'रमया बिनु नींद न आवे' की अनुभूति होती है, वहा कबीर का 'पिया चलो सेज' और 'हरि मोर पाव, म हरि का बहुरिया' वाला भाव है। परन्तु मीरा के स्त्रीत्व के कारण उनकी इस प्रकार के माधुर्य भाव की उपासना कबीर से कहीं अधिक सराग है। कबीर इतने सुन्दर उलाहने नहीं दे पाते, जैसे मीरा।

इस प्रकार के प्रतीकवाद म माध्यम अथवा गुरु की भी बडी आवश्यकता होती है। कबीर ने जहाँ जगह जगह गुरु की महिमा गायी है, वहाँ मीरा ने भी 'जोगी मत जा, मत जा' की बात कही है और यह भी कहा जाता है कि मीरा ने रदास को गुरु माना था। परन्तु इस प्रकार के रहस्यवाद मे सबसे मर्मस्पर्शी भावस्थल वह होता है जहाँ भक्त प्रेमी की आत्मा 'असीम' में तड़पती रहती है और मार्ग प्रतीक्षा करती रहती है। मीरा विरहिन बन कर 'पाणा री पीली पड़ी' की अवस्था में जहाँ 'दिन गणताँ गणताँ घिस गई रे, आँगरिया री रेख' की बात कहती है और 'अँसुअन जल सींच सींच प्रेम बेलि बोयी' की तन्मयता प्रदर्शित करती है, वहाँ कबीर भी 'जा घट बिरह न सचरै ता घट जान मसान' वाली बात कहते हैं। मीरा का वियोग पक्ष गोपी के हृदय में एक प्रत्यक्ष 'नन्दलाल' के प्रति लगी 'लाय' की याद दिलाता है, जब वे अनुरोध कर करके थक जाती है कि 'बसो मेरे नैनन में नन्दलाल।'

मीरा की भक्ति की कविता ज्ञानाश्रयी शाखा मे से नही मानी जा सकती। ज्ञानाश्रयी निर्गुण सन्तों की दृष्टि में जो उपास्य अथवा अन्तिम आराध्य है वह नाना रूप में प्रदर्शित होता हुआ भक्त के हृदय को चिर आलोकित करता रहता है वहाँ आराध्य की एकरूपता पर ही आग्रह नहीं हुआ करता। जब गोस्वामी तुलसीदास ने पत्रोत्तर म मीरा को राम की महत्ता दिखाई तब मीरा ने अति सहज भाव से उसे स्वीकार कर लिया। गोस्वामी जी की तरह 'तुलसी मस्तक तब नव' नहा कहा। मीरा के लिए वस्तुत राम और कृष्ण में अन्तर ही

नहीं था। उनके लिए ये दोनों एक ही अव्यक्त सत्ता के दो रूप थे। इस कारण साधनों का अन्तर होने पर भी मीरा में ज्ञानाश्रयी सन्तों की सी साध्य की इकाई स्पष्ट दिखाई देती है। कबीर की तरह हठयोग आदि बातों का निरूपण मीरा ने नहीं के बराबर किया, क्योंकि मीरा का रहस्यवाद ज्ञानाश्रित नहीं था। मीरा का मन तो इतना भोला और तल्लीन था कि उनके निकट ज्ञान, भक्ति और कर्म के तात्त्विक भेद का आकलन ही नहीं हो सकता था। मीरा के रहस्यवाद में भक्ति का स्नेहार्द्र रूप ही मिलता है।

रहस्यवाद की, कबीर और मीरा के प्रसंग में, यह चर्चा हिन्दी के निर्गुण सन्त काव्य की कुछ विशेषताओं की ओर हमें ले जाती है। डाक्टर पीताम्बर-दत्त बड़थ्वाल के शब्दों में निर्गुण सन्त दर्शन की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार से थीं

१ एक और अनन्य ईश्वर।
२ वह ईश्वर परम है। उससे परे कुछ नहीं। उसे छोड़कर और कुछ नहीं।
३ सर्वव्यापकता।
४ ईश्वर, जीव और जड़ जगत् का एकात्मबोध। अद्वैतभाव और अद्वैतसिद्धि।
५ 'सहज' पर बल।
६ उपनिषद् आधार हैं।
७ अवतारवाद के सम्बन्ध में रामानन्द के एकेश्वरवाद और वेदान्तियों से मतभेद। अवतार निषेध।
८ मूर्तिपूजा खंडन।
९ रहस्यवादी धर्म का आधार 'प्रेम भगति'।[1]

और प्रत्येक विचारबिन्दु के समर्थन में डा० बड़थ्वाल ने सन्तों की कविता से भरपूर प्रमाण भी दिये हैं। निर्गुण पंथ की विशेषताओं में बड़थ्वाल जी ने नौ बातें गिनाई हैं १ अन्नमय कोश से आनन्दमय कोश तक प्रत्यावर्तन, २ मध्यमार्ग, ३ आध्यात्मिक वातावरण, ४ गुरु पथ निर्देशक,

१ दि निर्गुन स्कूल आफ हिन्दी पोएट्री (डा० बड़थ्वाल) पृष्ठ १८ से ८० और ९० से १९३।

५ नामस्मरण, ६ शब्द योग, ७ कुंडलिनी चक्र, ८ परचा परम दर्शन, ९ समाजोन्नति ।

श्री परशुराम चतुर्वेदी और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने क्रमशः अपने ग्रन्थों ('उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' और 'मध्ययुगीन सन्त साधना') में इन्हीं विषयों का विस्तारपूर्वक महाराष्ट्र, पंजाब तथा बंगाल के संतों के साथ साथ तुलनात्मक रूप में सोदाहरण अध्ययन प्रस्तुत किया है। परशुराम चतुर्वेदी ने संतों के दाम्पत्यभाव और संगीत प्रेम की भी चर्चा की है।[1] डाक्टर गोविन्द त्रिगुणायत ने 'कबीर की विचार धारा' में निर्गुण सन्त काव्य की विशेषताएँ इस प्रकार से बताई हैं आस्तिकता, अव्यक्त शून्य शोधन, माया के विविध रूप, विरह का महत्त्व, प्रेमानुभूति, आत्मशुद्धि के लिए यौगिक यम नियमादि विधि निषेध, प्रपत्ति, नादब्रह्म की उपासना, नामजप और सुमिरन, उलटी चाल का महत्त्व, भावातिरेक और उन्मनी रहनी, कान्ताभाव के वियोग-संयोग पक्ष, आनन्द की परमावस्था में अनिर्वचनीयता। डा० त्रिगुणायत लिखते हैं

(१) कबीर के रहस्यवाद को हम किसी विशेष प्रकार के रहस्यवाद की कोटि में नहीं रख सकते। उनमें जितने प्रकार के भी रहस्यवाद हो सकते हैं, सबकी सृष्टि हुई है। इसका कारण यह है कि उन्होंने सत्य को सम्पूर्णता से पकड़ने की चेष्टा की थी। 'पूरे सो परचा' प्राप्त करने का प्रयत्न किया था। (२) कबीर के रहस्यवाद की दूसरी प्रमुख विशेषता है उसकी प्रवृत्त्यात्मकता। वह ऐकान्तिक नहीं है। कुमारी अंडरहिल और आचार्य क्षितिमोहन सेन का भी (हंड्रेड पोएम्स ऑफ कबीर प्राक्कथन) में यही मत है। उनकी प्रवृत्त्यात्मकता का प्रमुख कारण यही है कि वे कोरे रहस्यवादी ही नहीं थे। वे उच्च कोटि के विचारक, गृहस्थ, सुधारक और उपदेशक भी थे। उन्होंने कहीं भी घर बार छोड़कर वनवास लेने का उपदेश नहीं दिया है। (३) कबीर के सभी प्रकार के रहस्यवादों की तीसरी विशेषता प्रेम प्रधानता होना है। उनका प्रेमसम्बन्धी रहस्यवाद तो प्रेमविशिष्ट है ही, उनके अभिव्यक्तिमूलक और पारिभाषिकशब्दमूलक तथा यौगिक रहस्यवादों में भी प्रेमतत्त्व को प्रमुख

१ सन्तकाव्य (परशुराम चतुर्वेदी) पृष्ठ ५८ से ७० और १०८ से ११० ।

स्थान दिया गया है। (४) कबीर के रहस्यवाद की एक और विशेषता है उनकी एकान्तानुभूति। कबीर के रहस्यवाद में विकासवाद का भी अंश निहित है। विकासवाद की यह भावना सूफियों में पाई भी जाती है। (५) आत्मिक सक्रियता कबीर के रहस्यवाद की एक और विशेषता है। पाश्चात्यों ने उसे रहस्यवाद का प्रमुख तत्त्व माना है (मिस्टिसिज्म अंडरहिल, पृ० २०७)।[1]

डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित ने अपने ग्रन्थ सन्तदर्शन में 'सन्तों के काव्यादर्श' के विषय में विस्तार से लिखते हुए कहा है कबीर के अनुसार 'जग भक्त का गावना का गाव। अनुभव गाव सो अनुरागी है।' नानक शाब्दी और साखी रचना को ब्रह्म के प्रति वास्तविक प्रीति स्थापित करने में बाधक मानते थे। 'शब्द न साखी सचा नहीं प्रीति। जमपुर जाहि दुरा की रीति॥' (प्राण संगली पृ० २४)। मलूकदास कहते हैं

अदम कवित्त का जिसका कविताई करूँ,
याद करूँ उसको जिन पैदा मुझे किया है।
गर्भवास पाला आतस में नहि जाला,
तिसको में बिसारूँ तो मैं किसकी आस जियाँ हूँ।
(मलूकदास की बानी पृ० ३१)

जगजीवन साहब शब्दसंग्रह पृ० ७५ पर कहते हैं
पढ़ पुराण ग्रन्थ रातदिन करै कविताई सोई।
ज्ञान कर्म शब्द कहै कछु तबहु भक्ति न होई॥

सन्तकवि शिवनारायण साहब के 'गुरु अन्यास' में पृ० १९ पर कहा गया है

कविता अस्तुति पूरन भाखा।
शिवनारायण चित से राखा॥

और दूलहनदास ने कहा है 'पुहुमालनी' में

मोहि जस ज्ञान रहा हिय माँही।
कहेउ कर्म किछु छाडेयु नाहीं॥

---

१ कबीर की विचारधारा (डा० गोविन्द त्रिगुणायत, पृष्ठ २५६ से २५९)।

एक एक अच्छर जोजि बनावा ।
मुरुखन दुख पडितन सुख पावा ॥

पल्टू साहब 'साखी', सब्दी और काव्य को 'परपच' मानते हैं। रैदास की दृष्टि स कवि, कुलीन और पडितादि में अहमन्यता का उदय होने लगता है। अत ये सभी त्याज्य हैं। रैदास की बानी में पृ० २६ पर कहा गया है

थोथा पडित, थोथी बानी ।
थोथी हरि बिनु सबै कहानी ॥

सन्तकवि बुल्ला साहब के शब्दों में

का भयो शब्द के कहे बहुत करि ज्ञान दे ।
मन परतीत नहीं तो कहा जम जान दे ॥
(बुल्ला साहब की बानी पृ० २५)

इस प्रकार धनी धर्मदास (शब्दावली पृ० ९, ७३), दरिया साहब मारवाडवाले (बानी पृ० ७, ९, १२), गुलाल साहब (बानी, पृ० ८०,१३०) और सहजोबाई (बानी पृ० ६४), आदि सन्तों ने वेद, कतेब और पुस्तक ज्ञान के साथ साथ काव्य आदि की निन्दा की है। कवि असार बातों के ध्यान में व्यर्थ उलझा रहता है। तत्व की बात है ब्रह्म का ध्यान करना। तत्व को त्यागकर तत्वरहित पदार्थों में रमना पलटू साहब के शब्द में हीरा छोड़कर पात के लिए हाथ बढ़ाना है (पलटू साहब की बानी पृष्ठ ७९)। डा० दीक्षित अत मे कहते हैं 'सारांश यह है कि सभी सन्तों का काव्यादर्श ब्रह्म का गुणगान, बाह्याचारों की आलोचना, सहज भाषा, सरल शैली, अलकारादि विहीन, जनता में प्रचलित अतिसाधारण छन्द है। इन कवियों ने काव्य के महत्व को वहीं तक स्वीकार किया है जहाँ तक वह ब्रह्म के स्मरण मे सहायक हो सके, अन्यथा उसकी कोई उपयोगिता नहीं है।' (सन्त दर्शन पृ० २२७)

—o—

अध्याय २

परम्परा

नाथ सम्प्रदाय, सहजयान बौद्ध प्रभाव और सिद्ध साहित्य सूफीमत,

हिन्दी के निर्गुण सन्त काव्य के मूल में अनेक दार्शनिक प्रभाव परम्पराओं के दर्शन होते हैं। एक ओर तो वैदिक औपनिषदिक धारा है, जो वैष्णव (देवीभागवत) और यौगिक रूप से एकात्मक अद्वैतवाद, प्रणवोपासना, अन्तर्यामीवाद, सब प्रकार की उपासना, आदि को मानती है, दूसरी ओर अब्राह्मण्य, परमतत्त्व के विषय में मौन, मध्यमार्ग, कायाखण्डन का विरोध और गणतन्त्रात्मक सार्वजनीनता भी पाई जाती है। निर्गुण मत पर वज्रयान सहजयान के शून्यवाद और हृदयस्थ द्वैताद्वैतविलक्षण ब्रह्म का तथा नाथ सम्प्रदाय के योगी की रहनी, साधनापद्धति और प्रतीक संयोजना का भी प्रभाव मिलता है। तन्त्रों के कुण्डलिनी जागृति, चक्रभेदन आदि प्रभावों के साथ साथ निरंजन पथ की उलटी चाल, अजपाजाप आदि का भी प्रभाव मिलता है। इस्लाम और सूफीमत के प्रभाव की भी छाया मारिफत, इश्क, तरीका, वहा, नूर वगैरह रूपों में पाई जाती है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि निर्गुण सन्तों का दार्शनिक मत विश्वास निरे मधु संग्रह करने वाले मधुकर की भाँति 'सारग्राही' मात्र था। उन्होंने कबीर के शब्दों में 'सार संग्रह सूप ज्यूं, त्यागै फटकि असार' अवश्य किया और साथ ही एक सच्चे मुमुक्षु की भांति नित्य और अनित्य का वस्तुविवेक भी किया। दादू के शब्दों में 'सींग पूछ पग परिहरै, अस्थन लागा धाइ।' परन्तु इन सब प्रभावों को आत्मसात् कर, पचाकर, एक अपना नया मौलिक व्यक्तित्व भी निर्मित किया जिसमें उसकी विशेषता सन्निहित है। प्रस्तुत अध्याय में उन प्रभावों में से कुछ प्रधान प्रभावों की चर्चा इस दृष्टि से प्रस्तुत की जायगी कि इन सब मतों में कुछ मूलभूत साम्य अवश्य था।

श्री पूर्णगिरि गोस्वामी ने अपने 'नाथ सम्प्रदाय' नामक निबंध में[1] कहा था कि 'सन्त साहित्य का और उसमें भी विशेष रूप से निर्गुण काव्य का अध्ययन तो नाथ परम्परा और सिद्धान्तों के समुचित मनन बिना अपूर्ण ही रहेगा। सच तो यह है कि नाथसम्प्रदाय ही निर्गुणधारा की पूर्वपीठिका है।' इस बात के प्रमाण में वे कहते हैं कि विक्रम संवत् के १००० से १४०० तक के चार शतकों में योगियों या नाथों की अनेक परम्पराएँ चलती रहीं। योगियों की वही विचारणा जो उनके ह्रास के बाद भी बची थी, बीजरूप से निर्गुण धारा में अंकुरित हुई। योगमत और निर्गुणवाद का मूल उद्गम एक ही था। वैसे तो योग का मूल शंकराचार्य के विवेकमार्तण्ड में मिलता है

योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
यत् स्वयं चादिनाथस्य निर्गतं वदनाम्बुजात्॥

'नाथ' और 'सिद्ध' पर्यायवाची नहीं हैं। नाथों के नव नाथ और चौरासी सिद्ध भिन्न हैं। 'गंगा' के पुरातत्वांक में राहुल जी ने और अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ 'नाथसम्प्रदाय' में डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस विषय में विस्तार से चर्चा की है। गौतम बुद्ध के जीवन काल में ही गान्धारी विद्या, आवर्तनी विद्या आदि का प्रचलन था, परन्तु उनके निर्वाण के उपरान्त उन विद्याओं की चमत्कारपूर्ण शक्तियों के विश्वासों पर पौराणिकता का आवरण चढ़ा। वैपुल्यवाद ने ऐसे सूत्र गढ़े, उनसे धारणियाँ बनीं। वही विकसित वैपुल्यवाद मंत्रयान, वज्रयान बना। 'मंजुश्री मूलकल्प' से इस बात का पता लगता है। महायान या वैपुल्यवाद का विकास दक्षिण भारत में विशेष रूप से ४०० ई० के बाद हुआ। उत्तर भारत में शैव राजा थे। नवी शती तक गुप्तों का राज्य उत्तर में रहा। श्रीपर्वत पर नागार्जुन ने अपना मंत्रविद्या का केन्द्र स्थापित किया। संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों में इस पर्वत का उल्लेख है। धान्यकटक में आन्ध्रों की राजधानी आ गई थी। यहाँ एक बौद्ध विश्वविद्यालय स्थापित हुआ। ईसा की सातवीं शती से वज्रयान का उग्र रूप आरम्भ हुआ। बिहार में ७५० ई० में पालवंश के राजाओं के प्रभुत्व काल में वज्रयान का विकास और हुआ।

---

१. सरस्वती, माघ २००२, भाग ४७, खण्ड १, संख्या २।

इनकी राजधानी उदन्तपुरी थी। विक्रमशिला में इन सब विद्याओं का प्रचार हुआ।

नाथ सम्प्रदाय में 'गुरु' का बड़ा महत्त्व था। इस कारण से नाथों के अध्ययन में गुरु और शिष्य के पदों के एकाकार हो जाने का खतरा सम्भवनीय है—ऐसा शिवनाथ ने अपने एक निबंध में एक विचारसूत्र उपस्थित किया है। शिवनाथ के 'नाथ और संत साहित्य की प्रासंगिकता' शीर्षक लेख में देवभाव से गुरुपूजा की परम्परा के विषय में विवेचन मिलता है

तेन सन्दर्शिते मार्गे स्वसंवेद्यस्य दर्शनम् ।
भवतीति गुरुः देवभावेन परिचिन्तयेत् ॥ ८ ॥
कथनाद् दृष्टिपाताद्वा सान्निध्याद्वावलोकनात् ।
प्रसादात् सद्गुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम्[1] ॥ १० ॥

सिद्ध तथा नाथ पन्थों के मूल बौद्धों के वज्रयान सम्प्रदाय में भी गुरु को ऐसा ही महत्त्व स्वीकार किया गया है। कहते हैं कि, आसक्तिपूर्वक सदैव गुरु की सेवा करनी चाहिए, बिना उसके करोड़ों कल्पों में भी तत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती

अत एव सदा शक्त्या युक्तं सद्गुरुपादसेवनम् ।
न च तेन विना तत्त्वं प्राप्यते कल्पकोटिभिः[2] ॥ ९ ॥

यहाँ तक कहा गया है कि गुरु ही बुद्ध, धर्म और संघ है, वही सभी तत्त्वों का शासक तथा नायक है[3]

गुरुर्बुद्धो भवेद् धर्मः सङ्घश्चापि स एव हि ।
प्रसादाद् जायते तस्य यस्य रत्नत्रयं वरम् ॥ २४ ॥
गुरुरेव समाख्यातः सर्वबुद्धैः सवज्रिभिः ।
स एव सर्वसत्त्वानां शासको लोकनायकः ॥

---

१ श्री गोपीनाथ कविराज सम्पादित सिद्ध सिद्धान्त संग्रह (पञ्चमोपदेश), दि प्रिंसेस आफ वेल्स, सरस्वती भवन टेक्स्ट्स, नं० ३, सन् १९[illegible]।

२ श्री विनयतोष भट्टाचार्य सम्पादित प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि, द्वितीय परिच्छेद, इन टू वज्रयान वर्क्स, गायकवाड्स ओरियण्टल सिरीज, नं० ४४, सन् १९२९ ई०।

३ वही ज्ञानसिद्धि, प्रथम परिच्छेद।

अन्यत्र भी गुरु को ब्रह्म तक कहा गया [1]

गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परा गतिः ।
गुरुरेव परा विद्या गुरुरेव परं धनम् ॥
गुरुरेव परः कामो गुरुरेव परायणः ।
यस्मात्तदुपदेष्टासौ तस्माद् गुरुतरो गुरुः ॥

ऐसी अवस्था में अपने गुरु के नाम पर अथवा अपनी गुरु परम्परा में आए किसी के नाम पर शिष्य के कोई रचना कर देने की पूरी सम्भावना है।

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने 'बाउल सन्तों की साधना' के विषय में चर्चा करते हुए एक बाउल पद दिया है [2]

गुरु बोले कारे प्रणाम करे निमन
तार अधिक गुरु, पथिक गुरू
और तोर गुरु अगणम,
ओ तोर गुरु सर्वजन।
गुरु रे तोर वरण डाला,
गुरु रे तोर मरण ज्वाला।
गुरु रे तोर हृदय व्यथा,
जे झराय दुनयन।

अर्थात् 'हे मन, गुरु कहकर तू किसको प्रणाम करेगा। पग पग पर तुझे आने जाने वाले मिलेंगे। व सब तेरे असख्य गुरु हैं। सारे मानव तेरे गुरु। फूलों की डाली तेरी गुरु है। हृदय व्यथा के कारण निकले हुए आँसू तेरे गुरु हैं।'

सिद्ध और नाथों के विषय में पूर्णगिरि ने भिन्न विवेचन किया है।

सम्भवत सबसे प्रथम सिद्ध सरह था जिसका समय श्री राहुल साकृत्यायन के अनुसार ७५० ईस्वी के लगभग है। अन्तिम सिद्ध सम्भवत कालपाद था। आठवीं शती से १२वीं शती तक इन सिद्धों का समय माना जा सकता है। सिद्धों की परम्परा भले ही यहाँ पूरी समाप्त न हुई हो (ऐसा

१ वही, त्रयोदश परिच्छेद।
२ श्री सी० कुन्दनराजा सम्पादित, अनपब्लिशड उपनिषद्स में द्वयोपनिषद् पृष्ठ २७, सन् १९३८।

होना कठिन भी है) किन्तु मुख्य चौरासी सिद्धों की अवधि यहीं तक समाप्त हो जाती है। ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिसके आधार पर इनका समय आगे बढ़ाया जा सके। तिब्बती जनश्रुतियाँ तो इन्हें पूर्व की ओर ही अधिक ले जाती हैं।

इन सिद्धों में सभी जातियों के लोग रहते थे। बहुत से राजकुमार और अच्छे अच्छे कुलों की कन्याएँ तक इस सम्प्रदाय में सम्मिलित थीं। उदाहरण में भुसुकुपा (नालन्दा का राजकुमार), कमरिपा (उड़ीसा का राजकुमार), मेखलापा (नगचेनगर के गृहपति की कन्या), लक्ष्मीकारा (सम्भलनगर की राजकुमारी), आदि की गणना सिद्धों में की जाती है। जाति पाँति का कुछ भी विचार न होता था। ब्राह्मणों से लेकर शूद्र तक दीक्षित हो सकते थे।

बौद्ध धर्म के शून्यवाद के प्रतिक्रियास्वरूप हिंदू धर्म का स्थूल कर्मकाण्ड बड़े विकृत रूप में उपस्थित हुआ। वाममार्ग के कुछ सिद्धान्त समझने पर उस समय की स्थिति समझ में आ सकेगी। अभी ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि वामपंथ या कौलपन्थ का विकास किस प्रकार हुआ, किन्तु वज्रयान की समृद्धावस्था में इसकी साधनापद्धति अति घृणित रूप को प्राप्त हो चुकी थी। भैरव भैरविया के सम्मिलित उद्योग से स्वर्ग या सिद्धि की प्राप्ति अति सरल थी, आवश्यकता थी केवल परोक्षसाधना के नाम पर इन्द्रियों की अनियन्त्रित उपासना की। तन्त्रों में स्पष्ट ही लिखा है कि उपासना के समय साधक भैरव और साधिका भैरवी का स्वरूप धारण कर लेती है। साधक का कर्तव्य है कि साधिका भैरवी की प्रत्येक अभिरुचि (कायिक, मानसिक एवं वाचिक) को पूर्ण करे।

कायेन मनसा वाचा सुन्दरीं यश्च तोषयेत्।
स भवेत् साधकश्रेष्ठो मातृणां च भवेत् प्रियः ॥

(कौलावलीनिर्णय)

कहने का तात्पर्य यह कि युवती की आवश्यकता कौलसम्प्रदाय में प्रति पग पर थी। इस समय शक्ति की उपासना जो निश्चय ही किसी समय अपने तात्त्विक रूप में रही होगी, अपनी घोर विकृति पर थी। कुमारी का माहात्म्य यहाँ तक बढ़ चुका था

कुमारिका भवत देवी शिवोऽपि च कुमारिका।
कुमारी योगिनी साक्षात कुमारी स देवता॥
(कौलनिर्णय)

तस्या पूजनमात्रेण त्रैलोक्यस्य पूजा भवेत।
सुकुमारी महादेवी त्रिधा मूर्तिर्व्यवस्थिता॥
(कालनिर्णय)

स्त्री मात्र की प्रधानता स्वीकृत थी, यहाँ तक कि 'स्व' और 'पर' का भी कोई भेद न था। भैरवी चक्र के समय तो कुल, शील और मर्यादा को एक ओर रख देने का आग्रह था ही, सकोचमात्र दिखाने से भी देवी रुष्ट हो सकती थी। उपासकों का सिद्धान्त केवल एक था और वह यह कि नारी मात्र भैरवी है और पुरुष मात्र भैरव।

कौलों के प्रसिद्ध गुरुओं के नाम हैं प्रह्लादानन्दनाथ, सनकानन्दनाथ, कुमारानन्दनाथ, विशिष्टानन्दनाथ, क्रोधानन्दनाथ, सुखानन्दनाथ, ज्ञानानन्दनाथ और बोधानन्दनाथ।

निश्चय ही शाक्त धर्म कबीर के समय तक अपना निकृष्टतम रूप प्राप्त कर चुका था। इसी कारण कबीर ने अनेक स्थलों पर शाक्तों की भरपेट निन्दा की है

साषित सुनहा दूनों भाई। वो नींदे वो भौंकत जाई।
का सुनहा के सुमत सुनायें। का साषित पै हरिगुन गायें।
का कऊआ को कपूर खवाय। का बिसहर कौ दूध पिलायें।
(कबीरग्रन्थावली पृ० १६३)

चन्दन की कुटकी भली, ना बबूर की अवराऊ।
बैश्नों की छपरी भली, ना सापत का बड गाऊ॥
(कबीरग्रन्थावली, पृ० ५२)

कुल ग्रन्थों में सुरा, सुन्दरी और मांस की व्यापकता है। कहीं कहीं पर इन तीनों का प्रयोग प्रतीकवत् किया गया है किन्तु बहुत से स्थानों (जिनमें से कुछ का निर्देश हम ऊपर कर चुके हैं) पर प्रतीक मानना अर्थ का अस्वाभाविक आरोप कर देना है। इन ग्रन्थों की भाषा बड़ी रहस्यमयी

मानी जाती है जिसे हर कोई नहीं समझ सकता। दीक्षा देते समय शिष्य को उपदेश दिया जाता है कि वह इस विद्या को गुप्त रखे। कुलार्णवतन्त्र में कहा गया है

'कुल मार्ग उतना ही भयावह है जितना कि एक भयंकर सिंह की गर्दन से आलिंगन करना, विषधर सर्प से खेलना या नंगी तलवार की नोकी धार पर चलना।'

अल्प श्रम से विद्यार्थी को यह समझने में देर न लगेगी कि इसमें वेद तथा अष्टांगयोग का बहुत कुछ समन्वय है, किन्तु क्रिया पक्ष में प्रवृत्तिमार्गी होने से धीरे धीरे इसमें दोषों की बाढ़ आती गई और अन्त में वह दिन भी आया जब कि यह हिन्दू धर्म का एक अतिस्थूल, विकृत और गर्हित रूप रह गया।[1] यद्यपि लक्ष्य योग तथा तन्त्र का एक ही अजरामरपद (मोक्ष की सिद्धावस्था) की प्राप्ति है तथापि तान्त्रिक बहिरंग उपासना की प्रधानता के कारण प्रवृत्तिमार्गी कहलाए किन्तु योगी अन्तरंग उपासना को ही प्रधानता देते रहे। फलतः प्रवृत्तिमार्गियों का एक दल वाममार्गी बन गया और विशुद्ध योग प्रक्रिया को अपनानेवाला दल नाथसम्प्रदाय के नाम से विख्यात हुआ। सिद्धों का उद्गम वामपन्थ से ही हुआ जान पड़ता है। सम्भव है कि सिद्धों का मार्ग आरम्भ में उतना सदोष न रहा हो जितना कि बाद में हुआ। नाथों पर तन्त्रों का प्रभाव अवश्य था किन्तु अत्यल्प मात्रा में। नाथ लोगों ने सिद्धों की वह सरणि कभी न अपनाई जो चमत्कारों को ही अपना विशेष आलम्बन बनाए हुए थी।

[2]'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' में मत्स्येन्द्रनाथ, गहिनीनाथ, ज्वालेन्द्रनाथ,

---

१ तान्त्रिकानुष्ठानस्य फलमपि योग एव। तान्त्रिका पूर्वावस्थायामपि योगित्वमुत्तरावस्थायामपि योगित्वमेव, न त्वेवं मायामन्त्राद् योगमुख्यत्वात्। न तावत्तस्य कस्यापि साधनस्य फलं तान्त्रिकाणां पूर्वावस्थायां तदनुष्ठानं बहिरङ्गमुपासनं योगिनां त्वन्तरङ्गमुपासनम्। एवं नाथिनां तान्त्रिकप्रथाया बहिरङ्गभूतान् धूम्रादीन् करोति पश्चादन्तरङ्गभूतं प्राप्तं लक्ष्यभूतं मूलाधारं कुण्डलिनीं करोति, अत कारणात् तान्त्रिका नाथिनां पयगवधूतपदं एव।

—गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह।

२ चन्द्रनाथ योगी द्वारा हिन्दी में अनुवाद।

कारिणपानाथ, चर्पनाथ, रैवणनाथ, नामनाथ, भर्तृनाथ और गोपीचन्द्रनाथ को क्रमश जिन नव नारायणों का अवतार माना गया है वे भिन्न है।

कविनारायण, करभाजननारायण, अन्तरिक्षनारायण, प्रबुद्धनारायण, पिप्पलनारायण, चमसनारायण, आविर्होत्रनारायण, हरिनारायण और द्रुमिलनारायण।

योगियों मे यह प्रवाद प्रचलित है कि गोरक्षनाथ शङ्कर से अभिन्न उन्हीं के अवतार थे। यद्यपि मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ के गुरु थे तो भी अपनी आध्यात्मिक शक्ति के कारण गोरक्षनाथ योगियों के मुख्य आचार्य माने जाने लगे।

यद्यपि 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' में गोरक्षनाथ की मृत्यु वि० स० ४१० में हुई बताइ जाती है तथापि इस समय को सिद्ध करने के लिए कोई सुदृढ़ प्रमाण नहीं मिलता। डा० फरकुहर ने गोरक्षनाथ का समय सवत् १२५७ माना है। डा० शहीदुल्ला के अनुसार इनका समय ६६५ इस्वी के लगभग है। डा० बडथ्वाल ने सवत् १०५० के लगभग इनका समय निश्चित किया है। इधर कुछ विद्वानों का मत है कि गोरख कबीर के समकालीन थे। यह इस आधार पर कहा जाता है कि कबीर और गोरख का वाक्सघर्ष ग्रन्थों में मिलता है। केवल इसी तर्क के आधार पर गोरख का समय पन्द्रहवीं शताब्दी का प्रारम्भ मानना असगत ठहरता है। कारण कि इस प्रकार के सवादों की परम्परा सन्त साहित्य में प्राय पाई जाती है। अपने अपने पन्थ का प्रभुत्व जमाने के लिए भिन्न भिन्न मतावलम्बी अपने मुख्य मुख्य आचार्यों के साथ ऐसी बातें जोड़ दिया करते थे।[1] सिक्खों के प्राचीन साहित्य म इस प्रकार का वर्णन आता है जिसमें कबीर नानक से शास्त्रार्थ में हार जाते है। इसी प्रकार गोरक्ष और कृष्ण के सवाद भी योगियों के साहित्य म मिलते हैं, जहाँ कृष्ण भगवान अन्त म गुरु गोरक्षनाथ की स्तुति करते पाए जाते हैं। इस प्रकार के सवाद केवल मन प्रसूत होते थे, इनका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता।

'हिन्दी साहित्य में योगप्रवाह' नामक लेख में डा० बडथ्वाल ने जो

१ कहते हैं कि एक बार गोरक्षनाथ ने गुरुजी की श्रद्धावश बटा के स्थान पर अपनी आँखें निकालकर दे दी थी। इस पर प्रसन्न होकर मत्स्येन्द्रनाथ ने आशीर्वाद दिया जिससे गोरक्षनाथ योगी समाज के अग्रणी और प्रथमाचार्य माने जाने लगे।

युक्तियाँ दी हैं वे बहुत कुछ अंशों में मान्य हैं। यद्यपि कुछ ऐसे भी साक्ष्य हैं जिनके आधार पर गोरख का समय बहुत पीछे की ओर ले जाया जा सकता है। किन्तु जब तक यथेष्ट प्रमाण न मिलें, इनका समय संवत् १०५० के लगभग मानना ही अधिक उचित होगा। हिन्दी का जो प्राचीनतम रूप गोरख की बानियों में मिलता है, उससे भी यह समय ठीक ठहरता है।

गोरखनाथ का नाथ पन्थ ईश्वरवादी है। उसमें अनीश्वरवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। भगवान् आदिनाथ शंकर इस पंथ के मूलप्रवर्तक माने जाते हैं। जिन विद्वानों की यह धारणा है कि नाथसम्प्रदाय बौद्धों से विकसित हुआ, वे वज्रयानी सिद्धों और नाथों में कोई मौलिक अंतर नहीं समझते। यदि नाथ लोग सिद्धों के दिखाए मार्ग को ही अपना साधन चुन लेते तो उनको कोई भी महत्त्व न मिलता। किन्तु सिद्ध लोग निश्चय ही धार्मिक ह्रास के द्योतक थे और वज्रयान की शाखा प्रशाखाओं में अपना विश्वास रखते थे।

नाथों की बानियों में 'शून्य' और 'निर्वाण' जैसे कई शब्द आते हैं जिनसे कुछ लोग यह अनुमान लगा बैठते हैं कि बौद्धों का 'शून्य' और 'निर्वाण' नाथों को प्रभावित कर चुका था। योगियों ने इस प्रकार के शब्द बौद्ध धर्म से ही नहीं, और भी बहुत सम्प्रदायों से लिए, किन्तु उनका प्रयोग सर्वत्र अपनी परम्परा के अनुकूल अर्थ में ही किया है। योगशास्त्र के अनुसार ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचकर साधक ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है। इसका अनुभव 'सुनिफल' कहकर पुकारा गया है।

उतरषण्ड जाइबा सुनिफल खाइबा
ब्रह्म अगनि पहरिबा चीर।
नीझर झरण अमृत झरिया
यूँ मन हूवा धीर॥

(गोरखबानी पृष्ठ २४)

यहाँ उतरषण्ड का अर्थ 'ब्रह्मगुहा' लेना होगा और 'सुनिफल' का अभिप्राय उस अवस्था की अनुभूति से है।

सुनि न माई सुनि न बाप।
सुनि निरञ्जन आपे आप॥

सुनि क परच भया सथीर ।
निहचल जोगी गहर गम्भीर ॥ (गोरखबानी ॥)

यहाँ सुनि का तात्पर्य असम्प्रज्ञात समाधि है। उस स्थिति को प्राप्त कर लेने के पश्चात योगी निश्चल अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

बसती न सुन्य सुन्य न बसती अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिषर महि बालक बोलै ताका नॉव धरहुगे कैसा ॥
(गोरखबानी)

उस निर्गुण सगुणातीत ब्रह्म को जो केवल अनुभवगम्य है, किस नाम से पुकारा जा सकता है। यह तो अपनी अपनी सुविधा की बात है कि कुछ मनुष्य उसे निर्गुण और कुछ सगुण पुकार लेते हैं। वास्तव में वह है तो निर्गुण और सगुण दोनों से परे, और भी न जाने क्या क्या।

आसन, प्राणायाम एवं षट्चक्रभेदन इस सम्प्रदाय की मुख्य पद्धतियाँ हैं। किन्तु अन्तिम स्थिति समाधि है। उपर्युक्त तीनों तो साधक के लिए प्रारम्भिक बहिरंग क्रियाएँ मानी जाती हैं। इस क्रिया का निर्देश भी योग ग्रन्थों से मिलता है

'छूटे छमास काया पलटंत नाग बंग बनास्पति जोगी'

नाग (शीशे की भस्म), बंग (राँगे की भस्म) और वनस्पति के प्रयोग से योगी लोगों को वर्ष में दो एक बार कायाकल्प करना चाहिये। योगियों की परम्परा है कि वे नीरोगता और शारीरिक उपयुक्तता को भी आध्यात्मिक साधना में उपेक्षा से नहीं देखते। उक्ति प्रसिद्ध है कि 'शरीरेण जिता सर्व शरीरं योगिभिर्जितम्'। शारीरिक विकारों और दुर्बलताओं का हमारे मानसिक जगत से घनिष्ठ सम्बन्ध है।[१] कभी कभी देखा जाता है कि मनुष्य प्रयत्न करने पर भी, बल्कि दुर्बलता के फलस्वरूप, अपनी भावनाओं का संस्कार करने में असमर्थ रह जाता है। आसन, प्राणायाम आदि की महत्ता इसी कारण योगियों ने स्वीकार की।

१ नाद मुक्त (मना स्नरथ) सर्वपापविनाशन ।
विरक्ता शानिन था न ेहन विनिता मना ॥
ने यथ योगिभिस्तुल्या मांसपिण्डा कुदेहिन । —गोरक्षसिद्धान्त संग्रह

समाधि की स्थिति में भी रसायन क्रिया की आवश्यकता पड़ती थी। योगियों की जीवनचर्या के अध्ययन से पता चलता है कि समाधि का उसमें महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' के आख्यानों से ज्ञात होता है कि वे लोग प्रायः बारह बारह वर्षों तक समाधिस्थ रहा करते थे और इस लम्बी अवधि तक अपना शारीरिक देख भाल के लिए शिष्य को नियत कर दिया करते थे। समाधि की अवस्था में देहाध्यास तो रहता नहीं जिससे स्वयं अपने जड़ शरीर की रक्षा बाह्य कष्टों से कर सकें, दूसरे इस दशा में देह के समस्त कार्य-व्यापार बन्द रहने से, कुछ समय पश्चात् उसके जीर्ण शीर्ण होने का भय रहता है, फिर बारह वर्ष का समय भी कम नहीं होता। रसायन के द्वारा शिष्य गुरु के शरीर को सुरक्षित रखता था।

शैव पद्धति पर हम पीछे कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। उनका प्रयास प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर जाने का था, जो यदि असम्भव नहीं तो कठिनतम अवश्य था। भले ही साधक अपनी ऊँची स्थिति पर पहुँचकर स्त्री के सान्निध्य से भी पतित न हो किन्तु साधना की अपरिपक्व अवस्था में ही नारी का विशेष संसर्ग उसे एक न एक दिन इन्द्रियों के उद्दाम आवेश में बहा देगा। अतः गोरखनाथ ने कामिनी का विरोध करना आवश्यक समझा।

> बन्दे न सोभ सुन्दरी सनकादिक के साथि।
> जब जब कलक लगाइसी काली हाडा हाथि॥
> कामनी बहता जोग न होई,
> जहा उपजै तहा फिरि आवद, च्य नामनि चित पता।
> वामा अगे सोइबा जमचा भोगबा सगे न पीवणा पाणी॥
> इमतौ अमरावर होइ मछिन्द्र, बोल्यौ गोरष वाणी॥
> (गोरखबानी)

नारी स्वभावतः ही पुरुष के लिए आसक्ति का विषय है। उसी प्रकार नारी के लिए पुरुष भी। कैसा भी सिद्ध पुरुष हो, आसक्ति का उपकरण पास रहने पर कभी न कभी उसके पतन की आशंका रहती ही है। फिर गोरख ने जो कुछ कहा, वह साधारण स्त्री पुरुषों के लिए नहीं, प्रत्युत योगमार्ग में प्रविष्ट 'अवधूतों' के लिए ही।

कबीर पर भी इस परम्परा का बहुत कुछ प्रभाव था। नारी के सम्बन्ध में सारा निर्गुण सम्प्रदाय ही एकमत है

एक कनक अरु कामनीं विषफल कीएउ पाइ।
देखें ही थें विष चढ़े खाये सू मर जाइ॥

(कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४०)

सुन्दरि थैं सूली भली, बिरला बन्चै कोइ।
लोह निहाला अगनि में जलि बलि कोइला होइ॥
नर नारी सब नरक है जब लग देह सकाम।
कहै कबीर ते राम कै, जे सुमिरैं निहकाम॥

(कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४०)

बौद्ध धर्म का उदाहरण हमारे सामने ही है। बुद्ध स्वय नहीं चाहते थे कि स्त्रियाँ उनके सघ में शामिल हों, किन्तु प्रियशिष्य आनन्द के कहने पर किसी प्रकार उन्होंने स्त्रियों को भी भिक्षुणी बनने की अनुज्ञा दे दी। वज्रयान में कालान्तर में जो व्यभिचार बढ़ा उसका कारण शायद भिक्षुणियां ही थीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्त्रियों के प्रवेश ने बौद्ध धर्म के मूल को बहुत खोखला कर दिया था। प्रसिद्ध योगी चरपटनाथ ने स्त्री में आसक्त सिद्धों को खूब फटकारा है

नाथ कहावैं सकहि न नाथि
चेलाप थ चलावैं साथि।
मागे भिच्छा भरि भरि खाहिं
नाथ कहावैं मरि मरि जाहि॥
धाकर धूकर की डगुर हाथि
वाली मोती तरुणी साथि।
दिन करि भिच्छया रात्यूं भोग,
चरपट कहै बिगोवै जोग॥

अपने समय में प्रचलित सिद्ध समाज के दोष गोरख की पैनी दृष्टि से छिपे न रह सके। वे अपने सिद्धान्तों के इतने दृढ़ थे कि उनके विरुद्ध थोड़ी भी उपेक्षा उन्हें सहन न थी। मादक द्रव्यों के सेवन तक का कड़ा निषेध किया गया

आफू पाय भागि मस्कावै, ता म अकछि कहाँ ते आवै।
चढतों पित्त उतरता बाइ, तात गोरष भागि न पाइ॥
जोगी होइ पर निद्रा भपै, मद माम अरु भागि न भषै।
इकोतरस पुरिषा नरकहि जाइ, सति सति भाषन्त श्री गोरपराइ॥

ब्रह्मचर्य के निरन्तर पालन से ऊर्ध्वरेता बनने की प्रेरणा नाथों के उपदेशों मे सर्वत्र मिलती है

अरधै जाता उरधै धरै, काम दगध जे जोगी करै।
तजै अल्यान काटै माया, ताका विस्नु पषालै पाया॥

(गोरखबानी)

साधनाप्रधान होने के कारण योगमार्ग में जाति पाँति का भेदभाव स्वीकृत न था।

योगियों के मत से सृष्टि दो प्रकार की है पहली नाद परम्परा की और दूसरी बिन्दु परम्परा की। उनकी धारणा है कि आदिनाथ शूलपाणि ही इन दोनों परम्पराओं के नियामक हैं। नाद परम्परा से हमारा तात्पर्य शिष्यक्रम से है और बिन्दु परम्परा से गार्हस्थ्य वंशक्रम से। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि एक पक्ष नाद अर्थात् गुरुमन्त्र पर अवलम्बित है तो दूसरा वीर्यज सृष्टि पर। निस्सन्देह पहला प्रकार (नादक्रम) ही श्रेष्ठ है क्योंकि उसमें निवृत्ति या श्रेय पक्ष ही एक मात्र ध्येय रहता है। किन्तु दूसरी कोटि में संसार की सभी वस्तुओं के प्रति आकर्षण रहता है। नाद का सम्बन्ध सूक्ष्म ज्ञान से है और बिन्दु का सम्बन्ध स्थूल माया से। नाथ लोग नादानुयायी हैं, अतः उन्हें बिन्दु परम्परागत मायाप्रधान संसार से वैराग्य लेना आवश्यक है। इस प्रकार वैराग्य को मूल मानकर नाथों का साधनाक्रम चलता है। नाद से नव नाथों की उत्पत्ति हुई, ऐसा योग ग्रन्थों में उल्लेख है, बिन्दु से सदाशिव की। सदाशिव भैरव से विष्णु, विष्णु से ब्रह्मा, सूर्य से चन्द्र, इत्यादि की उत्पत्ति हुई। योग के अनुसार सृष्टि की परम्परा किस प्रकार निर्मित हुई, इसका स्पष्टीकरण 'सिद्धान्तपद्धति' में विस्तार से है।[1]

१ नाथाद् द्विप्रकारा सृष्टिर्जाता नादरूपा बिन्दुरूपा च। नादरूपा शिष्यक्रमेण बिन्दुरूपा च पुत्रक्रमेण। नादान्नव नाथा जाता बिन्दुतः सदाशिवो भैरवो जातः।

योग की सबसे ऊँची अवस्था असम्प्रज्ञात समाधि है। गोरक्ष और उनके अनुयायी नाथों के जीवनवृत्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये शिष्य को क्रमशः अभ्यास कराते कराते अन्तत असम्प्रज्ञात तक पहुँचा देते थे। शिष्य बनाने के पूर्व उसकी योग्यता अयोग्यता को अच्छी तरह परख लिया जाता था। अन्तिम अवस्था के पूर्व तक उसे बड़ी सावधानी से योगमार्ग की शिक्षा दी जाती थी। सम्प्रदायमात्र बढ़ाने के विचार से हर किसी को अपने मत में ये लोग नहीं लेते थे। निस्सन्देह यह असम्प्रज्ञातावस्था पतञ्जलि के अष्टांगयोग की सबसे पूर्ण अवस्था है। असम्प्रज्ञात के भी दो भेद होते हैं एक भव प्रत्यय और दूसरा उपाय प्रत्यय। भव प्रत्यय को जड़ समाधि भी कहा जाता है जो कैवल्य के इच्छुकों को कदापि इष्ट नहीं है। अस्तु, नाथों ने भी सारा श्रम उपाय प्रत्यय के लिए ही किया, भव प्रत्यय के लिए नहीं। सुयोग्य गुरु की प्रेरणा से सुप्रयुक्त पात्र शीघ्र ही योग में निष्णात हो जाया करते थे।

योग के ग्रन्थों में 'नाथ' शब्द का तात्पर्य पूरा सिद्ध या पूर्णत्व प्राप्त किया हुआ महापुरुष है। 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' में लिखा है कि 'अस्माकं मते शक्तिः सृष्टिं करोति, शिवः पालनं करोति, कालः संहरति, नाथो मुक्तिं ददाति'। अर्थात् हमारे मत में शक्ति सृष्टि करती है, शिव पालन करते हैं और नाथ मुक्ति देता है।[१] नाथ शब्द से यह ध्वनि भी निकलती है कि जिसने अपनी इन्द्रियों को नाथ लिया हो, अर्थात् वश में कर लिया हो। 'राजगुह्य' में नाथ का अर्थ इस प्रकार समझाया गया है

पुनः शब्दसृष्टिप्रकारमाह—एका सूक्ष्मरूपिणी। द्वितीया स्थूलरूपिणी। सूक्ष्मरूपिणी प्रणवो महागायत्री योगशास्त्रमिति। स्थूलरूपिणी ब्रह्मगायत्री वेदत्रयादि। पुनः योगशास्त्रतस्तन्त्रशास्त्रं जातं, वेदात् स्मृत्यादिशास्त्रं जातम्। पुनर्नवनाथानां पश्चाद् द्वादश सिद्धाश्चतुरशीतिश्च द्वादश पन्थानोऽनन्तसिद्धाश्च जाताः। पुनर्योगात् शेषयोगसारमयोगादयोऽनेकयोगा अनेकभेदैर्जातास्तेन योगेन ज्योतिषन्यायादिकं शास्त्रं, श्रुतिनः स्मृतिशास्त्रं व्याकरण पुराणोपपुराणा अनेकेतिहासा जाताः।

(गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह)

१ भवेय मनुष्यो यदेकस्तु राजा यदा जन्तुरेको भवेय मृगेन्द्रः।
यदा शास्त्रमेकं तदा योग एव यदा देव एकस्तदा नाथ एव॥

'नाकारो नास्ति पकार स्थाप्यता सदा ।'

'अवधूत'[1] का व्यवहार भी लगभग इसी अर्थ में होता है। 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' के अनुसार अवधूत का लक्षण है 'सर्वान् प्रकृतिविकारानवधुनोतीत्यवधूत ।' अर्थात जो प्रकृति के समस्त विकारों को दूर कर सके वही अवधूत है।

वेदों में प्रतिपाद्य प्रणव का महत्त्व योग में सर्वत्र मान्य है। शैवमत में भी प्रणव का महत्त्व इसी प्रकार माना गया है। शैवों के मूल ज्ञान भगवान् शंकर हैं और नाथों के भी। इसी प्रकार के कुछ अन्य सिद्धान्त भी हैं जो नाथों और शैवों में समान रूप से मिलते हैं। योगियों का प्रयोजन स्थूल वेद में उतना नहीं है जितना कि उसके सारतत्व प्रणव में। अतः योग पद्धति में ग्रन्थों की व्यर्थ उलझन से बचकर सारमात्र ग्रहण करने की शिक्षा दी गई है। 'कावेषयगीता' में एक उदाहरण दिया गया है कि एक बार दुर्वासा मुनि अनेक प्रकार के शास्त्रसहित महादेवजी के पास आए। इस पर भरी सभा में नारदजी ने उन्हें भारवाही गर्दभ की उपाधि दी। इस पर क्रोध से सब पुस्तकों को लवणसागर में डालकर दुर्वासा मुनि महादेवजी से अध्यात्मविद्या सीखने लगे। यह अध्यात्मविद्या और कुछ नहीं, योगविद्या ही थी। कहा भी गया है

गृहे गृहे पुस्तकभारभारा पुरे पुरे पण्डितयूथयूथा ।
वने वने तापसवृन्दवृन्दा न ब्रह्मवेत्ता न च कर्मकर्ता ॥

घर घर में पुस्तकों का भार है, नगर नगर में पण्डितों के समुदाय हैं। वन वन में तापसों के झुण्ड हैं किन्तु न कोई ब्रह्मज्ञानी है और न कोई कर्मयोगी है।

'कहते हैं कुछ शास्त्र मोक्ष के रक्षक हैं और कुछ व्यवहार के। जो मोक्ष के रक्षक हैं वे योगशास्त्र हैं और जो व्यवहार के रक्षक हैं वे श्रुति स्मृति आदि हैं।'

---

१ वचने वचने वेदास्तीर्थानि च पदे पदे ।
दृष्टौ दृष्टौ च कैवल्यं सोऽवधूत श्रियेऽस्तु न ॥
एकहस्ते धृतस्त्यागो भोगश्चैककरे स्वयम् ।
अलिप्तस्त्यागभोगाभ्यां सोऽवधूत श्रियेऽस्तु न ॥ गो० सिं० सं० ॥

योगशास्त्र में पुरुष के बत्तीस लक्षण बताए गए हैं

१ निरालम्ब	१७ अयाचक
२ निर्भ्रम	१८ अवाञ्छक
३ निवासी	१९ अमान
४ नि शब्द	२० अस्थिर
५ निर्मोह	२१ शुद्धि
६ निर्बन्ध	२२ सयमी
७ नि शक	२३ शान्त
८ निर्विषय	२४ श्रोता
९ सर्वांगी	२५ सुहृत्
१० सावधान	२६ शीतल
११ सन्	२७ सुखद
१२ सारग्राही	२८ स्वभाव
१३ निष्प्रपच	२९ लय
१४ निस्तरग	३० लक्ष्य
१५ निर्द्वन्द्व	३१ ध्यान
१६ निर्लेप	३२ समाधि

योगसाधना अवस्था भेद से चार प्रकार की मानी गई है पहली आरम्भावस्था, दूसरी घटावस्था, तीसरी परिचयावस्था और चौथी निष्ठावस्था। निष्ठावस्था विकास की पूर्णावस्था है। योगी अपने पूर्ण स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर निरजन देव में तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इस पद को प्राप्त कर साधक ऐसे आनन्द का अनुभव प्राप्त करता है जिसकी अभिव्यक्ति वाणी से परे है। जो अनाहतनाद घटावस्था में उठना आरम्भ होता है वह इस समय लय की दशा में हो जाता है। योगी अनन्त शान्तस्वरूप को धारण कर लेता है। इस समय के अनिर्वचनीय सुख का ज्ञान अनुभवी को ही हो सकता है। राग, अभिनिवेश, माया, ममता आदि जड तत्वों से आक्रान्त सामान्य मनुष्य उसका अनुमान नहीं लगा सकता। शिष्य की अथक साधना और गुरु की अनन्त कृपा से ही यह स्थिति मिलती है। निष्ठावस्था में पहुँचकर चित्स्वरूप की पूर्ण उपलब्धि हो जाती है।

किवदन्ती है कि योगियों को आदिनाथ महादेव ने अपने स्वरूप से विभूषित किया। इस समाज के मुख्य चिह्न हैं कुडल, सेली और शृंगीनाद। ये चिह्न भिन्न भिन्न अभिप्रायों के प्रतीक हैं, जैसे शृंगीनाद धारण करने का अर्थ है योगियों का नादपरम्परागत होना। कुडल धारण करने के कारण बाद में ये ही लोग कनफटा भी कहलाने लगे। बोल चाल में 'आदेश' और 'अलक्ष्य' शब्दों का विशेष व्यवहार होता है।

योगी लोग स्वभाव से ही भ्रमणशील रहे हैं, जिसके दो कारण हैं एक वैराग्य और दूसरा योग धर्म की वृद्धि। शिष्य को असम्प्रज्ञात समाधि में निष्णात कर उसे मुमुक्षुओं के हितार्थ स्वतन्त्र घूमने की अनुज्ञा दे देना इनका नियम था। एक समय था जब कि इस सम्प्रदाय के लोग भारत के कोने कोने में व्याप्त थे और अपने अथक परिश्रम से योग का महत्व स्थापित कर रहे थे। गोरखनाथ ने जीवनपर्यन्त पर्यटन किया और योग्य साधकों को अपने सम्प्रदाय में दीक्षित किया। एक स्थान पर बिना विशेष कारण के अधिक समय तक ये लोग नहीं ठहरते थे। इनका जो कुछ भी साहित्य आज प्राप्त है उसे देखने से प्रत्यक्ष हो जाता है कि इनकी वाणी में अनेक भाषा के शब्दों का समन्वय है। कबीर, गोरख, चर्पटनाथ इत्यादि सन्तों की भाषा सधुक्कड़ी कहलाती है। सधुक्कड़ी भाषान्तर्गत साहित्य की प्रवृत्ति सदैव जनता के अधिकाधिक निकट रहने की रही है। संस्कृत को छोड़कर हिन्दी भाषा को अपनाना इसी कारण इन लोगों ने अच्छा समझा कि वह विशाल जन समुदाय तक पहुँच सकती थी।

इस विवेचन में बौद्धधर्मी स्त्रियों के विषय में गोस्वामीजी के विचार निर्बाध हैं, क्योंकि 'थेरीगाथा' इस बात का प्रमाण है कि उनका उल्लेख किया हुआ बौद्ध धर्म का ह्रास उस कारण से नहीं हुआ था।

नाथपन्थ और योग के बीच में बहुत सा साम्य था। यह बात आगे पृ० २३२-२३३ पर दिये हुए 'कुडलिनी तथा षट्चक्र' के चार्ट से स्पष्ट होगी।

'कुण्डलिनी', 'नाद', 'बिन्दु' आदि तन्त्रशास्त्र से लिये शब्द थे। तांत्रिक दृष्टि को समझने के लिए उसकी पारिभाषिक शब्दावली का थोड़ा परिचय आवश्यक है।

कुण्डलिनी तथा षट्चक्र—

कुंडलिनी का पथ चार (वाक्)	खंड नाम	स्थान	दल संख्या	तत्व का वर्ण	तत्व और गुण तथा किरण	वर्ण	मण्डल का आकार तथा ग्रन्थि
१	२	३	४	५	६	७	८
मूलाधार (परा)	अग्नि	रीढ़ के अधिभाग	४	पीत	पृथ्वी आकर्षण ५६ गंध	व,श,ष,स	वर्गाकार
स्वाधिष्ठान (पश्यन्ती)		मेरुदण्ड से मेढ़ू के ऊपर	६	श्वेत	जल संकोचन ६२ रस	ब,भ,म, य र, ल	रुद्रग्रन्थी अर्धचन्द्र
मणिपूर	सूर्य	मेरुदण्ड से नाभि के पास	१०	लाल	तेज प्रसारण ५२ रूप	ड, ढ, ण त,थ,द, ध न,प, फ	त्रिभुज
अनाहत (बुद्धि से मिलकर वैखरी)		हृदय के पास	१२	धूम्र	वायुगति ५४ स्पर्श	क,ख,ग,घ, ङ,च,छ,ज, झ,ञ,ट,ठ,	विशुद्ध ग्रन्थी षट्कोण
विशुद्ध	चन्द्र	कण्ठ के पास	१६	श्वेत	आकाश अवकाश ७२ शब्द	अ,आ,इ,ई उ ऊ ऋ ॠ लृ,लॄ,ए,ऐ ओ औ अं अः	वृत्त
आज्ञा		भ्रुवों के मध्य	२		मानस ६४	ह क्ष	ब्रह्मग्रन्थी

(कुण्डलिनी जागृत होने पर)

बीज और वाहन	देवता और वाहन	धातु शक्ति	लिङ्ग और योनि	अन्यान्य तत्त्व और इन्द्रिय	पीठ	गुण	लोक	देवता
९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७
लं ऐरावत	ब्रह्मा हंस	डाकिनी	स्वयम्भू त्रिपुर त्रिकोण	गन्धतत्त्व चरण घ्राणेन्द्रिय	कामाख्या	तमस्	भुव लोक	अग्नि
वं मकर	विष्णु गरुड	राकिनी		रसतत्त्व हस्त रसना			स्व लोक	
रं मेष	रुद्र वृषभ	लाकिनी		रूपतत्त्व चक्षु, पायु		रजस्	मह लोक	सूर्य
यं कृष्णमृग	ईश	काकिनी	बाण त्रिकोण	स्पर्शतत्त्व त्वचा उपस्थ	पूर्णगिरि		जन लोक	
हं श्वेतगज	सदाशिव	शाकिनी		शब्दतत्त्व कान, वाक्	जालंधर	सत्त्व	तपो लोक	चन्द्र
ओम्	शंभु	हाकिनी	इतर त्रिकोण	महत् तत्त्व सूक्ष्मप्रकृति हिरण्यगर्भ	उड्डीयान		सत्य लोक	

महामहोपाध्याय प० गोपीनाथजी कविराज ने अपने 'तान्त्रिक दृष्टि' निबंध में इस विषय का विस्तार से विचार किया है।[1] जिस प्रकार बौद्धगण बुद्ध धर्म, तथा संघत्रिरत्न (तीन रत्न) स्वीकार करते हैं वैसे ही भेदवादी तान्त्रिक आचार्यगण भी शिव, शक्ति और बिन्दु ये तीन रत्न मानते हैं। ये ही समस्त तत्वों के अधिष्ठाता एवं उपादानरूप से प्रकाशमान हैं। शुद्ध तत्वमय कार्यात्मक शुद्ध जगत् का उपादान बिन्दु है तथा कर्ता शिव है और कारण शक्ति है। अशुद्ध तत्वमय जगत् में भी परम्परा से शिव और शक्ति ही हर्ता एवं कारण हैं तथा निवृत्ति आदि कलाओं के द्वारा बिन्दु आधार है। बिन्दु का ही दूसरा नाम महामाया है। शब्दब्रह्म, कुण्डलिनी, क्रियाशक्ति, अनाहत और व्योम इन विचित्र सुखमय भुवन और भोग्यादि के रूप में परिणत होकर यही शुद्ध जगत् उत्पन्न करता है। भोगार्थी साधक भौतिक दीक्षा के प्रभाव से इस आनन्दमय राज्य में प्रवेश का अधिकार प्राप्त करता है। किन्तु जो पहले से ही इस महामाया के राज्य के सुखभोग की इच्छा नहीं

---

१ कामिक, रौरव, स्वायम्भुव, मृगेन्द्र आदि आगमों में तथा अघोरशिव, सद्योजात, रामकण्ठ, नारायणकण्ठ आदि आचार्यों के ग्रन्थों में इसका विशेष विवरण मिलता है। इसके मूल में भेददृष्टि रहती है। अभेदवादी आगम और आचार्यों के ग्रन्थों में न्यूनाधिक रूप से दूसरी तरह का विवरण भी है। इसका मूल कारण दृष्टिभेद ही है। शाक्तगण प्रधानतः अद्वैतवादी हैं। शैव सम्प्रदाय में द्वैत और अद्वैत दोनों ही प्रकार की दृष्टियाँ हैं। प्रसिद्धि ऐसी है कि शिव के ईशानादि पाँच मुखों से ही समस्त मूल तन्त्रों का आविर्भाव हुआ है। उनमें भेदप्रधान शिवतन्त्र दस हैं, भेदाभेदप्रधान रुद्रतन्त्र अठारह हैं एवं अभेदप्रधान भैरव तन्त्र चौंसठ हैं। ईशान, तत्पुरुष एवं सद्योजात इन तीनों मुखों में से प्रत्येक की उद्भूत और उद्भवी मुख ये दो अवस्थाएँ हैं। इस प्रकार अलग अलग तीन मुखों से छः तन्त्रों का आविर्भाव हुआ है। इसके पश्चात् दो दो मुखों के मिलने से (अर्थात् ईशान तत्पुरुष, ईशान सद्योजात एवं सद्योजात तत्पुरुष से) तीन तन्त्र होते हैं। फिर तीनों के मिलने से एक तन्त्र और होता है। इस प्रकार कुल तन्त्र दस हैं। ये भेदप्रधान हैं। इसी तरह अठारह भेदाभेदतन्त्र भी समझने चाहिये। वे पूर्वोक्त तीन मुखों के साथ वामदेव और अघोर नाम के दो मुखों के व्यष्टि और समष्टि भाव से मिलने से अथवा केवल वामदेव और अघोर इन दो मुखों से उत्पन्न होते हैं। इस जगह इसकी विशेष प्रक्रिया नहीं दिखाई जाती है। यह जो शिवज्ञान और रुद्रज्ञान नामक दो ज्ञानों की बात कही गई है वह ऊर्ध्वस्रोत के अन्तर्गत है। अभेदज्ञान या भैरवागम

रखते वे नैष्ठिक दीक्षा प्राप्त कर के शक्ति के साथ नित्य मिले हुए शिवस्वरूप साक्षात परमेश्वर को उपलब्ध करते हैं।

बिन्दु क्षुब्ध होकर जिस प्रकार एक ओर शुद्ध देह, इन्द्रिय, भोग और भुवन के रूप में परिणत होता है, जिसे कि 'शुद्ध अध्वा' कहते हैं, उसी प्रकार दूसरी ओर यही शब्द की भी उत्पत्ति करता है। शब्द सूक्ष्मनाद, अक्षरबिन्दु और वर्णभेद से तीन प्रकार का है। सूक्ष्मनाद अभिधेय बुद्धि का कारण एवं बिन्दु का प्रथम प्रकार है। यह चिन्तनशून्य है। अक्षरबिन्दु सूक्ष्मनाद का कार्य और परामर्शज्ञानस्वरूप है। यह मयूराण्डरसन्याय की तरह अनिर्वचनीय है। आकाश और वायु से श्रोत्रग्राह्य वर्णात्मक स्थूल शब्द उत्पन्न होता है। कालोत्तर तन्त्र में लिखा है

> स्थूल शब्द इति प्रोक्तं सूक्ष्मं चिन्तामयं भवेत्।
> चिन्तया रहितं यत्तु तत्परं परिकीर्तितम्॥

बिन्दु जड होने पर भी शुद्ध है। पाञ्चरात्र अथवा भागवत सम्प्रदायान्तर्गत वैष्णव आगम में 'विशुद्ध सत्व' शब्द से जो कुछ समझा जाता है वही बिन्दु है। परमेश्वर के साथ बिन्दु अथवा महामाया के सम्बन्ध के विषय में दो प्रकार के मत प्रचलित हैं

(क) एक प्रसिद्ध मत तो यह है कि शिव की दो शक्तियाँ हैं समवायिनी और परिग्रहरूपा। समवायिनी शक्ति चिद्रूपा, अपरिणामिनी, निर्विकारा और स्वाभाविकी है। यही शक्ति तत्त्व है। यह शिव में नित्य समवेत रहती है। शिव शक्ति दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध है। परिग्रह शक्ति अचेतन और परिणामशीला है। इसका नाम बिन्दु है। बिन्दु के शुद्ध और

शिव के दक्षिण मुख अथवा योगिनीतन्त्र से अभिव्यक्त होता है। यह शिवशक्ति संयोगरूप तथा अद्वयस्वभावविशिष्ट है।

जिस प्रकार मयूर के अण्डे के रस में उसके पर्णों के तरह तरह के रंग अभिन्नभाव से अव्यक्तरूप से रहते हैं उसी प्रकार अक्षर बिन्दु में स्थूल वाणी का सम्पूर्ण वैचित्र्य अव्यक्त रूप से अभिन्न होकर रहता है। यही मयूराण्डरस न्याय है।

स्थूल बिन्दु शब्द कहा गया है, सूक्ष्म चिन्तामय है और जो चिन्तन से भी रहित है वह 'परबिन्दु' कहा गया है।

अशुद्ध दो रूप है। साधारणतः शुद्ध रूप को ही बिन्दु और महामाया कहा जाता है। अशुद्ध रूप का नाम माया है। दोनों ही नित्य हैं। अशुद्ध अध्वा का उपादान कारण माया है और शुद्ध अध्वा का उपादान महामाया है। यही इन दोनों का अन्तर है। सांख्यसम्मत तत्त्व एवं कलादिपञ्चक अशुद्ध अध्वा के ही अन्तर्गत हैं। यह सब माया का ही कार्य है (अन्य पुरुष या आत्मा नित्य है तथा इनसे विलक्षण है, परन्तु उसमें भी पुरुषत्व नामक आवरण रहता है)। माया से ऊपर के तत्त्व शुद्ध अध्वा के अन्तर्गत हैं।

(ख) दूसरा मत यह है कि एकमात्र बिन्दु ही शुद्ध और अशुद्ध अध्वा का उपादान है। इस मत में माया नित्य नहीं है, किन्तु कार्यरूपा है। महामाया या बिन्दु की तीन अवस्थाएँ हैं परा, सूक्ष्मा और स्थूला। परा अवस्था को महामाया, परामाया, कुण्डलिनी आदि नामों से कहा जाता है। यही परम कारण और नित्य है। सूक्ष्म और स्थूल ये दोनों अवस्थाएँ कार्य होने के कारण अनित्य हैं। महामाया के विक्षुब्ध होने पर ही उससे शुद्ध धामों तथा उनमें रहने वाले मन्त्रों (विद्याओं) एवं मन्त्रेश्वरों (विद्येश्वरों) के शरीर और इन्द्रियादि रचे जाते हैं। अर्थात् शुद्ध लोकों के सस्थान और देहादि सब साक्षात् महामाया के कार्य हैं। ये शुद्ध मायातीत और उज्ज्वल हैं। महामाया की सूक्ष्म या दूसरी अवस्था का नाम माया है। कलादि तत्त्व समूह का अविभक्त स्वरूप ही माया है। कलादि के सम्बन्ध के कारण ही द्रष्टा आत्मा भोक्ता पुरुषरूप में परिणत होता है। माया से तत्त्व एवं भुवनात्मक कलादि तथा प्रकृति आदि साक्षात् या परम्परा रूप से उत्पन्न होते हैं। सारे अशुद्ध अध्वा का मूलकारण यह माया ही है। आगम में जिस प्रकार इसे 'जननी' कहा गया है वैसे ही 'मोहिनी' भी कहा गया है। महामाया की स्थूल या तीसरी अवस्था का नाम प्रकृति है। यह त्रिगुणमयी है। प्रकृति साक्षात् या परम्परा क्रम से भोक्ता पुरुष के बुद्धि आदि भोग साधनों को तथा समस्त भोग्य विषयों को उत्पन्न करती है। कलादि के सम्बन्ध से पुरुष भोक्ता हो गया है, इसी से उसके भोग्य तथा भोगसाधनों की सृष्टि के लिये महामाया ने प्रकृतिरूप स्थूल अवस्था ग्रहण की है।

बिन्दु शिव में समवेत नहीं है यह पहले कहा जा चुका है। यही प्रचलित मत है। इस मत में बिन्दु परिणामी होने के कारण जडरूप है। इसी से

चिन्मात्मक परमेश्वर के रूप से इसका समवाय सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जाता। शिव के साथ बिन्दु का समवाय स्वीकार करने पर उनके अचेतनत्व का प्रसंग अनिवार्य हो जायगा। श्रीकण्ठाचार्य कहते हैं—

न हि तादात्म्यसम्बन्धो जडेन जडिमावहः।
शिवस्यानुपमाखण्डचिद्घनस्वरूपिणः॥[1]

किन्तु तान्त्रिक सम्प्रदायों में कोई कोई बिन्दुसमवायवादी भी थे। उनके मतानुसार शिव की समवायिनी शक्ति दो प्रकार की है — एक तो चित्शक्ति या ज्ञानशक्ति और दूसरी क्रियाशक्ति या कुण्डलिनी। क्रियाशक्ति का ही दूसरा नाम बिन्दु है। माया परिग्रह है, इससे माया भिन्न है। माया शिव में समवेत नहीं होती। अपने में समवेत ज्ञानशक्ति के द्वारा परमेश्वर का जगद्विषयक ज्ञान और क्रियाशक्ति के द्वारा उनकी जगद्रचना उत्पन्न होती है। ज्ञानशक्ति भिन्न भिन्न पदार्थों को विषय करने से ही चरितार्थ होती है। किन्तु क्रियाशक्ति के बिना वस्तुनिर्माणरूप फल नहीं हो सकता। ये ज्ञान और क्रियारूपा दो शक्तियाँ परमेश्वर में अविनाभूतरूप से प्रतिष्ठित हैं।

जिस प्रकार बिन्दु का क्षोभ होने से शुद्ध जगत् उत्पन्न होता है वैसे ही माया का क्षोभ होने पर अशुद्ध जगत् का आविर्भाव होता है। अपने में समवेत शक्ति के द्वारा परमेश्वर के बिन्दु को स्पर्श करने से बिन्दु में क्षोभ होकर वैषम्य होता है और किसी प्रकार नहीं। अतः एकमात्र साक्षात् परमेश्वर की शक्ति के प्रभाव से ही शुद्ध जगत् की उत्पत्ति हो सकती है। किन्तु माया का क्षोभ इस प्रकार साक्षात् रूप से परमेश्वर की शक्ति द्वारा नहीं होता।

तन्त्रमत में सृष्टि, पालन, संहार, निग्रह और अनुग्रह इन पाँच कार्यों का मुख्य कर्ता एकमात्र परमेश्वर ही है, ब्रह्मादि तो केवल द्वारमात्र हैं। इसी से सर्वत्र उसे 'पञ्चकृत्यकारी' कहकर वर्णन किया गया है। इन्हीं कृत्यों का सम्पादन करने के लिये शुद्ध अध्वा की आवश्यकता होती है। इसीलिये बिन्दु के क्षोभ की भी अपेक्षा है। यद्यपि वस्तुतः परमेश्वर एक और अद्वितीय है तथा उसकी शक्ति भी वैसी ही है तथापि उपाधिभेद के कारण उसमें

1 जड के साथ यह तादात्म्य सम्बन्ध अनुपम और अखण्ड चिद्घनस्वरूप शिव के जडत्व का कारण होगा।

आरोपित किया हुआ भेद भी अवश्य है। जिस समय उसकी शक्ति अव्यक्त रहती है, उस समय वह निष्क्रिय, शुद्ध और सच्चिद्रूपा होती है। उस समय बिन्दु भी स्थिर और अक्षुब्ध रहता है, क्योंकि शक्ति की सक्रिय अवस्था हुए बिना बिन्दु क्षुब्ध नहीं हो सकता। पर बिन्दु के स्वरूप के अधिष्ठाता परमेश्वर की यह लयावस्था है। यहाँ प्रसंगवश एक बात कहना उचित जान पड़ता है। प्रचलित मत में शक्ति एक होने के कारण उसमें ज्ञान और क्रिया का कोई भेद नहीं है। जो भेद प्रतीत होता है वह औपाधिक है। अतः ज्ञान भी सदा क्रियारूप ही है। इसी से क्रिया शब्द से प्रायः शक्ति ही समझी जाती है। जिस समय यह शक्ति सारे व्यापारों को समाप्त करके स्वरूपमात्र में स्थित होती है उस समय शिव को शक्तिमान कहा जाता है। क्रियारूपा शक्ति उस समय मुकुलिता सी हुई शिव में स्थित रहती है। यही शिव की पूर्वोक्त लयावस्था है। जिस समय यह शक्ति उन्मेष को प्राप्त होकर उद्योग पूर्वक बिन्दु को कार्यक्षम करके शिव के ज्ञान और क्रिया की समृद्धि करती है तब शिव की भोगावस्था होती है। परमेश्वर का भोग या परमानन्द सुखसंवेदनरूप नहीं है, क्योंकि मलहीन चित्सत्ता में उपाधिभूत आनन्द और भोग की सम्भावना नहीं है। इस अवस्था में शक्ति सक्रिय रहती है। इसी से उसके साथ शिव को भी सक्रिय कहा जाता है :

स तया रमते नित्यं समुद्युक्तः सदाशिवः।
पञ्चमन्त्रतनुः श्रीमान् देवः सकलनिष्कलः ॥[1]

लयावस्था में शिव को निष्कल एवं भोगावस्था में सकल निष्कल कहा जाता है। किन्तु इन दोनों के अतिरिक्त उनकी अधिकारावस्था नाम की एक और भी अवस्था है, जिसका वर्णन आगे किया जाएगा। इस अवस्था में वे सकल रहते हैं। किन्तु उनका यह अवस्थाभेद वास्तविक नहीं है, औपचारिक मात्र है। शक्ति या कला की अविकास दशा, विकासोन्मुख दशा एवं पूर्णविकास दशा के अनुसार ही शिव के इस अवस्थाभेद की कल्पना की जाती है।

१ ये पञ्चमन्त्रतनु सकल निष्कल भगवान् सदाशिव उद्युक्त होकर सर्वदा उस शक्ति के साथ क्रीडा करते हैं।

शिव और शक्ति के इस अवस्थाभेद के मूल में बिन्दु का अवस्थाभेद रहता है। निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति तथा शान्त्यतीत ये कलाएं बिन्दु की ही पृथक पृथक अवस्थाएँ हैं। उनमें शान्त्यतीत कला बिन्दु का स्वरूप मानी जा सकती है। वह अक्षुब्ध बिन्दु या लयावस्था है। शुद्ध और अशुद्ध जितने भी भोगाधिष्ठान हैं वे सब शान्ति आदि चार कलाओं के ही परिणामस्वरूप हैं। वस्तुतः भोगाधिष्ठान कहने पर शान्ति आदि चार कलाओं के भुवन ही समझे जाएँगे। शान्त्यतीत रूप या परबिन्दु समस्त कलाओं की कारणावस्था या लयावस्था है। अतः शान्त्यतीत भुवन ठीक ठीक भोगस्थान नहीं है। किन्तु सृष्टि के आरम्भ में ही उत्पन्न होने के कारण किन्हीं किन्हीं आचार्यों ने इसकी भी भोगस्थानों में गणना की है। यह भोग की बीजावस्था है।

कलात्मक शक्ति ही शिव के देहरूप में अध्यस्त होती है। अतएव लयावस्था में बिन्दु का विक्षोभ न रहने से कला का उद्भव न होने के कारण निष्कल शिव को अशरीर कहा जाता है। भोगावस्था में शिव सकल निष्कल रहते हैं, तब तक उनकी देह पञ्चमन्त्रात्मक रहती है। तन्त्रमत में शक्ति ही मन्त्र है, अतः वह पञ्चशक्तिमय होता है

मननात्सर्वभावानां त्राणात्संसारसागरात्।
मन्त्ररूपा हि तच्छक्तिर्मननत्राणरूपिणी ॥[1]

यह मन्त्ररूपा शक्ति मूल में एक ही है। किन्तु उपाधिवश नाना हो गयी है। अधिष्ठान होने के कारण कार्यभेद से एक ही शक्ति पाँच रूपों से व्यक्त होती है।

सिद्धसम्प्रदाय और नाथपंथ में अन्तस्साधना, पाखण्डखण्डन, मूर्तिपूजा, तीर्थस्थान, व्रत नियमादि बाह्य विधियों का विरोध, पौस्तक शास्त्रज्ञान की असारता, नादबिन्दु की चर्चा, स्वसंवेद्यता तथा अनिर्वचनीयता, गुरु उपदेश का महत्त्व आदि तत्त्व विवेचन का ही नहीं, बल्कि भाषा का भी साम्य है। परन्तु दोनों में अन्तर भी है

---

१ समस्त भावों के मनन और सम्पूर्ण संसार के त्राण के कारण वह मनन त्राण रूपिणी शक्ति मन्त्ररूपा है।

सिद्ध सम्प्रदाय	नाथ पंथ
१ निरीश्वरवादी, शून्यवादी।	१ ईश्वरवादी, शून्यवादी।
२ शून्य ईश्वर।	२ 'शून्य' शिव के ईश्वरांश से युक्त।
३ योग ही निर्वाण का प्रधान साधन।	३ पातंजल योग पर आधारित हठयोग की प्रक्रियाएँ ही साधन।

तन्त्रयान का सहजिया सम्प्रदाय पर जो प्रभाव पड़ा था, उसकी चर्चा श्री परशुराम चतुर्वेदी ने अपने लेख (कल्पना, जुलाई १९५२) में की है। 'सहज' शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ ('सह जायते इति सहज' के आधार पर) 'जन्म के साथ मात्र उत्पन्न होने वाला' अर्थात् किसी भी वस्तु का नैसर्गिक रूप हुआ करता है, जिस कारण इसका प्रयोग परमतत्त्व के स्वरूप के लिए भी कर दिया गया। वह स्वसंवेद्य अथवा केवल अपने आप ही अनुभवगम्य है, यद्यपि इसके लिए गुरु चरणों की सेवा भी अपेक्षित होता है (वज्रतन्त्र, पृ० २२)। साधक के लिए उक्त विशुद्ध चित्त को बोधिसत्त्व का नाम दिया गया था, जो निर्वाण प्राप्ति के लिये उसके दृढ़संकल्प होने का भी सूचक था। किन्तु पूर्ववर्ती महायानी बौद्धों ने जो उसके अन्तर्गत 'शून्यता', 'करुणा' एवं 'उपाय' के सम्मिलन का परिणाम बतलाया, जो वस्तुतः सहजावस्था का ही द्योतक था, इस प्रकार 'सहज' की उपलब्धि के लिए शून्यता का पूर्ण ज्ञान अपेक्षित था, वह 'प्रज्ञा' के रूप में किसी सुन्दरी रानी का प्रतीक बन गया और सार्वभौम करुणा को 'उपाय' कहा गया। अद्वयवज्र ने शून्यता को उसी के प्रतिभास (करुणा) की पत्नी के रूप में चित्रित किया है और बताया है कि वह बिना अपने पति के जीवित नहीं रह सकती और इस दम्पति की अभ्यर्थना पर गुरु ने कृपापूर्वक उनके बीच सहजप्रेम का सम्बन्ध प्रस्थापित कर दिया है। बौद्ध सहजिया पंथ का वैष्णव सहजिया सन्तों पर प्रभाव पड़ा, और चंडीदास ने कहा—

सहज सहज सबाई कहय, सहज जानिबे के।
तिमिर अंधकार जेहे पाछे पार सहज जेने छे से॥

परशुराम चतुर्वेदी के मतानुसार 'प्रेमाभाव की शुद्धता एवं गम्भीरता के विचार से वैष्णव सहजिया लोगों की तुलना सूफियों और बाउलों से भी की जा सकती है। सूफी लोग, वैष्णव सहजिया लोगों की भाँति इश्क हकीकी की प्राप्ति के लिए इश्कमजाजी आवश्यक समझते थे।' (कल्पना, जुलाई १९५०)। आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय के 'तसव्वुफ और सूफीमत' (पृष्ठ २४४) के अनुसार इस विद्या व्यायाम की मूल प्रेरणा 'बरामका' लोगों की ओर से हुई जो आरम्भ में बौद्ध थे, बाद में मुस्लिम बन गये। अल्लामा सैयद सुलैमान नदवी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'अरब व हिन्द के तआल्लुकात' में इसे भलीभाँति दिखाया है कि वास्तव में 'बरामका' बौद्ध थे। बरामका के मन्त्रित्व में अनेक ग्रन्थ संस्कृत से अरबी में अनूदित हुए। यही तो रहस्यविद्या थी। शांकर वेदान्त को बौद्ध दर्शन से विशेष सहायता मिली। ईरान प्रभृति प्रान्तों में महायान का बोलबाला था, जिसमें धीरे धीरे बहुत कुछ गुह्यता और भक्ति का योग हो गया था। महायान के भीतर सहजयान आदि अनेक यान चल पड़े थे। उन्हीं से सूफियों का विशेष परिचय हुआ। इन यानों का निर्वाण कोरा निर्वाण नहीं था। (सूफी 'फना' की तरह) इसमें भी आनन्द का पूरा प्रबन्ध था। इस प्रकार इसलाम के भीतर 'बाज आसफ' के साथ ही साथ बुद्ध के दो और रूप हो गये।

रामपूजन तिवारी के 'हिन्दी अनुशीलन' (आश्विन–मार्गशीर्ष, २००७) में प्रकाशित 'सूफीमत पर बौद्ध धर्म के प्रभाव' के अनुसार—

"बुद्ध के अनुसार मुक्ति केवल शान्ति है, सब प्रकार के क्षोभों का अभाव है। किसी ब्रह्म से मिलन या और इसी तरह की बात को मुक्ति नहीं मानते।" अश्वघोष ने बहुत सुन्दर उदाहरण देकर इस बात को समझाया है।

निर्वाण को प्राप्त हुआ दीपक जैसे न धरती में चला जाता है, न आकाश में ही उड़ जाता है, न दिशाओं और विदिशाओं में ही जाता है, सिर्फ तेल के न रहने से शान्ति पा जाता है, वैसे ही निर्वाण को प्राप्त पुण्यात्मा न धरती में समा जाता है, न दिशाओं विदिशाओं में ही जाता, सिर्फ क्लेश न रहने से शान्ति पा जाता है—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥

एव कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिश न काचिद् विदिश न काचित् क्लेशक्षयात्केवलमेति शातिम् ॥

'फना' की भी कई प्रकार की व्याख्याएँ की गयी हैं। फना की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि सूफी मार्ग पर अग्रसर होते हुए सारे कलुष और सारी इच्छाओं से साधक जब परे हो जाता है तो उसकी आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है और उसी को फना कहते हैं। उस समय 'अह' की चेतना नहीं रह जाती और इसलिए अपने पराये का भाव मिट जाता है। उस समय साधक को न सुख की चिन्ता रहती है, न दु ख की। वह उन सारी वस्तुओं से अलग हो जाता है जिनसे सुख दु ख की प्राप्ति होती है। साधक की सारी वासनाओं, सारी आकाक्षाओं का अवसान हो जाता है। वह परमात्मा को लेकर ही मस्त मौला बना रहता है। उसके व्यक्तिगत जीवन की कोई सार्थकता नहीं रह जाती। इसे ही 'सूफी मत' कहते हैं। 'फना' आत्मा की एक ऐसी ऊर्ध्व गति है[1] जबकि सारी आकाक्षाएँ, सभी स्वार्थ, सांसारिक माया मोह नष्ट हो जाते हैं और इस प्रकार से जब वह स्वचिन्तन से विरत हो जाता है, तब वह स्वय परम प्रियतम की चिन्ता का विषय हो जाता है। प्रेमी और प्रेमाराध्य का ऐक्य स्थापित हो जाता है। फना की यह व्याख्या बहुत कुछ निर्वाण की तरह से की गयी है, जिसमें निर्वाण से मतलब मन की शान्तावस्था समझा जाता है। बहुत लोगों ने यह भी कहा है कि फना की प्राप्ति मृत्यु के बाद होती है। निर्वाण के सम्बन्ध में भी कुछ लोगों ने ऐसा ही कहा है। बौद्ध धर्म में जैसे यह समझा जाता है कि बिना बुद्ध के बताये हुए मार्ग पर चले निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार सूफीमत में समझा जाता है कि बिना 'सूफी मार्ग' पर चले फना की प्राप्ति नहीं हो सकती। 'मार्ग' का प्रयोग सूफी सिद्धान्तविशेष के लिए नहीं करते। दोनों में 'मार्ग' का एक विशेष अर्थ है। यह वह आध्यात्मिक मार्ग है, जिस पर साधक चलता है और कई मजिलों और अवस्थाओं को पार कर निर्वाण या फना प्राप्त करता है। इस मार्ग पर यात्रा करने की प्रवृत्ति और आकांक्षा जिन व्यक्तियों में होती है, वे एक विशेष कोटि के समझे जाते हैं। सूफी उन्हें 'सालिक' कहते हैं और बौद्ध 'स्रोत आपन्न' कहते हैं।

---

१ निकल्सन दी आइडिया आफ पर्सनैलिटी इन सूफिज्म, पृष्ठ–१८।

परमात्मा का समावेश बौद्ध धर्म म नहीं, लेकिन सूफियों के सारे सिद्धान्तों की भित्ति परमात्मा ही है। परमात्मा के सर्वव्यापक और सर्वगत रूप को लेकर ही सूफियों के सिद्धान्त स्थिर हुए हैं। जब सूफी यह कहते हैं कि आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाता है, तब उनका मतलब यह नहीं होता कि वह कुछ नहीं रह जाता, बल्कि उससे यह समझा जाता है कि वह सर्वव्यापक सत्ता में विलीन होकर उसका अंग बन जाता है। गोल्डजिहर ने बतलाया है[1] कि व्यक्ति का नाश नहीं होता बल्कि वह परमात्मा के साथ एक हो जाता है। सर्वव्यापक सत्तारूपी अतल महासागर में एक बूँद की तरह वह विलीन हो जाता है। उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रह जाती। यही सूफियों का निर्वाण है। फारसी सूफी बायजीदबिस्तामी ने फना की व्याख्या हिजरी सन् की तीसरी शताब्दी में इसी प्रकार से की थी, लेकिन उसके बाद अबू सईद अल खर्राज ने फ़ना के बाद की स्थिति पर भी प्रकाश डाला है। अल खर्राज ने फना (आत्मा का विलीन होना) को चरम लक्ष्य नहीं माना है, बल्कि उसने 'बका' को चरम लक्ष्य माना है।[2] 'बका' का मतलब उस अवस्था से है, जबकि आत्मा परमात्मा में वास करने लगता है, उसके साथ एकमेक होकर रहता है। इस्लाम के धार्मिक सिद्धान्तों में पूर्ण रूप से आस्था रखने वाले सूफी साधक अल खर्राज के इस विचार से सहमति रखते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि वास्तव में फना की स्थिति ही साधना की चरम परिणति है और उसके बाद वाली स्थिति 'बका' पर जो बाद में जोर दिया जाने लगा उसके पीछे सूफियों का अपने को इस्लाम धर्म का पूर्ण रूप से अनुयायी साबित करने का आग्रह मात्र था। कुछ दूर तक यह बात सही भी हो सकती है। लेकिन इतना तो मानना ही पड़ेगा कि सूफीमत का आविर्भाव इस्लाम से ही हुआ है और इस्लाम धर्म यह मानता है कि आत्मा की सत्ता किसी भी अवस्था में बनी रहती है, वह विनष्ट नहीं होती। अतएव सूफियों का झुकाव इस तरफ होना कुछ अस्वाभाविक नहीं है। चाहे जो हो, इससे इतना पता तो अवश्य चलता है कि प्रारम्भिक काल में और 'बका' के सिद्धान्त के बावजूद

१ जरनल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, पृष्ठ १२७।

२ निकल्सन दी आइडिया आफ पर्सनैलिटी इन सूफ़िज़्म, पृष्ठ-१४।

आज भी फना का स्थान सूफीमत में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और इसमें बौद्ध धर्म के निर्वाण की हम झलक मिलती है।

फना की प्राप्ति साधक को तभी होती है, जब वह सूफी मार्ग (तरीका) पर चलता है। साधक इस मार्ग की कई मंजिलें और अवस्थाएँ पार करके अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करता है। इसी मार्ग की सबसे बड़ी और महत्त्व की मंजिल है 'मुराकबा'। यह सूफियों की ध्यानावस्था है। इस मंजिल की सफलता पर ही साधक फना प्राप्ति की आशा रख सकता है। इस मंजिल में उसकी 'अहं' भावना का पूर्ण निरसन हो जाता है और परमात्मा के साथ उसके, 'मिलन' का मार्ग खुल जाता है। सूफियों के इस मुराकबा की बहुत कुछ समानता बौद्ध 'ध्यान' अथवा 'समाधि' से है। समाधि की अवस्था में मन शान्त हो जाता है। उसे किसी प्रकार का राग या आसक्ति नहीं रह जाती। वह निष्काम हो जाता है। ध्यानावस्था में वह अपने अस्तित्व ज्ञान से रहित हो जाता है। लगता है, जैसे बौद्धों के 'ध्यान' और 'समाधि' की कल्पना ने ही सूफियों में 'मुराकबा' का रूप ले लिया हो।

सूफियों ने बौद्ध साधकों के एकान्त सेवन को देखकर ही सम्भवतः 'खिल्वत' को सूफी साधना के लिए महत्त्व का स्थान दिया। इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है, लेकिन सूफियों का जितना अधिक जोर एकान्त सेवन पर रहा है, उसे देखते हुए ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि वह बौद्धों से लिया गया है। 'खिल्वत' को इतनी प्रमुखता देने के मूल में बौद्धों के 'विवेक' (एकान्त) का सिद्धान्त है। सूफियों ने इस पर इतना जोर दिया है कि उनका कहना है कि एकान्त सेवन तो जीवन भर करना चाहिए, लेकिन यह अगर सम्भव न हो तो साल में कुछ काल के लिए भी साधक को एकान्तवास करना चाहिए। खिल्वती साल भर में ४० दिन एकान्त सेवन करते हैं और मिश्र के देमिरदशी कम से कम साल भर में तीन दिन। एकान्त सेवन के समय साधक का सम्बन्ध संसार से बिल्कुल नहीं रहता। उस समय वह बोलता तक नहीं। बौद्ध धर्म में 'विवेक' के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। 'चन्द्रदीपसूत्र'[1] ('शिक्षासमुच्चय' पृष्ठ-१९५) में कहा गया है

१ शान्ति भिक्षु महायान, पृ०-३५-३६।

वनपण्ड सेवथ विवित्त सना विचरहि व ग्रामनगरेसु रतिम।
अद्दिताय खड्गसम चार सदा न चिरेण लप्स्यथ समाधिवरम ॥

अर्थात् अकेले जंगल का सेवन करो। गाँव नगरों का प्रेम छोड़ दो। बिना किसी दूसरे के संग खड्ग (गैंडे के समान) के समान बनो। इस तरह श्रेष्ठ समाधि मिलते देर न लगेगा। इसी प्रकार से धम्मपद की गाथाओं में भी विवेक (एकान्त) की महिमा दी हुई है

'बुद्धिमान को चाहिए कि पाप धर्म को छोड़कर पुण्य धर्मों की भावना करे। घर से बेघर होकर विवेक (एकान्त) में निस्सार कामों को छोड़ अभिरमण की इच्छा करे तथा अपने आपको चित्त क्लेशों से अलग रखे।'[1]

एक जगह और कहा गया है—

'लाभ का मार्ग दूसरा है और निर्वाण का मार्ग दूसरा। इस बात को बुद्ध के श्रावक भिक्षुओं को समझ लेना चाहिए और उन्हें चाहिए कि सत्कार का अभिनन्दन न कर पर विवेक (निर्जनता) का सेवन करें[2]।'

लक्ष्य करने की बात यह है कि सूफीमत के फना, मुराकबा, खिल्वत आदि के सिद्धान्तों पर बौद्ध धर्म का प्रत्यक्ष प्रभाव दीख पड़ता है, लेकिन ऐसा नहीं कहा जा सकता कि सूफियों ने इन सिद्धान्तों की हू बहू नकल की है। बहुत समय ऐसा भी होता है कि समान परिस्थिति और समान कारणों के फलस्वरूप दो धर्मों के कुछ सिद्धान्तों में समानता दिखाई देती है अन्यथा उन्हें अन्य धर्मों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव मानने में संकोच नहीं होगा। फान क्रेमर ने सूफीमत पर दो प्रत्यक्ष प्रभावों को माना है १ ईसाई साधकों का तापसी जीवन, और बाद में चलकर २ बौद्ध चिन्तन धारा।

बौद्ध चिन्ता के द्वारा इस्लाम की रहस्यवादी प्रवृत्तियों में जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए, फान क्रेमर ने उन्हें ही असली सूफीमत माना है।[3] फान क्रेमर का यह मत कहाँ तक मान्य है, यह विचारणीय बात है। इसके विपरीत ब्राउन[4] ने सूफीमत पर बौद्ध धर्म और

१ धम्मपद गाथा, ८७-८८।

२ वही, गाथा ७५।

३ ब्राउन लिटररी हिस्ट्री आफ पर्शिया, पृष्ठ-३००।

४ वही, पृष्ठ-३०१।

भारतीय वेदान्त दर्शन का प्रभाव कतई स्वीकार नहीं किया है। ब्राउन के अनुसार सूफीमत का विकास नास्टिक तथा नव अफलातूनी दर्शन के आधार पर हुआ। गोल्डजिहर[1] ने इस मत का प्रत्याख्यान करते हुए बताया है कि ब्राउन के जैसे मत रखनेवाले विद्वानों का ध्यान इस ओर नहीं जाता कि जिन पूर्वी क्षेत्रों में सूफी मत का विकास हुआ, वहाँ नव अफलातूनी सिद्धान्तों एव उसके सदृश अन्य सिद्धान्तों का पहुँचना कठिन था। अतएव उसका कहना है कि जैसे-जैसे इस्लाम का प्रसार अन्य देशों में होता गया, सूफीमत में पारिपार्श्विक परिस्थितियों के कारण नयी नयी चीजों का समावेश होता गया। उसने बौद्ध धर्म के प्रभाव को स्वीकार किया है।

चाहे जो हो, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि सूफी मत के आविर्भाव तथा विकास में अन्य धर्मों का प्रभाव रहा है। लेकिन यह प्रभाव नकल के रूप में नहीं रहा है, बल्कि उसे सूफी तत्वचिन्तकों ने अपने ढग से अपनाया है और सूफीमत का विकास इस्लाम धर्म को ध्यान में रखते हुए ही हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिद्ध, नाथपथ, सहजयान और सूफीमत परस्पर निगठित हैं। नाथपथ और योग का तो बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध था, जैसे पहले बताये चार्ट में कहा है। डा० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल की मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित 'मकरन्द' के 'नाथपथ में योग' नामक निबन्ध में इस समस्या पर विचार है।

नाथपथ शुद्ध साधना का मार्ग है। अपने सिद्धान्तों की सार्थकता उसमें यही मानी जाती है कि उनका इसी जीवन में अनुभव किया जाए। नाथपथ का तात्विक सिद्धान्त है कि परमाप्त 'केवल' है, वह भाव और अभाव दोनों के परे है। उसे न 'वस्ती' (भाव) कह सकते हैं न 'शून्य' (अभाव), यहाँ तक कि उसका नाम भी नहीं रखा जा सकता

वस्ती न सुन्य सुन्य न वस्ती अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिखर महि बालक बोलहि वाका नाव धरहुगे कैसा ॥
—(गोरख सबद)

१ जरनल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, पृष्ठ–१३१-१३२।

इसी केवलावस्था तक पहुँचना जीव का मोक्ष है। साधक की दृष्टि से उतना महत्त्व सिद्धान्त का नहीं है, जितना उस सिद्धान्त को अनुभूत सिद्धि तक पहुँचाने वाले मार्ग का, जिसके बिना सिद्धान्त की कोई सार्थकता नहीं। आत्मा परमात्मा का सिद्धान्त रूप से चाहे जो सम्बन्ध माना जाए, व्यावहारिक दृष्टि से व्यक्ति का मोक्ष उन दोनों का सम्मिलन, या ऐक्य ही कहलावेगा। इसी कारण कैवल्य मोक्ष भी योग कहलाता है। नाथपंथ इसी योगानुभूति तक पहुँचने वाला पथ है। उसका एकमात्र ध्येय योग की युक्ति बताना है, जिसको जाने बिना जीव पिंजरे में सुए की तरह पराधीन है

सप्त धातु का काया प्यंजरा ता माहिं जुगति बिन सूवा।
सत गुरु मिलै त उबरै बाबू नहि तौ परलै हूवा॥

—(गोरख)

इस 'गति' में स्वभावतः प्रथम दृष्टि काया की ओर जाती है, क्योंकि वही जीव की पराधीनता का प्रत्यक्ष कारण है। काया की विनश्वरता ही सब से पहले मनुष्य की परवशता प्रकट करती है, एक बृहत् प्रश्न के रूप में खड़ी होकर वही मनुष्य की अन्वेषण वृत्ति को उत्तेजित करती है। अध्यात्म की ओर प्रेरणा करनेवाली जिज्ञासा का आरम्भ इसी प्रश्न को लेकर होता है

आवै संगे जाय अकेला। ताथैं गोरख राम रमेला।
काया हंस संगि ह्वै आवा। जाता जोगी किनहु न पावा।
जीवत जग में मुआ मसाण। प्राण पुरिस कुल किया पयाण।
जामण मरण बहुरि वियोगी। ताथैं गोरख भेला योगी॥

अतएव शरीर विचार से योग का आरम्भ होना स्वाभाविक ही है

आरम्भ जोगी कथीला एक सार।
षिण षिण जोगी करै सरीर विचार।

बहुत सी आध्यात्मिक प्रणालियों में शरीर शत्रुदृष्टि से देखा जाता है और उसे नाना प्रकार से कष्ट दिया जाता है। परन्तु वस्तुतः शरीर हमारा शत्रु नहीं। आत्मा ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए उसे धारण किया है। यह हमारा दोष है कि हम अपने मूल उद्देश्य को भूलकर साधन को ही साध्य समझ बैठे हैं, जिससे तामस रूप होकर काया तमसावृत हो गयी है। परन्तु यह शरीर वस्तुतः सत्यस्वरूप आत्मा का मन्दिर है

यह तन साच, साच का घरवा। रुध्र पलट अमीरस भरवा।[1]
—(गोरख)

इसका सदुपयोग होना चाहिए, दुरुपयोग नहीं। जो केवल उसे पालने पोसने और सुख देने में लगे रहते हैं तथा जो केवल उसे कष्ट ही दिया करते हैं, वे दोनों ही शरीर का उपयोग नहीं जानते। इसी से गुरु गोरखनाथ कहते हैं—

कद्रुप रूप काया का मण्डन अविर्था काई उलाचो।
गोरख कहै सूर्णा रे भौंदू अरड अभी कत सींचो॥

इसी दुरुपयोग के कारण आत्मभूप का यह गढ़शत्रु काल के हाथ में पड़ गया है। अतएव आवश्यकता यह है कि कायागढ़ को शत्रु के हाथ से लेकर उसके स्वामी को सौंप दिया जाए

भणन्त गोरख काया गढ लेवा, काया गढ लेवा,
जुगि जुगि जीवा।

काया पर काल का प्रभाव जरा और मृत्यु से प्रकट होता है। समय बीतने के साथ शरीर में भी परिवर्तन होता जाता है और बूढ़ा होकर मनुष्य मर जाता है। शरीर को काल के प्रभाव से बाहर तब समझना चाहिए जब वह जरा, मृत्यु आदि विकारों से रहित होकर सदैव बालस्वरूप रहे। इसी बालस्वरूप को नाथ योगियों ने अपना लक्ष्य बनाया। इसी दृष्टि से रसेश्वर योगियों ने रस (पारा) आदि रसायनों का आविष्कार किया था। उनका विश्वास था कि शरीर में जिन रासायनिक परिवर्तनों से जरा आती है, रसायनों के प्रयोग से वे रुक जाते हैं और शरीर अजर हो जाता है। परन्तु रसेश्वरों का दावा सर्वांश में सत्य नहीं था। रसायनों का प्रभाव स्थायी नहीं होता था। इसलिए नाथ योगियों ने उन्हें सिद्धि प्राप्ति में असमर्थ बतलाया।

---

१ मूलतः कैवल्यानुभूति ही योग कहलाती है, किन्तु लक्षणा से अनुभूति तक पहुँचाने वाले साधन भी योग कहलाते हैं। जनसाधारण में योग का यही लाक्षणिक प्रयोग रूढ़ हो गया है।

स्नान रूप सीझै राज। तो क्स राना छाड राज।
जडी बूटी भूल मत कोई। पहला राड उद की होई।
जडी बूटा अमर ज करे। तो उन धनन्तर काह मरे।
—(गोरख)

परन्तु उन्होंने रसेन्द्रों के मार्ग का सर्वथा त्याग नहीं किया। सर्वदा के लिए न सही, कुछ काल के लिए तो वह शरीर को रोग और जरा से बचा रखते थे, अतएव जड़ी बूटी इत्यादिकों के द्वारा कायाकल्प करना उन्होंने योग की युक्ति में सहायक माना है और यम नियम आदि आरम्भिक बातों के साथ साथ उसका विधान किया है

अवधू अहार तोड़ा, निद्रा मोड़ा, कबहुँ न होइबो रोगी।
छठ छमासे काया पलटिबा नाग बंग बनासपती जोगी॥

यही काम नेति, धौति, वस्ति, नौली आदि षट्कर्मों से होता है। कायाशुद्धि का लक्षण यह है

बड़े बड़े कूल्हे मोटे मोटे पेट। नहीं रे पूता गुरू से भेंट॥
खड़ खड़ काया निरमल नेत। भई रे पूता गुरू से भेंट॥

शरीर की चंचलता के लिए आसनों का विधान है। योगियों के अनुरूप आसनों की भी संख्या चौरासी लाख है, परन्तु प्रधान आसन दो हैं—पद्मासन और सिद्धासन।

काल विजय की इच्छा से बहुत प्राचीन काल से योगी शरीर पर विचार करते चले आ रहे हैं, जिससे एक विलक्षण सूक्ष्म शरीरविज्ञान का निर्माण हुआ है और शरीर में नौ नाड़ी, चौसठ संधि, षट्चक्र, षोडशाधार, दश वायु, कुंडलिनी आदि महत्त्वपूर्ण तत्वों का पता लगा है। सार रूप में इतना ही कहना अलम् होगा कि उसके अनुसार सहस्रार में स्थित गगन मण्डल (ब्रह्मरंध्र) में औंधे मुँह का अमृत कूप है (यही चन्द्र तत्व कहलाता है) जिसमें से निरन्तर अमृत झरता रहता है। जो इस अमृत का उपभोग कर लेता है, वह अजरामर हो जाता है। परन्तु युक्ति न जानने के कारण मनुष्य उसका उपभोग नहीं कर सकता और वह चन्द्रस्राव मूलाधार में स्थित सूर्यतत्व के द्वारा सोख लिया जाता है

गगन मडल में औंधा कुआ तहां अमृत का वासा।
सगुरा होई सु भर भर पीया निगुरा जाई पियासा॥
—(गोरख)

ऐसा जान पड़ता है कि रेतस् इस सूक्ष्म तत्त्व का व्यक्त रूप है। ब्रह्मचर्य में स्थित होने वाले के लिए बिन्दु रक्षा इतनी आवश्यक है कि बिन्दुरक्षा का नाम ही ब्रह्मचर्य पड़ गया है। शरीर की दृढ़ता के लिए भी रेतोधारण की बड़ी आवश्यकता है। यह तो स्पष्ट है कि बिन्दुनाश से शरीर के ऊपर काल का प्रभाव शीघ्र पड़ने लगता है और वह जराग्रस्त हो जाता है। नाथ योगियों ने बिन्दु रक्षा पर विशेष जोर दिया है

ब्यद ही जोग ब्यद ही भोग। ब्यदहि हेरे जे चौसठि रोग॥
या ब्यद का कोई जाणै भेव। सो आपै करता आपै देव॥

सांसारिक भोग लिप्सा हमारे नाश का कारण है। कामिनी के निकट पुरुष वैसे ही नष्ट हो जाता है, जैसे नदी किनारे का पेड़[1]। अपने योगभ्रष्ट मत्स्येन्द्रनाथ को उद्दिष्ट कर गुरु गोरखनाथ ने कहा

गुरु जी ऐसा काम न कीजै। ताथैं अमी महारस छीजै॥
नदि तीरे विरिखा, नारी संगे पुरखा, अलप जीवन की आसा।
मन थें उपजी मेर सिखि पड़ई, ताथैं कंद विनासा॥
गोड भये डगमग, पेट भया ढीला, सिर बगुला की पंखियां।
अमी महारस बाघणि सोख्या॥

इसी से बिन्दुपात से योगी अत्यन्त दुखी होता है

कत गया ब्व कामिनी झूरे, बिंद गया कू जोगी॥

जिस एक बूँद में नर नारी पच मरते हैं, उसी के द्वारा सिद्ध अपनी सिद्धि साधते हैं

एक बूंद नर नारी रीधा। ताहि मैं सिध साधिक सीधा॥

जो बिन्दु रक्षा नहीं करता, वही योग की दृष्टि में सब से नीच है

---

१ तेलुगु सन्त कवि वेमना ने भी ठीक यही उपमा दी है
ओल जूचिनरडु चित्रबु निलुकड। चेयबेक तानु चेड्डगादे। एटिवड्डमान दैदाक चिलुचुनु॥

ज्ञान को छोटा, काछ का लोहड़ा।
इन्द्री का लड़बड़ा, जिह्वा का फूहड़ा।
गोरख कहै ते पारितित चूहड़ा॥

अतएव योगी को शरीर और मन की चंचलता के कारण नीचे उतरने वाले रेतस को हमेशा ऊपर चढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। योगी के ऊर्ध्वरेतस्त्व की बड़ी कठिन परीक्षा है

भगि मुखि बिन्दु, अगिनि मुखि पारा।
जो राखै सो गुरू हमारा॥
बजरि करता अमरी राखै, अमरि करता नाई।
भोग करता जे व्यद राखै, ते गोरख का भाई॥

अमृत के आस्वादन के लिए योग ने कई युक्तियों का आविष्कार किया है। विपरीतकरणी मुद्रा, जालंधरबंध, तालुमूल में जिह्वा पलटना, कुंडलिनी-जागरण, सब इसी उद्देश्य से किये जाते हैं, परन्तु श्वासक्रिया का, बिन्दु-स्थापन और अमृतोपभोग में विशेष महत्त्व है। मनुष्य का जीवन श्वासक्रिया के ऊपर अवलम्बित है। जब तक सांस चलती रहती है तभी तक आदमी जीता है, प्राण रहते ही तक वह प्राणी है। श्वासक्रिया का बन्द होना हमारे ऊपर काल की सबसे बड़ी मार है

वायू बध्या सकल जग, वायू किनहुँ न बंध।
वाई विहूणा ढहि पड़ै, जोरै कोई न संध॥

परन्तु यदि श्वासक्रिया के बिना भी हम जीवित रह सकें तो कहना चाहिए कि काल की मार का हमारे ऊपर कोई असर नहीं है। इसी से योगी प्राणविजय को उद्दिष्ट कर प्राणायाम करता है। पूर्ण प्राणविजय 'केवल' कुम्भक के द्वारा सिद्ध होती है। केवलकुम्भक में श्वासक्रिया एकदम रोक दी जाती है। पूरक और रेचक की उसमें आवश्यकता नहीं रहती। इससे प्राण सुषुम्ना में समा जाता है और सूर्य चन्द्र का योग सम्भव हो जाता है।

प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु मात्र नहीं, दशों वायु वश में आ जाते हैं। परन्तु इसके लिए शरीर में वायु के आने जाने के सब मार्ग बंद कर देना आवश्यक होता है। शरीर के रोम रोम में नाड़ीमुखों का अन्त है, जिनके

श्री रामपूजन तिवारी का 'भारतीय योग के षट्चक्र और सूफीमत' यह लेख इस सन्दर्भ में बहुत महत्त्वपूर्ण है

'कहा जाता है कि सन् ईसवी की ग्यारहवीं शताब्दी में शेख अहमद ने लतायफासित्ता के सिद्धान्त को ईजाद किया। शेख अहमद सूफियों के नक्शबन्दी सम्प्रदाय के थे। सित्ता का अर्थ छः है और लतीफा का अर्थ सूक्ष्म अवस्थान है। लतायफ का सिद्धान्त बहुत कुछ योग के चक्रों जैसा है। सूफी मत का अध्ययन करने वाले यूरोपीय विद्वानों ने इस समानता का उल्लेख किया है। कुछ मासिनों का कहना है कि सूफियों के 'जिक्र' की क्रियाओं में हिन्दू योगियों के कुछ क्रियाकलापों को ढूंढ़ा जा सकता है।[1] इसी प्रकार से वान क्रेमर के साथ गोल्डजिहर इस बात पर एकमत हैं कि सूफियों में भावाविष्टावस्था को उत्पन्न करने वाली कुछ क्रियाएँ तथा प्राणायाम आदि जैसी क्रियाएँ भी निस्सन्देह सूफीमत में भारतवर्ष से आयी हैं।[2]

लतायफीसित्ता के सिद्धान्त और शरीर के भीतर उनकी स्थिति बहुत कुछ योग की कुण्डलिनी और चक्रों पर आधारित है।[3] शेख अहमद ने मनुष्य के शरीर में नाभि से गर्दन तक छः अवस्थानों का जिक्र किया है जो एक दूसरे को घेरे हुए हैं। ये योगियों की कुण्डलिनी जैसे हैं। ये छः निम्नलिखित हैं[4]

नफ्स	इसका स्थान नाभि के नीचे है।
कल्ब	छाती की बाईं ओर अवस्थित है।
रूह	छाती की दाईं ओर अवस्थित है।
सिर्र	कल्ब और रूह के बीच है।
खफी	इसका स्थान ललाट है।
अख्फा	मस्तिष्क में अवस्थित है।

---

१ एनसायक्लोपीडिया आफ इस्लाम, खण्ड ८।

२ टाइटस इण्डियन इस्लाम प्रकाशन सन् १९३० ईसवी पृ० १५० पर उद्धृत।

३ ख्वाजा खाँ (स्टडीज इन तसव्वुफ, पृष्ठ–८९ तथा जान ए० सुभान) सूफिज्म, पृष्ठ–१४९।

४ शाह मुहम्मद गौस अतवारुल तरीकत (उर्दू अनुवाद) जान ए० सुभान द्वारा लिखित 'सूफिज्म' के ६२ पृ० पर उद्धृत।

कुछ लोगों के मतानुसार अख्फा छाती के मध्य स्थित है और सिर्र का स्थान कल्ब और अख्फा के बीच है। इनके रगों तथा प्रत्येक स्थान के देवता की भी कल्पना की गयी है। जैसे कल्ब का रग पीला है और आदम के कदमों के नीचे यह स्थित है। रूह का रग लाल है ओर अब्राहम के पद तले इसका स्थान है। इसी प्रकार से सिर्र उजला, खफी काला और अख्फा हरे रग का है और मूसा, यीशु तथा मुहम्मद के पैरों के नीचे ये अवस्थित हैं। कुछ लोगों का कहना है कि नफ्स नील वर्ण का है। सूफी साधकों का कहना है कि जब नफ्स पूर्ण रूप से अदृश्य हो जाता है, तब उज्ज्वल वर्ण का आधिपत्य हो जाता है। साधक जिस अवस्था को प्राप्त होता है, वह उस रग का शिरस्त्राण धारण करता है और उस रग को देखने से उस साधक की आध्यात्मिक यात्रा की मजिल का पता चलता है। साधारणत रूह का रग हरा हो जाता है। आखिरी मजिल वह है, जब वर्णहीनता का आधिपत्य हो जाता है। उसमें साधक फना की अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

सूफी साधक के लिए परमात्मा के अनवरत स्मरण द्वारा इन लतायफों को जागृत करना आवश्यक है। जिक्र आदि की विशेष क्रियाओं द्वारा सूफी एक के बाद एक लतीफा को जागृत करने में समर्थ होता है और अन्त में उसे प्रकाश के दर्शन होते हैं। कहा जाता है कि जैसे जैसे सालिक (साधक) ऊपर की ओर बढ़ता है, वह भिन्न भिन्न रगों को देखता है।

योग में छ चक्रों और कुण्डलिनी का वर्णन है। शरीर में छ चक्रों के स्थान बताये गये हैं। साधक नाना प्रकार की साधनाओं द्वारा चक्रों का भेदन करता है और कुण्डलिनी शक्ति को ऊपर की ओर उद्बुद्ध करता है। योग के षट्चक्रों के भी स्थान, देवता और रग बताये गये हैं, जो पहले दिये गये हैं।

योग के प्राणायाम, ध्यान आदि से सूफियों के 'जिक्र' की क्रियाओं की बहुत कुछ समानता है। 'जिक्र' की क्रियाओं के सम्बन्ध में कहा गया है कि सालिक को अपनी आँखें बन्द कर लेनी चाहिए तथा जीभ से ओठों को दबाए हुए रहना चाहिए। हृदय का आकार सरोगाह्र की तरह नुकीली आकृति का बताया गया है। 'जिक्र' का जप करते हुए हृदय पर ध्यान लगाये रखना

चाहिए। 'ला' को ऊपर की ओर, 'इलाह' को दाहिनी ओर तथा सम्पूर्ण 'ला इलाह इल्ल अल्लाह' को हृदय के नुकीले विंदु पर केन्द्रित करना चाहिए, ऐसा करने से ससार तथा उसके प्रलोभन साधक के मन से दूर हो जाते हैं और वह परमात्मा की विभूति के दर्शन करता है और बाद म उसके एकत्व का उसे बोध होता है।[1] एक जगह और कहा गया है कि 'जिक्र' में सालिक अपनी आँखों तथा ओठों को बन्द कर, अपने निश्वास प्रश्वास पर ध्यान लगाये रहता है। जब वह निश्वास छोडता है तो सोचता है जैसे वह 'ला इलाह' कहता है और जब श्वास भीतर खींचता है तो वह 'इल्ल अल्लाह' कहता है। कुछ दरवेशों का कहना है कि मनुष्य जाने या अनजाने 'अल्लाह' का नाम लेता रहता है। जब वह श्वास भीतर खीचता है तब 'अल' कहता है और जब श्वास छोडता है तो 'लाह' कहता है। यह स्वाभाविक प्रक्रिया है।[2] योगशिखोपनिषद् के 'मन्त्र' योग में कहा गया है कि जीव के निश्वास प्रश्वास में 'ह' और 'स' वर्ण उच्चरित होते हैं। 'ह'कार के साथ प्राणवायु बाहर आती है और 'स'कार के साथ भीतर जाती है। इस प्रकार जीव सहज ही 'ह' 'स' इस मन्त्र का जप करता रहता है। हठयोग से जड़िमा नष्ट होती है और आत्मा परमात्मा का अभेद सिद्ध होता है। इसके बाद वह लययोग शुरू होता है, जिसमें पवन स्थिर हो जाता है और आत्मानन्द का सुख प्राप्त होता है।[3]

वस्तुत सूफी सम्प्रदाय ईसा की बारहवीं सदी के उत्तरार्ध में उत्तर भारत में आया। हिन्दू मुस्लिम दोनों समाजों में उसके प्रति आदरभाव बढ़ा। प्रा० न० र० फाटक अपने मराठी ग्रन्थ 'श्री एकनाथ वाङ्मय आणि कार्य' (पृष्ठ–३७–३८) में कहते हैं कि 'सूफी सम्प्रदाय के इतिहास और शिक्षा का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर उसका बहिरग इस्लामी जान पड़ता है, परन्तु अन्तरग में प्राचीन हिन्दू दर्शन के बीज मिले बिना नहीं रहते। ईश्वर का साक्षात्कार इस सम्प्रदाय का अन्तिम आदर्श है और उसकी प्राप्ति के सोपान हिन्दू भक्ति की नौ सीढ़ियों से अशत नहीं तो सर्वांश में मिलती-जुलती

१ ह्यूगेस डिक्शनरी आफ इस्लाम, पृष्ठ–७०४।

२ टाइटस इडियन इस्लाम, पृ०–११५।

३ डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी नाथ सम्प्रदाय, पृ० १२८–१२९।

है ।' फारूक जी के अनुसार अजमेर के राजा मुईनुद्दीन चिश्ती (मृत्यु १२३९) सूफी सम्प्रदाय का श्रेष्ठ पुरुष था। इनके अनुयायियों में हुसेनी ब्राह्मण नामक एक वर्ग है और वह अपने आपको अथर्ववेदी कहता है। अथर्ववेद में हिन्दू मुसलमानों के धर्मतत्त्व एकत्रित हैं, ऐसा इनका सिद्धांत है। सूफियों की शाहादुल्ला शाखा में अथर्ववेद को अपना धर्मग्रन्थ माननेवाले और 'निष्कलंक' नामक परम तत्त्व की उपासना करने वाले कई लोग हैं। एकनाथ के कुछ वर्षों बाद महाराष्ट्र में शाह मुहम्मद ने 'निष्कलंकप्रबोध' नामक ग्रन्थ लिखा। मुइनुद्दीन चिश्ती की परम्परा इस प्रकार से है, बाबा फरीउद्दीन (मृत्यु-१२६५) शिष्य निज़ामुद्दीन ओलिया (तुगलकों के ज़माने में प्रसिद्ध), मुलतान का बहाउद्दीन जकरिया (मृत्यु १२६६) शिष्य जलालुद्दीन सुर्खपोश (मृत्यु १२९१), उसका पोता मखदूम जहानिया (मृत्यु-१३८४)। उसके पोते बुरहानुद्दीन कुतुब-इ-आलम (मृत्यु-१४५३) ने गुजरात में सूफीमत का प्रभाव बढ़ाया। यह सब ऐतिहासिक तथ्य हिन्दी के निर्गुण सन्त कवियों पर इन सब देशज और विदेशी प्रभावों के एकत्र होने के विषय में पर्याप्त है।

-oo✕oo-

अध्याय ३

दार्शनिक विश्वास और मान्यताएँ

अद्वैतवाद, सहज और निरंजन, जीव, जगत् (माया) और परमतत्त्व की परिकल्पना

कबीर का प्रसिद्ध पद है—'सन्तो! सहज समाधि भली।' यह 'समाधि' शब्द हमें उपनिषदों में मिलता है। समाधि का अर्थ है ध्यान, समस्त संकल्पों से शून्य हो जाना। जाबालदर्शनोपनिषत् (१०।१) में कहा गया है 'जीवात्मा तथा परमात्मा के ऐक्यज्ञान के उदय को ही समाधि कहते हैं।' सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत् में १६वें अनुवाक में इसी परिभाषा में यह भी जोड़ दिया गया है कि जीवात्मा परमात्मा का ऐक्य, जिसमें संकल्प की समस्त क्रियाएँ विनष्ट हों, वही 'समाधि' है। अन्नपूर्णोपनिषद् (१।५०) में इसीको संशयरहित मानसिक पूर्णता कहा गया है (१।५०)। शाण्डिल्योपनिषद् (१।११) में 'समाधि' को 'जीवात्मा परमात्मा की वह एकता कहा गया है, जिसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेद न बचे और जो परमात्मानन्दरूपा तथा शुद्धचैतन्यात्मिका है।' पातञ्जलयोगविभूति (३) में 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' अर्थात् ध्यान की स्थिरता के साथ साधक का मन अपने ध्येय से जो तदाकार हो जाता है और उसका 'अपुनपौ' बिसर जाता है, इसी अवस्था को समाधि कहते हैं। घेरण्डसंहिता के अनुसार

घटाद्भिन्नं मनः कृत्वा ऐक्यं कुर्यात्परात्मनि।
समाधिं तद्विजानीयान्मुक्तसंज्ञो दशादिभिः॥
अहं ब्रह्म न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तः स्वभाववान्॥

(सप्तमोपदेश ३।४)

इसका भावार्थ है "मन को शरीर से भिन्न करने का और परब्रह्म से एकात्म बनने का नाम ही 'समाधि' है। जो योगी समाधि साधना करता है, उसको ज्ञान उत्पन्न होता है कि 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं शोकरहित नित्यमुक्त तथा ब्रह्मप्रकृतिस्थ हूँ।"

यह ब्रह्मप्रकृतिस्थ होना ही सन्तों का 'सहज' भाव है। इसीको दादू ने कहा

'सेवक स्वामी संगि रहै, बैठे भगवाना।
मधि नैन निरखौं सदा, सो सहज स्वरूपा॥'
या—
'भाई रे घर ही में घर पाया।
सहज समाई रह्यो ता माहीं, सतगुरु खोज बताया॥'

यह सुन्दरदास के शब्दों में

सहज निरंजन सब में सोई। सहजै संत मिलै सब कोई॥
सहजै शंकर लावै सेवा। सहजै सनकादिक गुरु देवा॥
सोजा पीपा सहज समाना। सोना धना सहज रसपाना।
जन रैदास सहज को बंदा। गुरु दादू सहज आनंदा॥

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने 'सन्तों की सहज साधना' ('कल्याण' साधना अंक) में कहा है

"मध्ययुग के भक्त और साधकगण बहुत समय गुरु की तुलना शून्य से करते हैं। जीवन के सहज विकास के लिए एक शून्य मुक्त आकाश की जरूरत होती है। गुरु भी ऐसा ही होना चाहिए। इसलिए रज्जब जी ने कहा, 'सतगुरु शून्य समान है' (गुरुदेव अंग, ५६)। ये 'शून्य' और 'सहज' शब्द बौद्धों, निरंजन और नाथपंथी योगियों, सहजियों और बाउल आदि सन्तों में भी हैं। मध्ययुग के भी बहुतेरे साधक अपने को सहजपंथी कहते थे। देखा जाए, इसका अर्थ क्या है।

"धर्म सहज हो तो यह सहज सकल बाधाहीन होकर अनन्त आधार को चाहता है, यही शून्य है। इसीलिए सभी सहजवादी किसी न किसी रूप में शून्य को स्वीकार करते हैं। 'शून्य' का भावात्मक जीवनाधार महाकाश न

मिले तो कोई भी आत्म बीज अंकुरित नहीं हो सकता। इसीलिए सहज मत में गुरु को शून्य कहा गया है। यदि गुरु अपने व्यक्तित्व से शिष्य के व्यक्तित्व को दबा दे तो धर्मजीवन अंकुरित होने के बदले पिस जाएगा। इसीलिए शून्य ही गुरु है और गुरु शून्य है।"

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अपने 'बंगाल के बाउल' ग्रन्थों में मध्ययुग की रहस्य साधना पर प्रकाश डालते हुए मुनि रामकृष्ण नामक जैन कवि के ईसा की पहली शती के पूर्वकालिक पाहुड दोहा उद्धृत किये हैं, जिनमें २१२ वें दोहे का अर्थ है 'शून्य रीता नहीं है। अपने अन्दर झाँककर देखो, शून्य तो भरपूर भरा है।' क्षितिमोहन जी के अनुसार आनन्दघन, लुकशाह, उड़िया साधक और तारणगच्छ की परम्परा में यह रहस्यवाद बाउलों तक आया। और डाक्टर प्रबोधकुमार बागची ने पाहुडदोहा सम्पादित किये हैं। उनके अनुसार सहज के बाद समरस आता है। 'ख सम' बनने के बाद गगन महल या सुन्न महल में 'सुरति' होती है। 'खसम बनना' परब्रह्म में लीन होना है।

माध्यमिक शून्यवादी नागार्जुन के पश्चात विक्रम की द्वितीय शती में आर्यदेव ने इसका आगे प्रचार किया। परन्तु छठी शती तक शून्यवाद का फिर कोई उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु आचार्य पालित ने वल्भीर (गुजरात) में इस मत का विशेष प्रचार किया। बुद्धपालित का पथ माध्यमिक प्रासंगिक था। भव्य का पथ स्वातंत्रिक था। सातवीं शती (विक्रमीय) में आचार्य चन्द्रकीर्ति ने शून्यवाद का विशेष प्रचार किया। शान्तिदेव उसे तिब्बत तक ले गये। शान्तिरक्षित (निर्वाण ७६२ ईस्वी) ७४९ ईस्वी में तिब्बत के राजा के निमन्त्रण पर वहाँ जाकर शून्यवाद का प्रचार करते रहे। यह दार्शनिक शून्यवाद संक्षेप में सांसारिक सम्बन्धों को स्वप्नवत्, कल्पना प्रसूत मानता है। इसके अनुसार कार्य कारण नियम केवल एक भास है, संसर्ग संबंध असत्य है, गति स्थिति दोनों मायिक हैं, निर्वाण ही परमार्थ सत्य है। नागार्जुन ने कहा

शून्यमिति न वक्तव्यं शून्यमिति वा भवेत्।
उभयं नोभयं चैव प्रज्ञाप्त्यर्थं तु कथ्यते॥

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अपने ग्रंथ दादू (पृष्ठ–१७९) में कहा है कि हिंदी के सिद्ध कवियों पर इन्हीं शून्यवादियों का प्रभाव था "महायान साधनाय शून्य तत्वटि क्रमश नाना भाव सुखे ओ ऐश्वर्य भरिया उठिते लागिल। क्रमे माध्यमिक मतवादे बुद्ध धर्म, ईश्वर, सबाइ शून्य होइया उठिलेन। वज्रयान, योगाचार प्रभृति मतवादीदेर कृपया शून्यई क्रमे होइया दाडाइल विश्वेर मूलतत्व। शून्य छाडा विश्वजगत् देवदेवी प्रभृति किछुई छिल नेइ शनई माया।"

यही शून्य सिद्धों का परमतत्त्व और परमसुख है। 'गोरखबोध' मे गोरखमछन्दर सवाद में यह सुनि आता है

गोरख कुणि सूनि उतपन्ना
सुमि सुनि गुरि बुझाई
कुण सुनमें रहा समाई।
मछन्दर सहजंन सुनि उतपन्ना
सगि सुनि सतगुरु बुझाई
अजित सुनि में रहा समाइ।

डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित ने अपनी पुस्तक 'सतदर्शन' में पृ० १५० १५१ पर इसका साधारण विवेचन इस प्रकार से किया है

"स त मत में शून्य शब्द का प्रयोग निर्गुण सर्वात्मा के लिए भी हुआ है और 'सहसदल कमल' के लिए भी। सम्भवत इसलिए कि ब्रह्म के निवासस्थान की कल्पना योगियों ने सहस्रदल कमल मे की है और 'ब्रह्म' शून्य है इसलिए उसका निवासस्थान भी 'शून्य' ही है। ब्रह्मरन्ध्र का छिद्र शून्याकार होता है। इसी शून्याकार म कुडलिनी का सयोग होता है। ब्रह्म का वासस्थान यहीं माना जाता है। साधक एव योगी इस रंध्र का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। इसी शून्याकार के छ द्वार है जिन्हें कुडलिनी के अतिरिक्त और कोई भी नहीं खोल सकता। इसी साधना में योगी रत रहते हैं।" डॉक्टर रामकुमार वर्मा ने सतमत मे शून्य के विकास के विषय में लिखा है "इसी 'शून्य' को कबीर ने आगे चलकर सहसदल कमल का 'शून्य' माना है जहाँ अनहद नाद की सृष्टि होती है और ईश्वर की ज्योति के

दर्शन होते हैं।' (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ० १२३)। सन्तों का काव्य इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने 'शून्य' को दोनों ही अर्थों में ग्रहण किया, केवल सहस्रदल कमल के अर्थ में नहीं। इस विषय पर सन्तों की कुछ बानियाँ विचारणीय एवं अध्ययन योग्य हैं।

ऊपर उल्लेख हो चुका है कि सन्तों ने शून्य शब्द का प्रयोग दो अर्थों 'ब्रह्म एवं 'शतदल कमल' में किया है। इस शब्द का प्रयोग कबीर, नानक, दादू, मलूक, गरीबदास, धरनीदास, रैदास, यारी साहब, चरनदास, दूलनदास आदि सभी सन्तों ने काव्य में किया है। शून्य शब्द का प्रयोग 'सहस्रदल कमल' के अर्थ में करने वालों में विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं कबीरदास, चरनदास, धरनीदास, भीखा, तुलसीसाहब, रैदास। धर्नी धर्मदास एवं यारी साहब, गरीबदास, भीखा, दयाबाई, सहजोबाई, पलटूसाहब, तुलसीसाहब आदि उन सन्तों में उल्लेखनीय हैं, जिनके 'शून्य' शब्द से निर्गुण सर्वात्मा की ओर संकेत मिलता है। प्रथम वर्ग के इन मतवादियों ने 'सुन्न गढ़', 'सुन्न महल', 'सुन्न मंडल', तथा 'सुन्न बस्ती' में विचरण करने का उल्लेख भी किया है और इन्हीं में से कतिपय सन्तों ने 'सुन्न सरोवर' में स्नान करने का वर्णन भी किया है।

अन्य साधकों की अपेक्षा 'सुन्न सिखर' और 'सुन्न गढ़' में प्रवेश पाने के लिए कबीर अधिक उत्सुक एवं व्यग्र प्रतीत होते हैं। ऐसा ज्ञात होता कि कबीर को उस शिखर पर अधिकार प्राप्त था। वे उस दिव्य प्रदेश की झाँकी पा चुके थे और वहाँ के अक्षय सुख का भी अनुभव कर चुके थे। इसीलिये वे टन्टे बखेड़े में मस्त, बाह्याडम्बरों में संलग्न साधकों को 'सुन्न गढ़' पर विजय प्राप्त करने अथवा सुन्न मंडल में प्रवेश करने एवं उद्योगशील होने के लिए उपदेश देते हैं।[1] 'सुन्न मंडल' में प्रवेश पाते ही अनहद नाद के माधुर्य से ओत प्रोत संगीतात्मक ध्वनि प्रतिश्रुत होने लगी और मोह और अज्ञान का प्रकाश निर्मूल हो गया, दिव्य प्रकाश से जीवन आलोकित हो गया और दीनदयालु के दर्शन हुए।[2] इसी प्रकार स्थान स्थान पर साखियों

१ रोम रोम दीपक भया प्रकट दीनदयाल। स० बा० सं० भाग, पृ० ८।

२ सुन्न मंडल में घर किया बाजे सबद रसाल।

में कबीर ने 'सुन्न महल' में नौबत, किंगरी एवं सितार आदि वाद्यों के ध्वनित होने का और उनके अनुभव का उल्लेख किया है। गरीबदास ने 'सुन्न सिखर' में हंस के विश्राम[1] एवं 'सुन्न सरोवर' में हंस के स्नान[2] करने का वर्णन किया है। इसी प्रकार गरीबदास ने 'सुन्न बस्ती'[3] 'सुन्न मंडल'[4], 'सुन्न सरोवर'[5], 'सुन्न सिखर गढ'[6] आदि का वर्णन किया है जहाँ शब्दातीत ब्रह्म का निवास स्थान है।[7] गरीबदास ने सुन्न सरोवर में स्नान करने[8] और सुन्न महल में प्रवेश के लिए[9] साधन करने का अनेक बार उपदेश दिया है। कबीर एवं गरीबदास की भाँति ही सुन्न सरोवर, एवं सुन्न महल के लिए साधकों को प्रयत्नशील रहने के लिए सचेष्ट करने वालों में चरनदास,[10] धरनीदास,[11] भीखा,[12] तुलसीसाहब,[13] रैदास,[14] धनी धर्मदास,[15] और यारीसाहब[16] उल्लेखनीय है। धनी धर्मदास ने तो एक स्थान पर[17] सुन्न महल से अमृत की वर्षा का हवाला देकर संतों को उसी में नहाने का उपदेश किया है

सुन्न महल से अमृत बरसे।
प्रेम आनन्द ह्वै साध नहाय॥
खुली किवरिया मिटी अंधरिया।
धन सतगुरु जिन दिया है लखाय॥

---

१ सुन्न महल में नौबत बाजै किंगरा बीन सितार।
२ सुन्न सिखर के महल में हंस कियो विश्राम। गरीबदास की बानी, १
३ गरीबदास की बानी पृष्ठ १८
४ " " पृष्ठ २१-२२
५ " " पृष्ठ १०
६ " " पृष्ठ २५-३३
७ गरीबदास की बानी पृष्ठ ६
८ सं० बा० सं०, भाग १
९ सं० बा० सं०, भाग २, पृ० १९९
१० चरनदास की बानी, पृ० ९१-१२०
११ धरनीदास की बानी पृ० १५
१२ भीखा साहब की बानी, पृष्ठ १०, १७, ४०, ६४
१३ सं० बा० संग्रह, पृ० २३३
१४ सं० बा० सं० भाग २, पृ० ३३
१५ " " पृ० ४२
१६ " " पृ० ११-१४५
१७ सं० बा० संग्रह, भाग १ पृ० ४२

और यारीसाहब ने सुन्न (सहस्रदल कमल) को अन्य सन्तों की भाँति बड़े स्पष्ट शब्दों में 'मालिक' के निवास का स्थान बताया है

सुन्न के मुकाम में बेचून का निमाना है।
जिकिर रूह सोइ अनहद बाना है॥
(स० बा० स०, भाग २, पृ० १४५)

इस प्रकार से शून्य या 'खसम' (बाद में खसम या भरतार के अर्थ में भी) निर्गुण ब्रह्म के लिए प्रयुक्त होने लगा। जीवात्मा के विषय में भिन्न भिन्न प्रतीकों का आश्रय लिया जाने लगा। सन्तों में से बहुत से ऐसे थे जो विशुद्ध दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली से अपरिचित थे। घट पटादि तार्किक बारीकियों से वह दूर थे। अतः उनकी रहस्य शोध में कई प्रकार के दार्शनिक मतवाद बड़ी सूक्ष्मता से घुल मिल गये हैं। आचार्य क्षितिमोहन सेन अपनी 'मेडीवल मिस्टिसिज्म' की भूमिका में पृ० १८ पर तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'हण्ड्रेड पोएम्स आफ कबीर' की भूमिका में कुमारी एवैलिन अंडर हिल ने पृष्ठ १३ पर इस बात को मान्य किया है कि निर्गुण सन्तों का रहस्यवाद ऐकान्तिक नहीं है। उसमें सूफियों का विकासवाद भी है और हिन्दू जन्मान्तरवाद भी। उसमें प्रवृत्यात्मकता भी मिली हुई है। कहीं कहीं दर्शन विवेचन भी मिलता है। जैसे आचार्य विनोबा भावे ने वियोगी हरि द्वारा संपादित 'संत सुधार सार' की भूमिका में लिखा है, पृष्ठ १९ पर, उल्लेख है "दादूपंथी निश्चलदास जी का 'विचारसागर' अपने ढंग का एक विशिष्ट ग्रंथ है। कबीर के बीजक में उनकी स्वतन्त्र प्रतिभा का दर्शन होता है। निश्चलदास के 'विचार सागर' में पारिभाषिक वेदान्त का गहरा अध्ययन दीख पड़ता है।"

निश्चलदास के गुरु दादू की बानी में सहज और निरंजन का प्रयोग बहुत हुआ है। कल्याण, साधना अंक पृष्ठ ७०१ पर श्री हरिनारायण जी के लेख, 'श्री दादूदयाल के मतानुसार साधन' में कहा है

"दादू जी का मत अद्वैत ब्रह्मज्ञान है, परन्तु उसके साथ प्रेम और भक्ति तथा पराभक्ति जुड़ी हुई है। वे निराकार, निरंजन, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ चेतन ब्रह्म को ही मानते थे। और उसीका ध्यान, स्मरण और चिंतन हृदय में, अपने आत्मा में ही करते थे। साकार उपासना उनका ध्येय नहीं।

भगवान् का नामोच्चारण, जप और रटन, भक्ति और ध्यान ज्ञानपूर्वक करना उनका मुख्य और प्रथम साधन था। 'राम' नाम से उन्हें ब्रह्म का नाम अभिप्रेत है। नाम का माहात्म्य और साधन अन्य साधनों से ऊपर और सिद्धिदाता माना गया है। कहा है

दादू अविचलमन्त्र, अमरमन्त्र, अखैमन्त्र, अभैमन्त्र, राममन्त्र निजसार।
सजीवनमन्त्र, सनीरजमन्त्र, सुदरमन्त्र, सिरोमणिमन्त्र, निर्मलमन्त्र, निराकार।
अलखमन्त्र, अकलमन्त्र, अगाधमन्त्र, अपारमन्त्र, अनंतमन्त्रराया।
नूरमन्त्र, तेजमन्त्र, जोतिमन्त्र, प्रकासमन्त्र, परममन्त्र, माया उपदेस दया॥

(दादू गुर राया)
(साखी १५२। गुरुदेव को अंग)

दादूदयाल का परमसाधन निराकार निरंजन परमात्मा परमपुरुष अलख, अभेव, निर्मल, अगोचर ब्रह्म है। परन्तु यह साधन भक्ति और प्रेम के सहित है। यथा

१ निर्मलतत, निर्मलतत, निर्मलतत ऐसा।
निर्गुण निज निधि निरंजन जैसा है तैसा॥ टेक॥
उतपति आकार नाहि, जीव नाहीं काया।
काल नाहीं, कर्म नाहीं, रहिता रामराया॥ १॥
सीत नाहीं, घाम नाही, धूप नाहीं छाया।
बाव नाहीं बरण नाहीं, मोह नाहीं माया॥ २॥
धरणी आकास अगम, चंद सूर नाहीं।
रजनी निसि दिवस नाहीं, पवना नहिं जाहीं॥ ३॥
कृत्तिम घट कला नाहीं, सकल रहित सोई।
दादू निज अगम निगम, दूजा नहि कोई॥ ४॥

(पद ९१, राग मालीगोड)

२ दादू भगति निरंजन राम की, अविचल अविनासी।
सदा सजीवनि आतमा, सहजे परकासी।

(२८।१३ तथा अंग ३।२४४)

३ दादू जैसा निर्गुण राम है, तैसा भगति निरजन जाणि ।
(अग ८।२४७)

परमात्मा किसी स्थानविशेष या आकारविशेष में नहीं है, वह तो सर्वव्यापक है तथा हृदय अन्तरात्मा में घट ही में विराजता है। यथा

दादू काया अन्तरि पाइया, निरतर निराकार ।
सहजै आप लखाइया, ऐसा समरथ सार ॥
(अग ४।११)

दादू काया अन्तरि पाइया, त्रिकुटी केरे तीर ।
सहजै आप लखाइया, व्याप्या सकल शरीर ॥
(अग ४।१०)

दादू काया अन्तरि पाइया, अनहद बैन बजाई ।
सहजे आप लखाइया, सून्य महल म जाई ॥
(अग ४।१२)

दादू काया अन्तरि पाइया, सब देवन का देव ।
सहजे आप लखाइया, ऐसा अलख अभेव ॥
(अग ४।१३)

इस प्रकार से हिन्दी के निर्गुण सन्त कवियों के दार्शनिक विश्वास और मान्यताओं का सुस्पष्ट चित्र देना कठिन है। जीव, जगत और परम तत्त्व के लिए उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द तथा प्रतीक विचारणीय हैं। उसकी शब्द सयोजना में उपनिषदों से लेकर वेदान्त तक की विचार धारा का कैसा परिपाक हुआ है यह नीचे हम एक सक्षिप्त सूची दे रहे है, उससे सुस्पष्ट होगा

जीव, आत्मा, हृदय, प्राण	दुलहिन, कमल, ज्योति, हसा, पछी, सिह, शश, जुलाहा, पारथ, पुत्र, मूल, भौरा, जोगी, मच्छ, मीन, हरिण, घन, घडा, सुग्गा, पवन, असवार, पहुनवा, कूकर आदि ।
जगत, माया	हाट, बाजार, पाच चोर, पांच कहार, पच किसान, पचपिणिहारी, गुफा,

	समुद्र, नारी, सीकस, बन, बिल्लैया, गैया, आठ कुआ, माटी का घर, बाडी, दस दरवाजा, पानी का घोड़ा, डाइन, बुढिया आदि ।
परमतत्त्व	अवधू, मूल, सतगुरु, खसम, निरजन, अहेरी, अजपाजप, सोऽहम्, जगन्नाथ, जगदीश, जगपति, शून्य, प्रभु, श्रीपति नाम, अकथ, अतीत, अवरत, अज्ञ, ततसार, अतर्यामी, अविनाशी, मगलरूप, नाथ, करुणामय, निराकार, ठाकुर, साहब, हरि, बाजीगर, खुदा, करीम, पैगम्बर, हजरत, सिरजनहार, साईं, अगोचर, दीनबन्धु, पुरुषोत्तम, गुनसागर, कलानिधान, अविगत, अगम, दीनानाथ, कादिर आदि ।

अब इस शब्दावली में साख्य, योग, वेदान्त आदि के विचार किस प्रकार घुल मिल गये हैं ये देखन लायक हैं । 'गोरखनाथ और उनका युग' प्रबध म डाक्टर रागेय राघव ने भी इस तालिका का आधार लिया है ।

	साख्य	पातजल योग	वेदान्त
जगत्	प्रकृति परिणाम सं त्रयोविशति तत्त्वा त्मक	प्रकृति परिणाम म त्रयोविशति तत्त्वा त्मक	नानारूपक्रियात्मक माया का परिणाम, चेतन का विवर्त
जगत्कारण	त्रिगुणात्मक प्रकृति	कर्मानुसार प्रकृति और तन्नियामक ईश्वर	अभिन्न निभिन्नोपा दान ईश्वर
ईश्वर	नहीं	क्लेशकर्म विपाक आशय असम्बद्ध पुरुषविशेष	मायाविशिष्ट चेतन
जीव :	असग चेतन, विभु नाना, भोक्ता	असग चेतन, विभु नाना, कर्ता, भोक्ता,	अविद्याविशिष्ट चेतन
बधहेतु	अविवेक	अविवेक	अविद्या

	सांख्य	पातंजल योग	वेदान्त
बंध	आध्यात्मिकादि त्रिविध दुःख	प्रकृतिपुरुषसंयोगजन्य अविद्यादि पंचक्लेश	अविद्या तत्कार्य
मोक्ष	त्रिविधदुःखध्वंस	प्रकृतिपुरुषसंयोगजन्य अविद्यादि पंच क्लेशनिवृत्ति	अविद्या तत्कार्य निवृत्तिपूर्वक परमानन्द ब्रह्म की प्राप्ति
मोक्षसाधन	प्रकृतिपुरुष विवेक	निर्विकल्पसमाधि पूर्वक विवेक	ब्रह्मात्मैक्यज्ञान
अधिकारी	सविरग्ध विरक्त	विवेक सहित चित्तवान	मलविक्षेपदोषरहित साधनचतुष्टयसम्पन्न
प्रधान काड	कर्मकाड	उपासनाकाड	ज्ञानकाड
वाद	परिणामवाद	परिणामवाद	विवर्तवाद
आत्मपरिणाम सख्या	विभु नाना	विभु नाना	विभु एक
प्रमाण	प्रत्यक्ष अनुमान शब्द	सांख्य के तीनों	षट्
ख्याति	अख्याति	अख्याति	अनिर्वचनीय
सत्ता	जीव, जगत्, परमार्थसत्ता	जीव, जगत्, परमार्थसत्ता	परमार्थरूपात्मक सत्ता, व्यावहारिक और प्रतिभासित जगत सत्ता तत्त्व ज्ञान पूर्वक मोक्ष
उपयोग	स्व पदार्थशोधन	चित्त की एकाग्रता	तत्त्वज्ञानपूर्वक मोक्ष

अध्याय ४

निर्गुण कवियों की मौलिकता और परम्परानुकरण

कबीर, नानक, दादू, मलूकदास, सुन्दरदास आदि

इस अध्याय में हम यह देखेंगे कि निर्गुण कवियों ने कहाँ तक अपनी निजता दरसाई है और कहाँ तक परम्परा का अनुकरण मात्र किया है। उन्होंने बार बार कहा है 'एक न भूला, दोय न भूला, भूला सब संसार' ('कबीर ग्रन्थावली', पृ० १५५)। कबीर धर्म के नाम पर आडम्बरवादियों के बहुत विरोधी थे

नागे फिरै जोग जे होई। बन का मृग मुकति गया कोई॥
मूड मुडाये जो सिद्धि होई। स्वर्ग ही भेड न पहुची कोई॥

('कबीरग्रन्थावली' पृ० १३०)

कबीर ने हिन्दू, मुसलमान, अवधूत, जैन, वैष्णव सभी के ढोंग और दम्भीपन की खासी खबर ली थी। कल्पना कीजिए कि यह सत्यकथन उस युग में कबीर ने किया जब आज की भाँति धर्म के विषय में बुद्धिवादिता क्षम्य नहीं थी

'अवधू कामधेनु नाहि बाधी रे।'

या—

'ताको हत्या होई अद्भूता।
षट दरसन मे जैन त्रिगूता॥'

या—

'वैसनौ भया तौ क्या भया, बूझा नहा विवेक,
छापा तिलक बनाई करि, दगधया लोक अनेक।'

सन्तों में कबीर सबसे अधिक लीक लीके न चलने वाले, अलीकपंथी थे। उतने ही प्रमाण में हिन्दी निर्गुण सन्तों मे क्या विचारों की और क्या

व्यंजना की, दोनों प्रकार का विद्रोही मौलिकता कबीर में अधिक मिलती है। वे शब्द प्रामाण्य के भी विरोधी थे

'पडित मुल्ला जो लिख दिया। छाडी चले हम कछू न लीया।'

('कबीरग्रंथावली', पृ० २६२)

उनके लेखे तो

सो हिन्दू सो मुसलमान। जाका दुरुस रहै इमान॥

सो ब्राह्मण जो कथै ब्रह्मगियान। काजी सो जो जाने रहमान॥

कबीर ने कहा

'तारे महिए लोकाचार। वेद कतेब करे व्यौहार॥

जारि वारि करि आये देहा। मूआ पीछे प्रीत सनेहा॥

जीवन पित्रहि मारें डंडा। मुआ पित्र लै घाले गंगा॥'

('कबीरग्रन्थावली' पृ० २०७)

'वेद कतेब' आदि का यह विरोध इसलिए था कि वैदिक संस्कृति का रूप उत्तरोत्तर विषमता और अहंकार पर आधारित समता से वैर करते हुए, फौलादी चौखट की भाँति बनता गया। इसका अच्छा विवेचन चक्रधर के संबंध में महाराष्ट्र के गांधीवादी विचारक और 'आन्तरभारती' के प्रवर्तक आचार्य भागवत ने अपने एक भाषण में किया था

"वैदिक संस्कृतिचे समाजशास्त्र हे चातुर्वर्ण्यावर म्हणजे च विषमता व अहंकार यावर आधारलेले आहे, ही संस्कृति नेहमीच समतेशी वैर करीत आलेली आहे, तिची मूल्यच मूलीं विषमतेवर आधारलेलीं आहेत", (आचार्य भागवत, नवभारत, अगस्त १९४८, वसंत व्याख्यान माला में 'चक्रधर का महानुभाव पंथ अवैदिक था' भाषण)—वैदिक संस्कृति का समाजशास्त्र चातुर्वर्ण्य पर यानी विषमता और अहंकार पर आधारित है। यह संस्कृति सदा समता से वैर करती आई है। इसके मूल्यों के मूल विषमता पर आधारित हैं।

इस प्रकार से कबीर के सम्बन्ध में डाक्टर गोविन्द त्रिगुणायत का यह कथन सच है कि "उनका साम्यवाद इस्लामिक साम्यवाद की व्यावहारिकता और भारतीय अद्वैतवाद की ज्ञानात्मकता के सुंदर समन्वय से बना था।" ('कबीर की विचारधारा', पृ० ३८१)। परन्तु डाक्टर त्रिगुणायत का कबीर

के साम्यवाद की तुलना फ्रोकर, मूर या मार्क्स से करने का यत्न असंगत है। यह सब भिन्न भिन्न काल देश के दर्शन है। और यन्त्रयुग की समस्याओं का हल हम कबीर के काल में नहीं खोज सकते।

हिन्दू मुस्लिम ऐक्य की यह बात चन्द्रबली पांडे वहाँ भूल गये हैं जहाँ उन्होंने कबीर को 'जिन्दीक' कहने की कोशिश की है। यह जातिभेद धर्मभेद से अतीत भावना तो सिद्ध और नाथपन्थी योगियों में कभी की चली आ रही थी। सम्भव है इस पर सूफी प्रभाव भी हो, जैसे इस अध्ययन के अन्त में दर्शित है।

नाथपन्थी योगी चौरंगीनाथ के समय के विषय में चर्चा करते हुए डाक्टर पीताम्बरदत्त बडथ्वाल ने 'राजेन्द्र अभिनन्दन ग्रन्थ' पृष्ठ ९२ पर कहा है "पहाड़ी मन्त्रों में एक और बात लिखी है जो इस संवत् को सही मानने के विरुद्ध जाती हुई जान पड़ती है। यह बात यह है कि चौरंगीनाथ सेवकों (शिष्यों) में हिन्दू और मुसलमान दोनों थे 'हिन्दू तुरक दुई सेवा लगाई लीनो।' यदि इस कथन में कुछ तथ्य है तो चौरंगीनाथ सातवीं शताब्दी के नहीं हो सकते। सं० ७६९ विक्रमी में अरब के मुसलमानों का भारत पर पहला आक्रमण हुआ। इसके बाद सं० १०५० विक्रमी के लगभग फिर पश्चिमोत्तर से आक्रमण होने लगे। अतएव यही समय लगभग ऐसा है जिसमें पंजाब के मुसलमानों का आगमन माना जा सकता है। चौरंगीनाथ का भी यही समय मानना चाहिये।"

दादू के मतानुसार जो कबीरजी, रैदासजी आदि महात्माओं का सा है, किसी प्रकार का भेद भाव—हिन्दू मुसलमान, राम रहीम आदि का भेद-भाव कुछ भी प्रयोजन नहीं रखता। जब सभी एक उसीके सिरजे हुए हैं, वह एकरस सब में व्यापक है, उसके निकट सब बराबर हैं, फिर मनुष्य ऊँच नीच, हलका-भारी, छोटा बड़ा आदि क्यों देखे या समझे। यह सब बखेड़े, झंझट, बन्धन—यहाँ तक कि ये सब अपराध हैं। दादू के शब्दों में

(क) १ आन तैं चित निवाहिये रे मोहि एक सेती काज रे।
अनत गये दुख ऊपजै, मोहि एकहि सेती राज रे॥

माई माँ महजे रमा रे, और नहीं आन देव रे।
तहाँ मन विलम्बिया, जहाँ अलख अभव रे॥
(पद ९—पृ० ३६०)

२ दादू नाहि न भावै आन, राम बिना भइ मृतक समान।
(पद १०—पृ० ३६१)

३ दादू द्वै पख दूरि करि, निर्पख निर्मल नाव।
आपा मटे, हरि भजे, ताकी मैं बलि जाव॥
(अंग २६।६४)

(ख) ४ अलख देव अंतरि बसै, क्या दूजी जागह जाइ।
(अंग १३।१२०)

५ पूजनहारे पासि है, देही माहैं देव।
दादू ताको छाडि करि, बाहरि माडी सेव॥
(अंग १३।१४८)

६ (दादू) निराकार मन सुरतिसौं, प्रेम प्रीति सौं देव।
जे पूजे आकार कौं, सो साधू परतखि देव॥
(अंग १५।२)

७ पद २११। राग सोरठा। (पृ० ४९० स्पष्टसिद्धान्त)
सोई देव पूजौं, जे टाची नाहि घडिया॥
गरभवास नाहीं औतरिया॥ टेक॥

८ ये पूजा मेरे मन मान, जिहिं विधि होइ सु दादु न जान।
पद १९१। राग रामकली। (पृ० ४४१ स्प० सि०)

साचा राम न जाणे रे, सब झूठ बखाणै रे॥ टेक॥
झूठ देवा झूठी सेवा, झूठा करे पसारा।
झूठी पूजा, झूठी पाती, झूठा पूजणहारा॥ १॥
झूठा पाक करै रे प्राणी, झूठा भोग लगावे।
झूठा आडा पडदा देवे, झूठा थाल बजावै॥ २॥
॥ ३ ॥ और ॥ ४ ॥

(ग) दादू अपना मत पन्थों के सम्बन्ध में बताते हैं

स्पष्टसिद्धान्त कथन

९ पद १९८। राग रामकली। (पृ० ४४१)

मैं पंथी एक अपार का, मन और न भावै।
सोई पंथ पावै पीव का, जाहि आप लखावै ॥ टेक ॥
को पंथी हिंदू तुरक के, को काहू राता।
को पंथी सोफी सेवडे, को सिन्यासी माता ॥ १ ॥
को पंथी जोगी जंगमा, को सकति पंथ ध्यावै।
को पंथी कमडे कापडी, को बहुत मनावै ॥ २ ॥
को पंथी काहू के चलै, मैं और न जानूं।
दादू जिन जग सिरजिया ताही को मानूं ॥ ३ ॥
दादू हिंदू तुरक का, द्वै पख पंथ निवारि।
संगति साधे साध की साईं को संभारि ॥

(अंग १६। ५१)

१० (दादू) हिन्दू लागे देहुरे, मुसलमान मसीति।
हम लागे एक अलेख सौं, सदा निरन्तर प्रीति ॥

(अंग १६। ५२)

११ पद ३४७। राग विलावल। (पृ० ५०७)

मूलहि सींचि बधै ज्यूँ बेला, सो तत तरवर रहै अकेला ॥

१२ तीरथ बरत न पूजै आसा, बनखंडि जाहि रहै उदासा।
यूँ तप करि करि देह जलावै, भर्मत डोलै जन्म गवावैं ॥ ३ ॥

१३ तब दादू परम गति पावैं, सो निज मूरति माहि लखावैं ॥ ४ ॥
ना घरि रह्या न बनि गया, ना कुछ किया कलेस।
दादू मन ही मन मिल्या, सतगुर के उपदेस ॥

(अंग १। ७५)

इसी कारण से उस युग में जो सन्त हुए वे सभी जातियों में से हुए। मराठी के एक संत कवि रमावल्लभदास (१६२८ ईस्वी) ने सन्तनामावली दी है। इसमें सब जातियों के सन्तों के नाम हैं

निवृत्ति ज्ञानेश्वर सोपान मुक्तेश्वर ।
　　त्रिम्बोबा खेचर ज्ञानशार ॥ १ ॥
परमानन्द नागा जगमित्र नागा ।
　　केशवनाम चांगा हरिप्रिय ॥ २ ॥
परिसा भागवत नामा शिंपी भक्त ।
　　नाम ज्याचे स्वत हरिलागीं ॥ ३ ॥
कान्होबा हरिनाम महादेव पारखा ।
　　सावता माळी चोखा हरिजन ॥ ४ ॥
मुक्ताबाई माना कर्मदास आवडता ।
　　गोरा कुम्भार अनना प्रिय बहु ॥ ॥
हरिदास मुरारि सोनार नरहरी ।
　　निरतरा निरन्तरीं हरिध्यान ॥ ६ ॥
मुकुन्दराज योगी नानक पवित्र नागा ।
　　अवधूत वैरागा हरिलागा ॥ ७ ॥
वल्लभदास भानुदास जाण ।
　　हरिनाम पावन हरिमग्न ॥ ८ ॥
बहिरो जातवेद चिंतामणि प्रसिद्ध ।
　　आजि तो नित्यानंद हरिगण ॥ ९ ॥
योगी दामोदर हरिचा शरणागत ।
　　विठ्ठ नारा सूत नामयाचे ॥ १० ॥
का हो पाठक भक्त सदगुरु अंकित ।
　　वनाजी विश्वनाथ हरिदिन ॥ ११ ॥
पाठक नामा आणि दिगंबर दास ।
　　अतगिरी शिवदास हरि सखे ॥ १२ ॥
एका जनार्दन अवतार परिपूर्ण ।
　　करावया उद्धरण भाविकाचे ॥ १३ ॥
अच्युताश्रम यति जया नामीं अतिप्रीति ।
　　गंगाधर निश्चिती गुरु भक्त ॥ १४ ॥

कृष्णदास मुद्गल चांभा कृष्ण पाळ ।
विठ्ठल नाम निर्मळ महाभक्त ॥ १५ ॥
विठा कृष्णदास अगस्तीच्या गोत्रीं ।
मृत्युञ्जय वक्त्रीं नाम गाय ॥ १६ ॥

मराठी के निर्गुण सगुण सभी सन्तों में जातिभेद नहीं था। यह चर्चा पहले भी आ चुकी है। नानक के लेखे तो यह जातिभेद अर्थशून्य था, तभी तो रविदास या रैदास के ग्रन्थसाहब में चालीस पद मिलते हैं। इन में से 'दूध तो बच्छर थन ही बिडारेउ' यह पद में यहाँ देता हूँ

दूध तो बच्छरें थन ही बिडारेउ ।
फूल भवर जलु मीन बिगारेउ ॥
माइ गोबिन्द पूजा कहाँ ले चरावहूँ ।
अवरत फूल अनूपुन पावउँ ॥
मलयागिरवे रहइ हैं भुजगा ।
बिषु अमृत बसही इक संगा ॥
तन मन अरपऊँ पूज चढ़ावऊँ ।
गुरु परसादि निरञ्जन पावऊँ ॥
पूजा अरचा अहिन तोरी ।
कहा रविदास कवनि गति मोरी ॥

अर्थात् 'बछड़े ने तो दूध को जूठा कर दिया, भ्रमर ने फूल को और मत्स्य ने जल को अपवित्र कर दिया है। माँ! तब गोविन्द की पूजा कैसे हो, क्योंकि और तो अनुपम (पवित्र) फूल कहीं मिलते ही नहीं। मलयाचल में तो सर्प ही रहता है और विष और अमृत एक ही साथ रहते हैं। तन मन को अर्पित करके ही पूजा चढ़ाऊँगा और गुरुकृपा से निरञ्जन को प्राप्त करूँगा। तुम्हारी पूजा अरचा तो कुछ हो नहीं पा रही है। रविदास कहते हैं कि मेरी कौन गति होगी?'

'साहित्य' में प्रकाशित 'शूद्रों का अभ्युदय' और 'सत रविदास' लेख में भागवतरत्न डाक्टर विमानविहारी मजूमदार ने कहा है

"मध्ययुग के सन्तों ने भगवान् की वाणी को लोक में सार्थक करके

दिखाया। यद्यपि स्वामी रामानन्द ने अपने 'आनन्दभाष्य' ग्रन्थ में शूद्रों के वेद पढ़ने के अधिकार को स्वीकार नहीं किया है, तथापि उन्होंने यह घोषणा की है कि बिना किसी भेदभाव के परमात्मा की उपासना का अधिकार सबको है। उन्होंने कहा है कि किसी की जाति पाँति पूछना अनावश्यक है, प्रेमपूर्वक जो हरि की शरण में जाते हैं वे हरि के जन हैं। यद्यपि उनकी शिष्य परम्परा में तथाकथित ऊँची जाति के लोग भी थे तथापि उन्होंने हिंदू धर्म के निम्न स्तर के लोगों में से भी बहुत से श्रेष्ठ शिष्य अंगीकार किए। उनमें धना जाट, सदन कसाई, सेन नापित, रैदास या रविदास चमार और कबीर जुलाहा प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपनी साधना के द्वारा शूद्रजनों को अभिनव गौरव प्रदान किया। इन लोगों के बीच सन्त रविदास चमारों के गुरु और भगवान के रूप में आज भी पूजे जाते हैं। लोग इनके जीवन और वाणी की आलोचना द्वारा इस शताब्दी में शूद्रजनजागरण के स्वरूप का दिग्दर्शन करेंगे।"

कबीर ने एक पद की रचना की है, जिसका विषय है त्रिलोचन और नामदेव का परिचय। इसमें उन्होंने शूद्र की भक्ति साधना की प्रणाली बताई है। त्रिलोचन ने कहा कि नामदेव के हृदय से अभी तक आसक्ति दूर नहीं हुई, क्योंकि वह कपड़ा छापकर अभी भी पैसा इकट्ठा करता है। इसके उत्तर में नामदेव ने कहा

नामा कहै त्रिलोचना, मुख ते राम सँभालि।
हाथ पाँव कर काम सब, चित निरंजन नालि॥

शंभु प्रसाद बहुगुणा के लेख 'सन्त रैदास' ('राष्ट्रभारती' फरवरी, १९५३) में रैदास की जाति के विषय में लिखा है

रैदास ने चमार कुल में अपने जन्म होने का संकेत दिया है

१ मेरी जाति बिखिआत चमार। २ मेरी जाति कुटबा ढला ढोर ढोवंता नित ही बनारसी आस पासा। ३ जाके कुटुम्ब के ढेड सब ढोर ढोवत फिरहिं अजहुँ बनारसी आसपासा, आचार सहित विप्र करहिं डंडउति तिनि तनै रविदास दासान दासा। ४ मोर कुचिल जाति कुचिल में बास। ५ नीच से प्रभु ऊँच कियो कह रैदास चमारा।

रैदास ने कबीर के तिरने की और दादू ने रैदास के तिरने की बात लिखी

ह। दादू क शि य रज्जब ने (१५६७–१६८९ ई० म) अपनी सर्वाङ्गी म भक्त रैदास को चमारी के गर्भ से उ पन्न बताया ह

चमारी ग्रभे उत्पन्नो, रैदासो महामुनी,
उत्यम ब्रह्म सुमिरन नाम, तत्समान क्य नाति कारण ॥

'भविष्योत्तर पुराण' म रैदास के विषय में ये तीन श्लोक मिलते ह

चर्मकारगृहे जातो द्वितीय पिंगलापति ।
भानदासस्य तनयो रैदास इति विश्रुत ॥
पुरा काशी समागम्य कबीर रामतत्परम् ।
जित्वा मतविवादेन शंकराचार्यमागत ॥
पराजित्य स रैदासो न गा त द्विजसत्तमम ।
रामान दमुपागम्य तस्य शिष्यत्वमागत ॥

जो बात कबीर, गोरखनाथ, दादू, रैदास म मिलती ह वही रूढ़ि के प्रति विद्रोह और मौलिकता नानक, मलूकदास और सुन्दरदास मे भी पाई जाती है। तीनों की रचना से मैं प्रमाण देता हूँ—

नानकदास की रचना इस प्रकार है

जूठि न रागी जूठि न वेदी। जूठि चद सूरज की भेदी ॥
जूठि न अनी जूठि न नाई। जूठि न मीह वसिऐ सम थाइ ॥
जूठि न धरती जूठि न पाणी। जूठि न पउणे माहि समाणी ॥
नानक निगुरिआ गुण नाहीं कोइ। मुहि फेरिऐ मुहु जूठा होइ ॥१॥

कलि होई कुते मुही खाजु होआ मुरदारु।
कूडु बोलि बोलि भउकणा चूका धरमु बीचारु ॥ २ ॥
जिन जीव दिआ पति नही मुइआ मन्दी सोइ।
लिखिआ होव नानका करता करे सु होइ ॥ ३ ॥

धगु ति हा का जीविआ जि लिखि लिखि वेचहि नाउ।
खेती जिनकी उजड खलवाड़े किआ थाउ।
सचै सरमै बाहरै अगै लहहि न दादि।
अकलि एह न आखीऐ अकलि गवाईऐ वादि ॥
अकली साहिबु सेविऐ अकली पाईऐ मानु।

अकली पढ़ि कै बूझिए अकली कीजै दानु ॥
नानकु आखै राहु एहु होरि गलां सैतानु ॥ ४ ॥
ज्ञान विहूणा गावै गीत । भुखे मुल्ला घरे मसीत ॥
मखटू होइ कै कन्न पड़ाए । फकर करे होरु जाति गवाए ॥
गुरु पीरु सदाए मंगण जाइ । ताकै मूलि न लगीए पाइ ॥
घालि खाइ किछु हथहु देइ । नानक राहु पछाणहि सेइ ॥ ५ ॥

('सन्तसुधा सार') गुरु नानकदास

अब मलूकदास जी के कुछ प्रमाण देखिए

किरिया करम अचार भरम है, यही जगत का फंदा ।
× × ×
देवल पूजे कि देवता, की पूजे पाहाड़ ।
पूजन को जाता भला, जो पीस खाय संसार ॥ १८ ॥
मक्का मदिना द्वारका, बद्री अरु केदार ।
बिना दया सब झूठ है, कहै मलूक विचार ॥ १९ ॥
जे दुखिया संसार में, खोवौ तिनका दुक्ख ।
दलिद्दर सौंप मलूक को, लोगन दीजै सुक्ख ॥ २० ॥
सब कोउ साहेब बन्दते, हिन्दू मुसलमान ।
साहब तिसको बन्दता, जिसका ठौर इमान ॥ २ ॥

('सन्तसुधासार') बाबा मलूकदास

सुन्दरदास जी के कुछ छन्द देखिए

दोहा छन्द

सुन्दर देख्या सोधि कै, सब काहू का ज्ञान ।
कोई मन माने नहीं, बिना निरंजन ध्यान ॥ १ ॥
षट् दर्शन हम खोजिया, योगी जंगम शेष ।
संन्यासी अरु सेवड़ा, पंडित भक्ता भेष ॥ २ ॥

त्रिभंगी छन्द

तो भक्तन भाव दूरि बतावै तीरथ जावै फिरि आवै ।
जो कृत्तम गावै पूजा लावै झूठ दिढ़ावै बहिकावै ॥
अरु माला नावैं तिलक बनावै क्या पावै गुरु बिन गेला ।
दादू का चेला भरम पछेला सुन्दर न्यारा ह्वै खेला ॥ १ ॥

('सुन्दरसार', भ्रमविध्वंस अष्टक, पृ०–९१)

नानक के अनुसार परमतत्त्व तर्कातीत है—'सोच सोच न होवई, जो सोचै लखवार' (ग्रथ, पृष्ठ-१) 'बहुत कहिए बहुता होइ' (जपुजी-२२), 'तानि समावे चउथे वासा' (ग्र थ, पृष्ठ-४५)। नानक ने राम के अवतारी पन को भी सन्देह से देखा है। नहीं तो वह सीता और लक्ष्मण के लिए क्यों विलाप करते? नानक के अनुसार राम भी अपने भाग्य को न मेट सके। मेकालिफ ने अपने ग्र थ 'सिख धर्म' में पृष्ठ ३८२ पर इस बात का यों प्रतिपादन किया है कि निर्गुणिये नर पूजा मात्र के विरोधी थे। नानक की कई बानियों में यह मौलिकता दिखाई देती है। 'जपुजी' में अठारहवाँ पद इस प्रकार से है

असख मूरख अधघोर। असख चोर हरामखोर॥
असख अमर करि जाहि जोर। असख गलवढ हत्तिआ कमाहि॥
असख पापी पाप करि जाहि। असख कुडिआर कूडे फिराहि॥
असख मलेछ मलु भखि खाहि। असख निंदक सिरि करहि भारु॥
नानकु नीचु कहै वीचारु। वारिआ न जावा एक वार॥
जो तुधु भावै साई भली कार। तू सदा सलामति निरंकार॥

अर्थात् असंख्य लोग मूर्ख और घोर अन्धे हैं। असंख्य चोर और पराया धन हरण करने वाले हैं। असंख्य लोग ऐसे हैं जो बलात्कारपूर्वक राज्य स्थापित कर लेते है और गला काटने वाले और हत्यारे भी असंख्य हैं। असंख्य पापी हैं, जिन्हें पाप करते हुए गर्व होता है। असंख्य असत्य बोलने वाले असत्य में ही पडे पड़े चक्कर काटते हैं। असंख्य गन्दे लोग गन्दी कमाई से ही अपना पेट भरते है और असंख्य निन्दक पराई निन्दा करते और सिर पर पापों की गठरी लादते हैं। तुच्छ नानक कहता है, मैं तो तुझ पर एक बार भी निछावर होने लायक नहीं। अच्छा भला वही है, जो तुझे भावे। हे निराकार! तू सदा सलामत रहता है।

सन्तों के समाज सुधारक होने की बात का प्रमाण सुन्दरदास में मिलता है

अधीर्य उराहने कौ अंग

इन्दव

पेटहि कारण जीव हनै बहु पेटहि मांस भखै रु सुरापी ।
पेटहि लैकरि चोरी करावत पेटहि को गठरी गहि कापी ॥
पेटहि पासि गरै महि डारत पेटहि डारत कूपहु वापी ।
सुंदर काहे को पेट दियो प्रभु, 'पेट सो और नहीं कोउ पापी ॥'

—('सन्तसुधासार', पृष्ठ–६१८)

मध्ययुगीन सन्तों ने अपने मौलिक सामाजिक दार्शनिक विश्वासों से प्रचलित समाज व्यवस्था को झकझोरा और अपनी मौलिक मर्मग्राही दृष्टि से समाज रोग की चिकित्सा की ।

मराठी के एक आलोचक का इस मत से भिन्न मत है "इस दृष्टि से देखते हुए बसव, चक्रधर, ज्ञानेश्वर सभी धर्मसुधारक थे । उनकी भूमिका समाज क्रांतिकारी की नहीं थी । गये हजार वर्षों से हमारे जीवन विषयक दृष्टिकोण में मूलगामी फर्क नहीं हुआ । पुनरुज्जीवन, परिवर्तन और क्रांति में से केवल पुनरुज्जीवनवादी और परिवर्तनवादी प्रवृत्तियाँ ही हमारे आजपूर्व इतिहास में दिखाई देती हैं । ब्रिटिश राजसत्ता आने तक हमारी समाज व्यवस्था को मूलगामी स्थित्यंतर का धक्का मिला ही नहीं । पारमार्थिक सत्ता की चिकित्सा को वैदिक परम्परा ने भरपूर विचार स्वातन्त्र्य दिया था, समाज व्यवहार सीमित रखकर घटपट की बौद्धिक कसरत कितनी भी स्वच्छता और कठोरता से करें, उसके लिए छूट थी, बंधन नहीं था । द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, ईश्वरवाद, निरीश्वरवाद आदि पंथोपपंथ तथा पक्षोपपक्ष एक ही परम्परा में फल फूल सके । समाज रचना की फौलादी चौखट ज्यों की त्यों सदियों तक बनी रही ।"

—(गं० बा० सरदार 'संतवाङ्मयाची सामाजिक फलश्रुति' पृष्ठ–२४)

परन्तु सरदार के मत का खण्डन इस बात से होता है कि रामानन्द के चेलों में धन्ना जाट जाति के थे । पीपा राजपूत थे । अलवर के लालदास मेव वंशी थे । भक्त दादू (१५४४ १६०३) पहले मुसलमान थे और उनका नाम था 'दाऊद' । बंगला बाउलों से आचार्य क्षितिमोहन ने सुना था, 'श्री गुरु दाऊद बन्दि, दादू यार नाम ।'

'भारतवर्ष म जातिभेद' ग्रन्थ म आचार्य क्षितिमोहन सेन ने १६वे अध्याय मे कहा है कि सामाजिक अविचार के भीतर से भी व्यक्ति महिमा की जीत होती है। नारद, विदुर, व्यास आदि का जन्म बहुदोषयुक्त होने पर भी व महापुरुष बने। महाभारत क वनपर्व (२०६।११५) मे एक द्विज और व्याध की कथा है। व्याध का ज्ञान और साधना देखकर विस्मित होना पडता है। शूद्र पैजवन के दान और उदारता की सीमा नही (शातिपर्व, ६० अध्याय)। मनुस्मृति (८।२७२) म भी वैश्य तुलाधार के साथ जाजालि का सवाद है। तुलाधार बृहद्धर्म पुराण के अनुसार व्याध थे। भगवान् बुद्ध के बाद बौद्ध सघ म जिनका सबसे अधिक सम्मान था, वे उपालि नाई थे। सुनीत पुक्कस थे, साति मछुए और नन्द ग्वाले। भिक्षुणियों में चम्पा मृगयाजीवी व्याध थी, पुन्ना और पुन्निका दासीपुत्री, सुमगलमाता वेण, सुभा लुहार की लडकी।

सस्कृतियों का यह सघर्ष और सन्तों का उसके प्रति विद्रोही स्वर दक्षिण में अधिक तीव्र था। चिदम्बरम् के मन्दिर में अस्पृश्य परिया की मूर्ति है। तमिल भक्तों म अनेक अब्राह्मण थे यथा वायु मानुवर, सिद्धयर, पात्तिनातु, पिल्लेयर, अमृतसर्कैनर, अरुणगिरि, नाथर, अरुमुण्डनाथर, मुनिवाहन, नम्मालवार, तिरुवल्लुवर, कठप्पनयन, पट्टति सिन्नार, थिसमल नायनार, नन्दनार आदि। असम के शकर देव जाति के शूद्र थे। महापुरुषिया सम्प्रदाय इन्ही ने चलाया। 'पद्मपुराण' में स्वय भक्ति कहती ह "मै द्रविड देश में जन्मी, कर्नाटक मे बढ़ी, महाराष्ट्र में कुछ दिन वास किया और गुजरात में जाकर जीर्णावस्था को प्राप्त हुई।"—(उत्तर० १९३।५१)

सन्त मलूकदास (१६३१ सवत् से १०८ वर्ष की आयु तक) ने हिन्दू मुस्लिम एकता की भी जोर से चर्चा की है और साथ ही कबीर की तरह से हिन्दू और मुस्लिम रूढ़िवाद की निन्दा भी। यथा

साखी

मलुका सोई पीर है, जो जानै पर पीर।
जो पर पीर न जानहीं सो फकीर बे पीर॥

पहुनक पीर कहावत, पहत करत है भम।
यह मन कहर खोदाय का, मारे मो मुखम॥
पीर पीर सब कोइ कह, पारे चिन्हत नाहि।
जिन्दा पीर को मारिके, मुरदहि ढूंढन जाहि॥

—('सन्तकाव्य' परशुराम चतुर्वेदी, पृ०-३०९)

कवित्त

'बीर रघुबीर पगम्बर खुदा मेरे,
कादिर करीम काजी माया मत खोई है।
राम मेरे प्रान रहमान मेरे दीन इमान,
भूल गयो भया सब लोक लाज धोई है॥
कहत मलक में तो दुविधा न जानो दूजी,
जोई मेरे मन में नैनन में सोई है।
हरि हजरत मोहि माधव मुकुन्द की सौं,
छाडि कशोराम मेरो दूसरो न कोई है॥'

—(वही, पृष्ठ-३५७)

यह सूफियाना कलाम सोलहवीं शती के अन्त में आ गया था। मराठी महाभारत में तो और भी कई प्रकार के विदेशियों की नामावली हमें मिलती है। उदाहरणार्थ, मुक्तेश्वर का महाभारत १६७८ में लिखा गया। उसमें निम्न विदेशियों के उल्लेख हैं (आदिपर्व, अध्याय-१५, ३१, ४० सभापर्व, अध्याय-५,८ , वनपर्व, अध्याय ८)।

जावी, जगी, फिरंगी, कूर। नायी, इंग्रेज, मल्लीबार।
कावे, कावटे ककमगर। जळतस्कर, मासाशी॥ ९॥
रूमशाम, खोरासान। मुल्तान, हबशान, अर्बस्तान।
उजबेक, पठाण, तुर्कमान। बदकशान, मेवात॥१०॥
पारसी भासीक ताम्रमुख। आरब, हुरमुज, काळमुख।
रूमशाम घोडमुख। नाट पाट पुलिंद॥१७६॥

तात्पर्य, हिंदी के निर्गुण संतों ने रूढ़ि का पालन योग सम्मत पारिभाषिक दर्शन शब्दावली में अवश्य किया है, परंतु अन्य सामाजिक विषयों में वे स्वतन्त्र मत वाले हैं। उन्होंने कई बातों में उस समय की रूढ़ सामाजिक चौखट को धक्का जरूर दिया था। सूफियाना असर भी गहरा था। जैसे मलूकदास का 'मस्त फकीर' पद ले लीजिए

> दर्द दिवाने बावरे, अलमस्त फकीरा।
> एक अकीदा लै रहे, ऐसे मनधीरा॥ १॥
> प्रेम पियाला पीवते, बिसरे सब साथी।
> आठ पहर यों झूमते, ज्यों माता हाथी॥ २॥
>
> —(सन्तकाव्य, पृष्ठ ३५४)

यह ठीक वैसा ही विश्वास था जैसा सूफी कवियों ने कहा था कि स्वर्ग में अगर हूरें और अमृत यह सब खुश कर देने वाले हैं तो इस दुनिया में नकली शराब से कैसे काम चलेगा

> 'हूरो खुल्दो कौसरे वा अज़ अगर खुशकर्द ई।
> बज्मे माहस् शाहिदे नक्ले शराबे वैश नेस्त॥'

प्रसिद्ध सूफी दार्शनिक अल् गजाली ने इसीलिए कहा था कि खुदा की कसम! जब तक नहीं पीता, तब तक वह इस प्याले का स्वाद नहीं जान सकता।

> 'ज़ौके ई बादा न दानी ब खुदा तान नशी।'
>
> —('दर्शन दिग्दर्शन', राहुल पृ० - १७४)



अध्याय ५

निर्गुण काव्य में प्रयुक्त कुछ सामान्य प्रतीक और संकेत

धार्मिक साहित्य में प्रतीक और संकेतों का इतिहास बहुत पुराना है। आर्य, यूनानी, ईसाई, इस्लामी सब प्रकार के धार्मिक साहित्य में प्रतीकों के शब्द मिलते हैं। पानी, दीपक, तल, आग आदि का बड़ा पुराना इतिहास है। उपनिषदों में बार बार उल्लेख आता है कि यह सृष्टि 'उस' ने तपन के मारे की। वह अग्निरूप ही था, तेजरूप ही था। यथा 'तैत्तिरियोपनिषद्' में कहा है कि 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा ॥' और छान्दोग्य में 'स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षा ॥' (३ १७ १) और 'तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत।' (६ २ ३)

'ऋग्वेद' में कुछ ऋचाएँ हैं जो अग्नि की उत्पत्ति पर प्रकाश डालती हैं। एक स्थल पर कहा गया है 'अथर्वा के पुत्र दध्यङ् ने तुम्हें प्रज्वलित किया है।' ऋग्वेद (६ १६ १४)। दूसरे स्थान पर कहा गया है कि 'अंगिरस पुरुषों ने तुमको उत्पन्न किया' (ऋग्वेद, १ ३१ १, २)। तीसरे स्थल पर कहा गया है कि भृगुवंशी पुरुषों ने मनुष्यों के बीच में तुमको प्रतिष्ठित किया है (ऋग्वेद, १ ५८ ६)। एक अन्य ऋचा में यही बात मनु के लिए कही गई है (१ ३६ १९)। एक मन्त्र (ऋ० १०-४५ १) में कहा गया है कि अग्नि पहले विद्युत् के रूप में आकाश में उत्पन्न हुआ। सूर्य और विद्युत् दोनों अग्नि के ही रूप कहे गये हैं (ऋ० १ ७९ १, ३ १० ४५ ३)। ऋग्वेद (१० २० ७) में अग्नि को 'पत्थर का पुत्र' (अद्रे सूनु) भी कहा गया है। ऋग्वेद (२, १२, ३) में कहा गया है कि 'याऽश्मनोरन्त अग्निं जजान' 'जिस इन्द्र ने दो पत्थरों अथवा बादलों के बीच में अग्नि उत्पन्न किया।' अश्मा द्विअर्थक शब्द है बादल और पत्थर। ऋग्वेद (३ म, २९ सू०) के

कई म त्रा म अरणियो से अग्नि उत्पन्न हुई, ऐसा कहा गया ह। उसी म अग्नि को 'द्विमातृक' दो माताओं का पुत्र भी कहा गया ह।

यजुर्वेद म कहा गया ह 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्।' यास्क के अनुसार 'द्राविणोदा' (धन और बल को देने वाला) अग्नि ही है। प्रथम मडल का प्रथम सूक्त है 'अग्नि पूर्वेभि ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत' (अग्नि पुराने और नये, दोनों समय के ऋषियों द्वारा पूजनीय है)। 'जघेर्दु शसा अप दूढ्यो जहि, दूरे वा ये अन्ति वा के चिदत्रिण।' (ऋ० १९४९) अर्थात् 'हे अग्ने! बुरा चाहने वालों को मार, जो हमारे सम्ब ध में बुरा विचार रखने वाले हों उनको मार, जो हमको खा जाने वाले हों, चाहे दूर या पास, उन्हें भी तू मार।' ऋग्वेद (१९९१) में है 'जातवेदा अग्नि के लिए हम सोम को निचोड़ें।' 'अग्नि दूत पुरोदधे' अग्निरूपी दूत को मैं आगे रखता हूँ। 'वैश्वानर' भी वही है। यास्क के अनुसार सब मनुष्य इसको ले चलते हैं अथवा सब मनुष्यों को ले चलने वाला यह नायक है इसलिए 'वैश्वानर'। यजुर्वेद (३३९) म अग्नि को गृहपति भी कहा गया है। वह्नि, हुतभुक्, हव्यवाहन, पावक उसी के नाम ह। तत्तिरीयसहिता (७११४६) में कहा है कि प्रजापति ने सबसे पहले बकरे को बनाया, फिर भेड़ को, फिर गौ को, फिर घोड़े को। 'अगिरस अग्नि' लेख (द्वि० अ० ग्र०, पृष्ठ १४०) में वासुदेवशरण अग्रवाल ने कहा है

निर्गुण सन्तों ने भी 'आगि' और विरह की चर्चा बार बार की ह। परमपुरुष को अग्नि का गोला, तेज, नूर, तूर माना है। उदाहरणार्थ, कबीर ने कहा है

'चोसठ दीया जोय के चोदह चन्दा माहि।
तेहि घर किसका चानडो जेहि घर गोविन्द नाहि॥'

और जायसी की नागमती कहती है

'यह तन जारौ छार कै, कहौ कि पवन उड़ाव।
यकु तेहि मारग उड़ि परै कत धरै जेहि पाव॥'

और कबीर ने कहा

अवलि अलह नुरू उपाइआ कुदरति के सभ बदे।
एक नूर ते सभु जगु उपजिआ कउन भलेको मदे॥

'अग्नि' और 'प्रकाश' या नूर के समान ही दूसरा बहुतायत से प्रयुक्त प्रतीक नाद और बिन्दु का है। हठयोगप्रदीपिका (४ ६६) में इसे श्रेष्ठ साधन माना है। वहीं कहा है कि मन की स्थिरता बिन्दु की स्थिरता पर निर्भर है (वही, ४ ११२)। योगियों ने नाद को अनहद नाद के अर्थ में प्रयुक्त किया है और कहा कहा यह परम लय के अर्थ में भी आता है। सिद्धों में और नाथपंथियों में यह बिन्दुसाधना तान्त्रिकों की मारफत और बहुत प्रचलित हुई। गोरखबानी में पृष्ठ ६१ पर पद है

'नाद बिंद है फीकी सिला। जिहि साध्या ते सिध मिला॥'

कबीर ने 'नादब्यन्द की नाव' के द्वारा गुरु के संसार पार होने का रूपक माना है। इस प्रतीक योजना के मूल में शैवागमों का बहुत प्रभाव रहा है। प्रो० नवलकिशोर गौड़ ने ताडव नृत्य के विषय में एक लेख में कहा है

'अस्या हि चिति प्रसरन्त्या जगदुन्मिषति
निवृत्तप्रसराया निमिषति च।'

—(प्रत्यभिज्ञाहृदय, पृष्ठ–२)

अतः यहाँ चित शक्ति अपने आविर्भाव तिरोभाव रूपी दोनों पक्षों से सृष्टि का उन्मेष, निमेष, सृजन, संहार करने में नित्य निरत रहती है

सा (चिच्छक्ति) एकापि युगपदेव उन्मेषनिमेषमयी।

—(स्पन्दसन्दोह, पृष्ठ–५)

शिवसत्ता निस्तरंग स्थिति में रहती है, किन्तु ज्यों ही चित्शक्ति का आविर्भाव होता है, त्यों ही निस्पंद आनन्दस्वरूप सत्ता अनन्त स्पन्दन से भरकर 'अलक्ष्य चलताभासन चमत्कार' के रूप में सृष्टि का उन्मेष करने लगती है। अतः निजानन्द विश्रान्ति की स्थिति की अगति गत्यात्मकता में परिणत हो जाती है, अथवा अचल संचलन से ओतप्रोत हो जाता है। इसे ही त्रिक् दर्शन में 'स्पंद' की संज्ञा दी गई है। इसी स्पंद अथवा महासंचालन के अभिसरण बिन्दु (point of divergence) पर सृष्टि का उन्मेष और अभिसरण बिन्दु (point of convergence) पर उसका निमेष होता है। और यह उन्मेष निमेष उस सत्ता की लीला है जिसका मूर्त रूप यह नामरूपात्मक दृश्य जगत् है। यह लीला अनादि है, अखंड है, अनंत है,

इसलिए उ मष निमेष का यह क्रम अनादि, अखड और अन त है। शक्ति तरङ्ग के इस नित्य प्रवाह म प्रतिक्षण असख्य ब्रह्माण्डों का निर्माण हो रहा है, प्रति क्षण असख्य ब्रह्माण्ड तिरोहित भी हो रहे ह। शक्ति तरग के इस नित्य प्रवाह में प्रतिक्षण आविर्भाव और तिरोभाव के सघटन का ही मूर्त्त प्रतीक नटराज है।

नटराज के इस मूर्त्त प्रतीक के साथ सूक्ष्म 'अन्तर्निनाद ध्वनि' के स्थूल रूप डमरू का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुत जिस प्रकार स्वय नटराज सूक्ष्म तत्त्व चिन्तन का मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण है उसी प्रकार नटराज का डमरू नाद तत्त्व का मूर्त्त विधान है। जिस प्रकार शिवतत्त्व की कल्पना वैदिक औपनिषदिक श्रुतियों से होती हुई शैवागमों मे विकसित हुई है, उसी प्रकार नादब्रह्म की भावना भी श्रुतियो से होकर शैवागमों में पल्लवित हुई है और अन्ततोगत्वा शिवतत्त्व के साथ सयुक्त हो गई। अत यह नाद या ध्वनि शैवदर्शन का कोई मौलिक उद्भावना नहीं, वरन् पूर्व परम्परा से आते हुए प्रणव, नादब्रह्म अथवा शब्दब्रह्म का शिवतत्त्व पर आरोप है। वैदिक साहित्य के द्रष्टाओं ने वाक् के रूप में भी ब्रह्म की कल्पना की थी और उसी से सृष्टि की उत्पत्ति बतला कर उसके चार निश्चित प्रकारों का भी सकेत देते हुए, ब्रह्म और वाक का तादात्म्य स्थापित किया था ('इयर्ति वाच जनयन् यजध्वै' ऋग्वेद, ४,२१,५, और 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' ऋग्वेद, १,१६४,४५)। उत्तरवर्ती 'योगदर्शन' में इसी वाक्स्वरूप ब्रह्म को प्रणव या वाक् को परमब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित किया था और कहा था कि ब्रह्म ने आत्मरूप वाक् से सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न किया, अत समस्त ज्ञान और समवेदन वाक् के ही आकार हैं और वाक् ही परमब्रह्म है ('स तया वाचा तेनात्मना इद सर्वमसृजत्' बृहदारण्यक, १ २ ४। 'सर्वेषा वेदाना वागेवायतनम्', बृहदारण्यक, २ ४ ११। 'वाग्वै सम्राट् परम ब्रह्म' बृहदारण्यक, ४ १ २)। इतना ही नहीं उपनिषत्काल म ही 'ऋग्वेद' में उल्लिखित वाक के चारों रूपों को स्पष्टत निरूपित करके परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नाम से शब्द ब्रह्म की भिन्न स्थितियों का विस्तृत विवेचन भी प्रस्तुत कर दिया गया था, जिसके आधार पर उत्तर उपनिषत्काल में शब्दब्रह्म को नादब्रह्म की सज्ञा देकर नादबिन्दु, ध्यानबिन्दु आदि उपनिषदों की रचना की गई।

उपनिषदों से होता हुआ यह नाद शैवागमों में आकर शिवतत्व पर पूर्णतः अन्तर्हित हुआ। इस निजानन्द विश्रान्त शिवसत्ता को परा वाक् की संज्ञा दी गई। परा से लेकर वैखरी तक के चारों रूपों को शिव की भिन्न भिन्न शक्तियों का प्रतिरूप बतलाते हुए कहा गया

सेयमेव वैखरी स्थूला क्रियाशक्तिरित्यपि त पूर्वा च मध्यमा वाक्।
इच्छाशक्ति त पूर्वा च पश्यन्ती ज्ञानशक्ति ॥

—(स्पन्द कारिका)

वहाँ पर यह भी बतलाया गया कि जिस प्रकार समस्त अनेकरूपता को परत्व में सन्निहित किये हुए वह आनन्द स्वरूप शिवतत्व अवस्थित रहता है, उसी प्रकार मयूराण्डरसवत् वाणी की समस्त अनेकरूपता को परा वाक धारण किये रहता है। इस रूप में स्थित परावाक् को ही 'नाद' की संज्ञा दी गई है और कहा गया है 'नाम्नोऽकृत्रिमोऽनाहतात्मको नादब्रह्माख्य' ('स्पंद प्रदीपिका', ४२)। उन्मेष दशा में शिवतत्व के साथ इसी परावाक् अथवा नाद की अनाहत ध्वनि, जिसकी व्याख्या स्पंदकारिकावृत्ति में 'स्वयमुच्चरिता ध्वनिविशेष' के रूप में की गई, सुनाई देती है। इसलिए यदि नटराज उन्मेष निमेष दशा के शिवतत्व का मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण है तो नटराज का डमरू अव्यक्त परावाक् अथवा शिव की आनन्द शक्ति का मूर्त्त प्रतीक है। यहाँ इतना संकेत कर देना अप्रासंगिक न होगा कि नटराज का डमरू और नटवर की मुरली वस्तुतः एक ही तत्व के दो प्रतीक हैं।

भारतीय चिन्तन धारा के अनुसार किसी न किसी रूप में उमा महेश्वर अथवा शिवशक्ति से ही सभी भारतीय कलाओं का आविर्भाव माना जाता है। कहा जाता है कि भारतीय व्याकरण शास्त्र के पिता पाणिनि को उनके महाव्याकरण के प्रथम चौदह सूत्र स्वयं महेश्वर से ही प्राप्त हुए थे, और इसलिए उन्हें 'माहेश्वर सूत्र' की संज्ञा दी जाती है। नन्दिकेश्वर ने अपनी 'काशिका' में इस बात का उल्लेख करते हुए कहा है

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकाम सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥

श्मशान श्मन है अर्थात् शव का स्थान (श्मन शब्देन शव प्रोक्त शान तत्स्थानमुच्यत 'निरुक्त') और 'इ' रहित 'शिव' ही अर्थात् सचलनहीन शिव ही (इ = गत्यर्थक) 'शव' हो जाता है। हमारी चेतना जब शरीरनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ हो जाती है तब हमें यह शरीर शवतुल्य जान पड़ता है। इसी शव स्थान शरीर में उस चेतनात्मा रूपी नर्तक आत्मा का नृत्य दिखाइ देने लगता है। उसके सहयोगी है—भूत और प्रेत। भूत का अर्थ है रूप रसग धादि तन्मात्राएँ और क्षितिजलपावकादि महाभूतों में सयुक्त पदार्थसत्ता और प्रेत का अथ है (प्र + इण + क्त) नाम रूपादि विशेषों से मुक्त निर्विशेष चेतना।

इस शैव परम्परा के साथ ही साथ निर्गुणियों में सूफी रहस्यवादियों की प्रेमानुभूति का प्रतीक विधान भी स्पष्ट है। एवलिन अडरहिल ने अपनी पुस्तक 'मिस्टिसिज़्म' में 'रहस्यवाद और प्रतीकवाद' नामक छठे अध्याय में इसका विस्तार से विवेचन किया है। साधारणत तीन प्रकार के सकेत या प्रतीक ममियों में पाये जाते हैं १ दैवी उत्तोलन तथा यात्राभावना, २ परस्पर आकर्षण और प्रणय, ३ दैवी विराटत्व और एकाकार होने के सकेत। पृष्ठ–१२६ पर अडरहिल कहती है, "प्रथम आकांक्षा रहस्यवादी की होती है—तीर्थयात्रा पर चलने वाले यात्रिक की। सर्वसाधारण जगत् से बाहर जाने की इच्छा खोये हुए घर को पाने की इच्छा। उसे वह एल डोरेडो, सारास, हेवन्ली एयोन कहता है। दूसरी इच्छा है—हृदय का हृदय के प्रति खिंचाव, आत्मा को अपना पूर्ण साथी चाहिए। वह परमप्रेयस् है। तीसरी इच्छा है अन्त शुद्धि की और तदाकार बनकर पूर्ण हो जाने की। यही सालोक्य, सामीप्य और सारूप्य की तीन सायुज्यो-मुखी अवस्थाएँ हैं।"

सूफी कवि जामी ने 'यूसुफ जुलेखा' के कथानक के आरम्भ मे कवि की प्रार्थना म कहा है, 'मुझे अपने स्पर्श से इस प्रकार अकित करो जैसे 'ट्यूलिप' पुष्प की धारियाँ।' दूसरे सूफी अत्तार ने प्रणय पथिक की सात घाटियों में से यात्रा वर्णित की है। इन घाटियों के नाम है शोध, प्रेम, ज्ञान, सर्वसगपरित्याग, एकरूपता विस्मय और सर्वार्पण (फना) की घाटी। ईसाई ममियों में भी यह प्रतीक विधान है। यथा 'एक्टस आफ जौन' म 'हिम आफ जीसस' है

आत्मा कहती है	मैं बचना चाहती हूँ।
लोगोस कहता है	मैं बचाऊँगा, आमीन ॥
आत्मा	मैं खुलना चाहती हूँ।
लोगोस	मैं तुम्हें खोल दूँगा, आमीन ॥
आत्मा	मैं चुभोई जाना चाहती हूँ।
लोगोस	मैं तुम्हें चुभो दूँगा, आमीन ॥ इत्यादि।

और

मैं वह दीप हूँ तुम्हारा जो तुम देखते हो।
मैं वह दर्पण हूँ तुम्हारा जो तुम उसमें पढ़ते हो।
मैं वह दरवाजा हूँ तुम्हारा जिसे तुम थपथपाते हो।
मैं वह राह हूँ तुम्हारी जिस पर तुम चलते हो।

और सन्त बरनार्ड के 'सांग आफ सांग्ज' में 'दैवी शब्द' दूल्हा है और आत्मा दुल्हिन। दुल्हिन कहती है 'लैट 'हिम' किस मी विथ दि किसेज आफ 'हिज' माउथ।' सन्त विक्टर के रिचार्ड का लैतीनी ग्रन्थ है 'डि क्वाटुआर, ग्रवीड्स वायलेन्टा चेरिटटिस' जिसमें ईश्वर मिलन की चार अवस्थाएँ हैं—१ सगाई (सत्गुरु ऊँचा प्रेम सगाई), २ विवाह (हमारे रजाराम भरतार, दुलहिनि गावहु मंगलाचार), ३ सुहागरात (सुन्नमहल में सेज पिया की या 'सुरति'), और ४ आत्मा की एकनिष्ठता (ज्यों जारी त्यों जार)। कबीर का समानार्थी पद शब्द सं ११७ है

'हरि मोर पीव माई, हरि मोर पीव।
हरि बिन रहि न सकै मोर जीव ॥
हरि मोर पीव मैं राम की बहुरिया।
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया ॥

और 'कहहि कबीर सब नारि राम की, अविचल पुरुष भरतार।'

और

जी पै पतिवरता है नारी।
कैसे ही रहौ सो पियहि पियारी ॥
तनमन जोबन सौंपि सरीरा।
ताहि सुहागिन कहै कबीरा ॥

यही है एक कथा निर्गुन दूसरी नहीं जानते।
जगजिवन प्रानहि सोधिकै छुट जात आवागमन ते॥
—(जगजीवन साहब)

जोगी विकट पथ रे जोगी, ताते छोड़ सकल रस भोगी।
परथम सिद्धि गनेस मनाओ मूल कमल की मुद्रा।
किलियम जाप जपौ हरि हीरा, मिटै करम सब छुद्रा॥
करम बाय पर सस बाय है, तासु होत उदगारम्।
दोकू जीत ननम जुग जोगी अगत खेल अपारम्॥
नाभि कमल म नाद समोओ नागिन निद्रा मारौ।
दो फुकार सरिनी जीतौ उरध नाम विचारौ॥
हिरदै कमल सुरत का सजम निरत कला निरस्वासा।
सोह सिंध सँध पद कीज ऐसे चढ़ो अकासा॥
कठ कमल से हरहर बोलैं पोडस कला उगानी।
यह तो मब मारग सतगुरू का पथ बूझ ब्रह्मज्ञानी॥
त्रिकूटी मडे सूरत दरस दो दल दरपन माही।
कोट जतन कर देखा भाइ बाहर भीतर नाही॥
वह तो सिव दोउ से न्यारा कहो कहाँ ठहराएँ।
सुन्न वेसुन्न मिल तहा भौंरा, कहाँ रहत घर पाए॥
अनहद नाद बजाओ जोगी, बिना चरन चल नगरी।
काया कासी छाडि चलोगे जाय बसो मन मघरी॥
धरती धृत अकार न पाऊँ मेरुन्ड पर मेला।
गगन मडल में आसन करह तो सतगुरु का चेला॥
तिल परमान ब्रह्म दरवाजा, तिस घाटी ले जाऊँ।
चींटी के पग हस्ती बाधू अधर धार ठहराऊँ॥
दखिन देस म दीपक जोड़ू, उत्तर धरूँ धियाना।
पछिम देस म देवल हमरा, पूरब पथ पयाना॥
पिंड ब्रह्मांड दोऊ से न्यारा अगम ग्यान गोहराऊँ।
दास गरीब अगम गति आव सिधें सिंध मिलाऊँ॥
—(गरीबदास)

बागासी सरु भजिया नीर, ता मह कवल जहुत निस्थीर।
भारा लोभया ताकी गध, नानक बोलें निपमी सघ॥
बारह सोलह सम करि गहै, आमणु सहजि निराल्गु बहे।
चेतकी डोरी गुडि लावे, नानक कह जोग इड पावै॥
मेरुदड सुधा करि राखै, गुरू प्रसान्द अम्रितु रस चाखै।
दोने शराह हकठी धरै, नानक बोलै जीवत मरे॥
उलटे पौण उलटै काया, शविद अनाहद शब्द बजाया।
धुनि अन्तर मनु राखै थीरु, नानक बोलै अउलि फकीरू॥

—(नानक साहब)

गगन के बीच में ऐन मैदान है, ऐन मैदान के बीच गल्ली।
सहस दल कवल में भवर गुजार है, कवल क बीच म सेत कल्ली॥
इडा औ पिंगला सुखमना घाट है, सुखमना घाट में लगी नल्ली।
सुन्न सागर भरा सत्त के नाम से, तेहि क बीच में सुरति हल्ली॥
अछै एक वृच्छ है तेहिके डारि में, पडा हिंडोलना प्रेम झुल्ली।
अमीरस चुवे सोह पियत एक नागिनी, नागिनी मारिकै बुदरल्ली॥
चक के नालपर तहाँ एक ऊँच है, तेहुँ क सीस चढि जाती बल्ली।
जोति के बीच में तहाँ एक राह हे, राह के बीच में नाद चल्ली॥
नाद के बीच में तहाँ एक रूप हे, रूप को देखिके रह तसल्ली।
दास पलटू कहै होयु आरुण जब, सन्त को सहज समाधि भल्ली॥

—(पलटू साहब)

सन्त काव्यमर्मज्ञ श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'कल्याण' के साधना अङ्क में 'कबीरदास की भावभगति का रहस्य' नाम से एक लेख लिखा था, जिसका एक महत्त्वपूर्ण अश यहाँ उद्धृत करके यह चर्चा समाप्त करता हूँ

'कबीर साहब ने उक्त भावनामक वस्तु को 'पट्चक्र की कनक कोठडी' म निहित बतलाया है और कहा है कि इसे पाने के लिए उसमे पड़े ताले को 'जुगति' की कुञ्जी से क्रमश खोलना चाहिए। उलटे पवनद्वारा पट्चक्र वेधन होने पर, 'ससहर' व 'सूर' अथवा इडा और पिगला नामक दो प्रसिद्ध नाडियों की पहुँच के भी दूर हमें अपने मेरुदण्ड का वह सिरा मिलता है, जहाँ मन

के 'सुन्नि' में प्रवेश कर स्थिर होते ही, बिना किसी पुष्प के अस्तित्व के भी, सारा आकाश पुष्पित हो उठता है और 'परमज्योति' के प्रकाश में अनन्त तारों और बिजली के चक्र का सा अनुभव होने लगता है। तभी हमें 'अनहद' का शब्द भी सुन पड़ता है और 'सतगुरू' की कृपाद्वारा, इस प्रकार 'सम्पुट' के खुल जाते ही, 'सुरति' सुख में समा जाती है तथा 'आपा' आपमें लीन हो जाता है। इसी क्रिया को 'हद' को छोड़कर 'बेहद' में जाना, 'घट' में ही 'औघट' का प्राप्त करना वा 'सुन्नि' में अपना स्नान करना भी उन्होंने बतलाया है। वे कहते हैं कि उस समय हमारा मन 'उन्मन' अथवा उपर्युक्त निर्मल मन से लग जाता है और दोनों नमक और पानी की भाँति घुल मिलकर, एक हो जाते हैं। जिस प्रकार पानी से बर्फ बना करती है और बर्फ से फिर पानी में परिवर्तित होते ही ज्यों का त्यों रह जाती है, उसी प्रकार ये दोनों भी उस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जो स्वयं अनुभवी के भी वर्णन के बाहर की बात है। अतएव 'गगनमण्डल' में विलीन होकर वह बहुत कुछ सोचविचार करने पर भी केवल इतना ही निश्चय कर पाता है कि वास्तव में मैंने कुछ भी नहीं किया, कहीं गया वा कहीं से आया भी नहीं, सदा जहाँ का तहाँ अपनी जगह पर ही बना हुआ हूँ। भाव का इस प्रकार अनुभव कराने वाली 'जुगति' ही भावभगति की भी युक्ति है।'

कहने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त प्रकाश को ही कबीर साहब ने 'अनन्त' वा 'पारब्रह्म' का तेज कहा है और उसे असंख्य सूर्यों के समान प्रखर बतलाते हुए भी, स्निग्ध चन्द्रिका की भाँति शीतल भी माना है। उस निराकार दृश्य का वर्णन किया क्या जाए, उसे देखते ही बनता है, वह कहने की वस्तु नहीं। वहाँ पहुँचने पर साधक को किसी प्रकार की चिन्ता या कल्पना तक नहीं सताती और उसका मन एक प्रकार से 'बिन मन सा' वा अमनस्क हो जाता है। पूरे का परिचय हो जाने से 'दृष्टि' ही पूरी हो जाती है। 'आतमराम' 'प्रेमभगति' के 'हिंडोलन' पर निरन्तर झूलता है और अमृतरस का पान करता हुआ शाश्वत आनन्द का अनुभव करने लगता है। इस 'करणी' द्वारा कर्म का नाश होकर पाप एवं पुण्य इन दोनों का भ्रम भी नष्ट हो जाता है। ममता और अभिमान 'ब्रह्माग्नि' में जल कर भस्म हो जाते हैं, मोह का ताप लुप्त हो जाता है और वासना घुलकर अंकुरबीज के साथ

निता-त निर्मूल हो जाती है। अब हमारा मन भीतर ही भीतर 'मान जाना' है। 'घट की जोति' से ही सारा जगत् प्रकाशमय दीखता है और हम, गुफा में बैठकर भी, सब कुछ देखने सुनने लगते हैं। हृदय में, उस समय, एक अनुपम शान्ति आ विराजती है, मन का भ्रम मन से ही दूर हो जाता है और 'सहजरूप हरि' की लीला प्रत्यक्ष हो जाती है। अब किसी प्रकार के 'मैं तें' वा 'तें मैं' का चिह्न तक नहीं रहता और सब कहीं आप ही आपका अनुभव होने लगता है। यही अवस्था 'अखण्डित राम' के 'आतमलीन' हो जाने की है, जिसे कबीर साहब ने दूसरे शब्दों में 'सहजसमाधि' का भी नाम दिया है।



अध्याय ६

उलटबांसियाँ और लोकोत्तर अभिव्यंजना की प्रवृत्ति

श्री श्यामसुन्दरदासजी ने 'कबीरग्रन्थावली' की भूमिका में पृष्ठ ६२ पर लिखा है कि 'कबीर की चमत्कारपूर्ण उलटबांसियाँ भी रहस्यपूर्ण हैं। कठोपनिषद् के अनुसार मनुष्य का शरीर रथ है, जिसमें इन्द्रियों के घोड़े जुते हैं, घोड़ों पर मन की लगाम लगी हुई है जो सारथीरूपी बुद्धि के हाथ में है। 'परमपद' का पथिक आत्मा रथ पर सवार है, उसकी इच्छा के अनुसार उसका परिचालन होना चाहिए। शरीर सेवक है, आत्मा स्वामी है। यह स्वाभाविक क्रम है। परन्तु जब स्वामी सो जाए, सारथी किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाए, तब यह क्रम उलट जाता है, स्वामी का स्थान सेवक ले लेता है। रथ के अधीन होकर स्वामी भटकता फिरता है। और प्रायः ऐसा होता है कि घोड़ों के मनमाने आचरण से रथ और स्वामी दोनों को अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं। भवजाल में पड़े हुए मनुष्यों की इसी उलटी अवस्था को विशेषकर कबीर ने अपनी उलटबांसियों द्वारा वर्णित कर लोगों को आश्चर्य में डाला है

१ ऐसा अद्भुत मेरा गुरु कथ्या, मैं रह्या उभेषे।
मूसा हस्ती सौं लड़ै, कोई विरला पेखै॥
मूसा बैठा बांबि मैं, लारै सापणि धाई।
उलटि मूसै सापिण गिली, यहु अचरज भाई॥
चींटी परवत ऊषण्या, ले राख्यौ चौडे।
मुर्गा मिनकी सूं लड़ै, झल पाणीं दौडै॥
सुरही चूंपै बछतलि, बछा दूध उतारै।
ऐसा नवल गुणी भया, सारदूलहि मारै॥
भील लुक्या बन बीझ मैं, ससा सर मारै।
कहै कबीर ताहि गुर करौं, जो यह पदहि बिचारै॥

सब का कारण परब्रह्म किसी का कार्य नहीं है, इस बात का आभास देनेवाला यह सांकेतिक पद कितना रहस्यपूर्ण है

बाझ का पूत, बाप बिना जाया, बिन पाउ तरवर चढ़िया।
अस बिन पाकर गज बिन गुड़िया, बिन अण्डे सग्राम लड़िया ॥
बीज बिन अकुर, पेड़ बिन तरवर, बिन साषा तरवर फलिया।
रूप बिन नारी, पुहुप बिन परिमल, बिन नीरे सर भरिया ॥

डा० गोवि द त्रिगुणायत ने अपने ग्र थ 'कबीर की विचारधारा' में इन विपरीत उक्तियों का मूल वेद और उपनिषदों म खोजा है। ऋग्वेद (१।१।७।१५ सूक्त ९५) में वन की अग्नि का वर्णन है 'पुत्र होकर भी अग्नि अपना माताओं को हव्य द्वारा ज म देते हैं। 'ईशावास्योपनिषद् क चतुर्थ श्लोक में और कठोपनिषद् (१।२।१०) में विभावनात्मक वर्णन है। तैत्तिरीयोपनिषद् (३।९) म कहा है कि पृथ्वी आकाश में है और आकाश पृथ्वी में। यह उलटी कहनी बाद म त न्त्रों में मिलती है, विशेषत वज्रयानी सिद्धों में। तान्तिपा सिद्धों की उक्ति 'बदल बिआएल गविया बाझे, पिता दुहिए एतिना साझे।' की ध्वनि कबीर म ज्यों की त्यों मिलती है 'बैल बियाय गाय भई बाझ'। दासगुप्ता ने 'आब्स्क्योर रिलीजस कल्ट्स' में पृष्ठ ४७७ पर इस भाषा को 'सन्धा भाषा' कहा है। डा० रामकुमार वर्मा इसे बगाल और बिहार के सधिस्थल की, अपभ्रंश और हि दी के बीच की सन्धिभाषा मानते हैं। (आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ९ ९२) और डा० हजारीप्रसादजी अपने 'नाथ सम्प्रदाय' में गुह्य भाषा के अर्थ में सन्धा भाषा मानते है। कबीर की उलटबाँसियाँ तीन प्रकार की मानी गयी हैं —

१ अलकारप्रधान, २. अद्भुतप्रधान और ३ प्रतीकप्रधान।

—(गोवि द त्रिगुणायत, पृष्ठ ४९७)

अलकारों म विरोध विरोधाभास, असम्भव, विभावना, असगति, विषम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, व्याघात, इस प्रकार की विपर्यय शैली क निकट आते है। जैसे—'आगमि बेली अकास फल अण व्यावण का दूध।' (क० ग्रन्थ-८९) जैसे असगति या 'ढाढा सिंह चरावै गाई' (क० ग्र०—९१)

जैसा विरोध और विशेषोक्ति का मकर। ऊपर श्यामसुन्दरदासजी के दिए हुए पद को त्रिगुणात जी ने अद्भुतरसप्रधान कहा है। प्रतीकात्मक उलटवाँसियों में कुछ रूपकप्रधान हैं, जैसे

> हरि के षारे बड़े पकाए, जिनि जारे तिनि खाए।
> ज्ञान अचेत फिरै नर लोई, ताथे जनमि जनमि डहकाए॥
> धौल मंद लिया बैलर बाबी, कउवा ताल बजावै।
> पहरि चोलना गदहा नाचै, भैंसा निरति करावै॥
> स्यंघ बैठा पान कतरै, घूंस गिलौरा लावै।
> उदरी बपुरी मंगल गावै, कछू एक आनन्द सुनावै॥
> कहै कबीर सुनहु रे संतहु, गडरी परवत खावा।
> चकवा बैसि अंगारे निगलै, समंद अकासे धावा॥
>
> —(कबीरग्रन्थावली, पृष्ठ-९२)

ऊपर तान्तिया सिद्ध की उक्ति की जो प्रतिच्छाया कबीर में बतायी गयी है, उसे त्रिगुणायत प्रतीकप्रधान कहते हैं।

वस्तुतः उनकी बतायी 'काहे री नलिनी तू कुम्हलानी' आदि अन्योक्तियाँ उलटवाँसियों में नहीं आतीं। आगे चलकर उनके ग्रन्थ में जो चमत्कार की विवेचना है, वह भी कबीर पर नहीं लागू होती, क्योंकि न तो वे रस अलंकार के पण्डित थे, न चमत्कार की अभिव्यंजना उनका प्रधान उद्देश्य रहा। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'सन्तकाव्य की भूमिका' (पृष्ठ ९७) में कहा है कि 'गोरखबानी' में पद २०, ३४, ४७, ५१, ७६ आदि और 'कबीर ग्रन्थावली' (ना० प्र० स०) में पद ९, ११, १२, १३, ८०, १४५, १६० ६२, १७६ ७७, २१२, २२६, ३४९ आदि में इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। गोरख ने इसे 'उलटा चरचा' कहा है। कबीर ने उसे उलटा वेद माना है। सुन्दरदास, दादू, रज्जब, शिवनारायण, तुलसी साहब, पलटू, शिवदयाल आदि सन्तों ने उलटवाँसियाँ लिखी हैं। गोरखबानी, चर्यापद और कबीरग्रन्थावली में बहुत से स्थलसाम्य हैं, यथा

१ जीवत जिनि मारै मूवा मति ल्यावै,
मास बिहूँणा घरि मत आवै हो कंता॥ टेक॥

उरबिन पुर बिन चच बिन, बपु बिहूना सोई।
सो स्यावज जिनि मारै कता, जाकै रगत मास न होई॥

पली पारके पारधी, ताकी धुनही पिनच नहीं रे।
ता बेली कौ ढूंक्या मृगलो, ता मृग के सीस नहीं रे॥

माया मृग जीवता राख्या, यहु गुर ग्यान मही रे।
कह कबीर स्वामी तुम्हारे मिलन कौं, बेली है पर पात नहीं रे॥२१२॥

—(कबीरग्र थावली, पृष्ठ १६०)

अर्थात् हे कत (जीव) यदि मृग (मन) ज्ञानसम्पन्न होने क कारण, जीवितावस्था में हो तो उसे मत मारो (बाधित करो) और यदि वह (माया से प्रभावित होने के कारण) मृतकावस्था में हो तो उसे मत लाओ (लाभ उठाने की आशा रखो)। किन्तु फिर भी तुम बिना मास (बुद्धिज य दृढ़भाव) लिये घर वापस भी न आओ। उस मृग (मन) की न तो छाती है, न पैर है और न मुख ही है वह (शून्यरूप हो े के कारण) बिना शरीर का है। उस सावज को मारकर ही क्या होगा जिसमें रक्त और मास का अभाव हो। उस मृग (मन) को मारने वाले पारधी वा शिकारी (प्राणशक्ति) क पास किसी धनुष्य वा प्रत्यचा के रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती और वह परली कोटि की निपुणता वाला हुआ करता है। उसके द्वारा मारा गया मृग (मन) लताओं में प्रवेश कर जाता है। सुविस्तृत आत्मवेलि की ओर अतर्मुख हो जाता है। उसे किसी प्रकार का शीश (आकार) नही रहता और वह मारे जाने पर भी सुरक्षित रहा करता है। यह गुरूपदेश द्वारा उपलब्ध ज्ञान के क्षेत्र का विषय है। कबीर का कहना है कि हे परमात्मा ! जिस तुम्हारी बेलि (आत्मवेलि) के भीतर उस मृगरूपी मन को प्रविष्ट होना है उसमें (प्रकृति के) पत्ते नहीं हैं।

यहाँ पर यह बात भी उल्लेखनीय है कि इस उलटबाँसी वाले ही मृग, पारधी जैसे कुछ प्रतीकों के प्रयोग गुरु गोरखनाथ ने भी अपने एक पद में किये हैं जो कई दृष्टियों से इसका आधार सा प्रतीत होता है। उसकी कुछ पक्तियाँ इस प्रकार हैं

आई सौ भील पारधी हाथ नहीं,
पाइ पगुलो मुष दाँत न काहीं।
ह्यौं ह्यां मृगलौ गुणहीन नहा,
घण्टा सुरतिहा नाद नाहा ॥ २ ॥
भीलडै तिहा ताणियौ बाण,
मनहां मृघलौ बधियौ प्रमाण।
ह्यौं ह्यां मृगलो बेधियौ बाण,
घणुही घाण न आ मरताण ॥ ३ ॥
भीलडा मातगा राणा मृघलौ आणा मारी।
चरण बिहूण मृघलौ आण्यां मास।
सीस सींग मुष जाइ न जाण्यो ॥ ४ ॥
—(गोरखबानी, पृष्ठ ११९, पद २६)

सिद्धाचार्य भुसुकुपा ने भी अपने एक चर्यापद में मन को 'हरिण' बताया है। और 'तरमन्त हरिणार खुर न दीसई' बताया है।
(चर्या पद ६) समदर लागा आगि, नदियाँ जलि कोइला भई।
दखि कबीरा जागि, मछी रूषा चढि गइ ॥
अर्थात समुद्र में आग लग गई (शरीर के भीतर ज्ञान विरह की आग प्रज्वलित हो उठी) और नदियाँ जलकर भस्म हो गईं (सभी सासारिक सबध नष्ट हो गए।)

अरे कबीर अब जागृत होकर देख ले, मछली वृक्ष पर चढ गई है। (मन अब ऊँची दशा को प्राप्त कर चुका है)। गुरु गोरखनाथ के एक पद की भी दो पक्तियाँ कबीर साहब की इस साखी से बहुत कुछ मिलती जुलती है जैसे —
'डूगरि मछा जलि सुसा पाणी में दौं लागा।
अरहट वहै तृसालवाँ, सूलैं काँटा भागा ॥ ३ ॥
(गोरखबानी पृ० ११२, पद २०)

३ कुजर कौं कीरी गिलि बैठो, सिघहि पाइ अघानौ स्याल।
मछरी अग्नि माहि सुख पायो, जल मे हुती बहुत बेहाल ॥
पगु चढ्यौ पर्वत के ऊपर, मृतकहि दाषि डरानो काल।
जाको अनुभव होइ सुजानै, सु दर ऐसा उलटा ख्याल ॥ ३ ॥

अर्थात् समस्त हाथी को एक कीड़ी ने निगल लिया (काम को बुद्धि ने जीत लिया), सिंह को खाकर श्रृगाल पुष्ट हो गया (जीव ने संशय पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली), मछली को आग में ही सुख मिलने लगा (मनसा ब्रह्माग्नि में आनन्दमग्न हो गई), वह जल में दुखी रहती थी (काया म उसे सदा बेचैनी रहा करती थी), पगु पुरुष पर्वत पर चढ़ गया (शात मन चिदाकाश में पहुँच निश्चल हो गया) और मृतक को देखकर काल भयभीत हो गया (जीव मुक्त के समक्ष काल का प्रभाव जाता रहा) इन बातों को वही जानता है जिसे स्वानुभूति मिल चुकी है। दूसरों के लिए तो यह उलटा विचार ही कहा जायगा।

कमल माहिं पाणी भयौ, पाणी माहें भान।
भान माहि ससि मिलि गयौ, सुन्दर उलटौ ज्ञान ॥ ९ ॥'

अर्थात् कमलरूपी हृदय में पानीरूपी प्रेम का आविर्भाव हुआ और वह सूर्यरूपी आत्मज्ञान का आधार बन गया। फिर उसी सूर्यरूपी ज्ञान मे चन्द्ररूपी ब्रह्मानन्द की भी शीतलता मिल गई जिस कारण अक्षय सुख मिलने लगा और यह उलटा ज्ञान कहलाया।

सुदूर आन्ध्र देश में वहाँ के कबीर माने जानेवाले वेमना कवि के 'कूट वेदान्त पद्धति' पद भी बहुत कुछ इसी प्रकार के थे :

अवनिलोनोक कप्प येंदुपामुल बट्टि
निडिवड ब्रिंगिन विघमदेमि।
कलियुगबुन नक्क गर्भवासबुन
गामधेनुव पुट्टु कथदेमि।
योनर नोक्कटि रेडु घन कपुल चेलरेगि
यॉटि पिल्लल नीनु नोजयेमि।
अविकार वृक्षबुनरटि फलबुलु
पुट्टिन यट्टि या पोलुपदेमि।
गी अरयनेचिंन सर्वज्ञुलैनारु
चेप्पनेचिनवारोंडु चेप्पनेल।
शिवुनि गातुरु भुविलो ब्रसिद्धमुगनु
नीकु देलियनिदेमुड्डु निजमुवेम ॥ विश्व० ॥ ३६१ ॥

'इस पृथ्वी में एक मेंढक पाँच साँपों को पकड़कर निगल गया है। दो वानरों ने लड़कर ऊँट के दो बच्चों को ब्याह लिया है। कलियुग में सियार के गर्भ से कामधेनु का जन्म हुआ है। एक अविकारी वृक्ष में केले के मधुर फल लगे हैं। इन पहेलियों का मर्म समझने वाले और औरों को समझाने वाले महानुभाव कहीं मिल जायँ तो वे शिवजी के दर्शन अनायास ही कर सकेंगे। हे वेमना, ये विषय तो तेरे लिये अपरिचित नहीं हैं।'

नीरु कारमाये कारमुनीराय
कारमैन नीरे कारमाये।
कारमदु नीरु कडु रम्यम युडु ॥ विश्व० ॥ २६। ॥

'पानी नमक बन गया और नमक पानी बना। नमकीन पानी ही नमक है। नमक में पानी बड़ी रमणीयता के साथ निवास करता रहता है। (कोई इसका भाव समझे)।'

चरणमुल यदि तोकलु
परगगन्मूडुतललु नयलुनु तिरुगुन।
वर भूमि तल्लडिल्लग
निरवोंदग दीनि दलियु मिल्ल्लो यमा ॥ विश्व० ॥ ३६२ ॥

'एक विचित्र प्राणी अपने संचार से पृथ्वी को कँपा देता है। उसके तीन सिर, दस पैर और दस पूँछ होती हैं। इसका रहस्य समझना परम आवश्यक है।'

महिलोन नोकड़ मरिकेकलिड्डुचुनु
मचवु त्रिगिन महिक यमि।
मानुप वतुड महिमीद वोलुड
म्रानुनमल्लिनाट्टि मरपदेमि।
तोडरि दोमलु गिरि नाडिसि पट्टुक
तामु परम गतिचित् तल्मदमि।
पचवन्नेलचिल्कलु परम नेडुनु कडि
पर्वतमु दिच्च वल्मदेमि।
गी गोरै दोड्डिनि वडि चेट्टु निदुम जूड
विरुल पूचिन यट्टि या विधमदेमि।

अरय नैच्चिन जेप्पुडु अखिल जनुलु
विवरमुग अलिकिनदूलैन पिनर वेम ॥ विश्व० ॥ ३६३ ॥ ७

'पृथ्वी में एक मक्खी जोर से गरज कर एक चारपाई ही निगल बैठी। आत्माभिमानी एक बालक ने एक बहुत बडे वृक्ष को एकदम चबा डाला। कई मच्छरों ने मिलकर एक बडे पर्वत को धर दबाया और खुद ही नष्ट हो गये। उनकी शक्ति का रहस्य कोई समझे। वह कैसा अपूर्व बल है, जिससे पाँच पचरंगी तोते मिलकर एक पर्वत ही को खा बैठे। एक भेड ने पीछे से घुसकर एक बड़े पेड को कुचलने का प्रयत्न किया तो उस पेड़ में फूल लगे। इन बातों का मर्म कोई समझनेवाला हो तो बतावे।'

इस प्रकार की विचित्र ऊहा, प्रतीकप्रधान चामत्कारिक भाषापद्धति का एक कारण यह भी था कि 'जहाँ चमत्कार नहीं, वहाँ नमस्कार नहीं' इस मराठा लोकोक्ति के अनुसार उस समय की जनता में अंधविश्वास अधिक था और सीधी सादी बात को वे मानने को तयार नहीं थे। सुन्दरदास ने इसीलिए ३२ सवैयों में 'विपर्यय शब्द का अङ्ग' लिखा। उसमें के तीन छन्द उदाहरण के तौर पर दिये जाते हैं। (सुन्दरसार, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९२८, पृ० २०९ और २१३)। इन पर 'सवइया छन्द' न जाने क्यों लिखा है।

अंधा तीनि लोक को देखै, बहिरा सुनै बहुत विधि नाद।
नकटा बास कवल की लेवै गूगा करै बहुत सवाद॥
टूटा पकरि उठावै पर्वत पगुल करै नृत्य अहलाद।
जो कोउ याकौ अर्थ विचारै सुन्दर सोई पावै स्वाद॥ १॥
कुंजर कौं कीरी गिलि बैठी सिंघई खाइ अघानौ स्याल।
मछरी अग्निमाहिं सुख पाया जल में हुती बहुत बेहाल॥
पगु चढ्यौ पर्वत के ऊपर मृतकहि देपि डरानौ काल।
जाकौ अनुभव होइ सु जानै सुन्दर ऐसा उलटा ख्याल॥ २॥
बूँदहि माहिं समुद्र समानौ राई माहि समानौ मेर।
पानी माहि तुंबिका डूबी पाहन तिरत न लागी बेर॥
तीनि लोक मे भया तमासा, सूरज किये सकल अन्धेर।
मूरष होइ सु अर्थहि पावै सुंदर कहै शब्द में फेर॥ ३॥



अध्याय ७

हिन्दी निर्गुण कवियों का रहस्यवाद और उसका प्रभाव

डा० रामरतन भटनागर की पुस्तक 'हिन्दी कविता की पृष्ठभूमि' (इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९५१) में पृ० १०६ से ११३ तक हिन्दी की निर्गुण स त कविता क विषय में निम्न स्थापनाएँ मिलती हैं

१ 'निर्गुण पन्थ (सन्तमत) में भिन्न भिन्न धार्मिक सम्प्रदायों, धर्मग्रन्थों और रहस्यवादी संस्थाओं की बातें मिलती हैं। उसमें बुद्धमत क शून्य और निरवान का भी स्थान है, वैष्णवमत की भक्ति भी है, वेदान्त का अद्वैत है और गोरखनाथ का तन्त्रवाद भी है। सन्तों की वाणियों में जो योगसम्बन्धी विचार लिये गये हैं वे पतञ्जलि और कपिल के योगसूत्रों से नहीं, वरन प्रचलित नाथसम्प्रदाय से लिये गये हैं जिसमें इन प्राचीन योग प्रणालियों का बौद्ध तन्त्रवाद से अद्भुत मिश्रण हो गया था। इसीलिए निर्गुण स तों को समझने क लिए योग के बिगड़े रूप (नाथ सम्प्रदाय की क्रियाओं) का समझना आवश्यक है।'

२ 'स तों क दृष्टिकोण में प्राचीन भक्तों, धर्मों और सम्प्रदायों का स्तर परिस्थितिवश अनायास हो गया। इसक लिए सन्तों न विशेष परिश्रम नहीं किया। सन्तों ने मध्यमार्ग का प्रचार किया। यह मध्यमार्ग की परम्परा गीता, बौद्धमत, महायान, योगाचार और नाथ सम्प्रदाय से होकर निर्गुण पन्थ तक आई। भारतीय मस्तिष्क की यह विवशता है कि वह विद्रोह और आमूल परिवर्तन में विश्वास नहीं करता। उसमें मध्यमार्ग से सन्तुष्ट हो जाने की प्रवृत्ति है। सन्तों न ऐसा ही मार्ग जनता को दिया।'

३ 'निर्गुणपन्थ सन्तों क सामने एक विशेष सम्प्रदाय के रूप में खड़ा नहीं हुआ। कबीर स्वयं पन्थों और सम्प्रदायों क विरोधी थे। स्वयं हिन्दू और मुसलमान धर्मों में विविध सम्प्रदाय थे जो एक दूसरे का विरोध करते थे। उन्होंने नया प थ चलाने का प्रयत्न नहीं किया। उनका मत था कि

'विधना के मारग है तेते। सरग नरक तन गोवा जंते'॥ (जायसी)
कबीर प्रचलित मतों में सुधार चाहते थे, नया धर्म चलाना उन्हें वाञ्छनीय नहीं था। और निर्गुण की भावना के साथ पंथ की भावना चलती भी नहीं। यह तो सारग्रहण है पन्थ नहीं।'

४ 'मध्ययुग की तीन धाराओं (गोरख का नाथपन्थ, निर्गुण सगुण भक्त सम्प्रदाय, सूफीमत) का इतना जल निर्गुण धारा में मिल गया है कि लोग उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व पर ही शंका करने लगे हैं।' इसी विचार को समझाते हुए डा० भटनागर ने हिन्दी निर्गुणियों पर यह भी आरोप लगाया है कि वे मुस्लिम धर्म की कई बातों को हिन्दुत्व में लाये 'उन्होंने मूर्तिपूजा का विरोध किया। इस्लामी मूर्तिखण्डन को श्रेय समझते थे। निर्गुणियों ने मूर्तियों की असफलता चिल्ला चिल्ला कर कही। जब वे 'आप 'बुतशिकन' थे तो मुसलमान उनका विरोध कैसे करते।' गोरखनाथ के एक शिष्य के 'काफिर बोध' और 'अवलि सलूक' का उल्लेख करके डा० भटनागर कहते हैं 'कालांतर में सन्तमत शुद्ध नहीं रह सका। गरीबदास जैसे साधक सूफी साधना में डूब गये

मतवालों के महल की सूफा बया पावे।
अरस खरदनी खीर है सतगुरु बतलावै॥
सुन्नदरी एक हाट है जहँ अमृत चुवता।
ज्ञानी घाट न पावही खाली सब करिता॥' इत्यादि।

अब इन चारों स्थापनाओं में हिन्दी निर्गुण कवियों पर जो आक्षेप डा० भटनागर ने किये हैं वे विवाद्य हैं। नाथसम्प्रदाय योग का बिगड़ा हुआ रूप नहीं है और निर्गुण संत कवियों में कपिलादि के मूल योग सम्बन्धी विचारों की ध्वनि भी पाई जाती है। यह हम पहले दार्शनिक मत विश्वास अध्ययन में बता चुके हैं। नाथ सम्प्रदाय के विषय में डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने जो विस्तृत ग्रंथ लिखा है उसमें इसी बात की विवेचना पाई जाती है। सन्त केवल सार संग्राहक नहीं थे, वे उससे कुछ अधिक अपनी स्वयं की सत्ता रखते थे यह डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने अपने 'निर्गुण पन्थ के स्वरूप' नामक चतुर्थ अध्याय में सिद्ध किया है। कबीर की उक्तियाँ

सार समग्रह सूप ज्यूं त्यागे फटकि असार। (ग्रन्थावली पृ० ५४

सा रू एसा चाहिए जसा सूप सुभाय। (ग्रन्थावली, पृ० ९, ७८) या दादू के शब्दों में साधु उस पक्षी की तरह से होता है जो सीग पूँछ छोड़कर साधे 'असतत' की ओर दौड़ता है। यह नित्यानित्य वस्तुविवेक जो सन्तों में पाया जाता है, इसका अर्थ यह नहीं है कि अकबर की दीनेइलाही की तरह या गांधीजी के सर्वधर्म समभाव की तरह बुद्धिपुरस्सर इन सन्तों ने भिन्न भिन्न दार्शनिक मतवादों से अपने मतलब की चीजों को चुना।

इसी प्रकार से निर्गुण पन्थ को स्वतन्त्र पन्थ जो लोग नहीं मानते उनकी सेवा में श्री परशुराम चतुर्वेदी के 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' ग्रंथ से कुछ वाक्य प्रस्तुत करना चाहता हूँ

१ डा० बड़थ्वाल ने इन सन्तों को 'निर्गुणपंथी' या 'निरगुनिया' कहना अधिक उचित माना है और तदनुसार उन्होंने इनके मार्ग को भी 'निर्गुण स्कूल' वा निर्गुणपंथ नाम से अभिहित किया है। किन्तु निर्गुण पंथ शब्द से व्यक्त होता है कि इसके अनुयायी परमतत्व को केवल निर्गुण ही मानते थे, जो इस प्रसंग में वास्तविकता के विरुद्ध जाता है। कबीर साहब आदि सन्तों ने निर्गुण एवं सगुण से पर किसी अनिर्वचनीय व अज्ञेय किन्तु अज्ञात अनुभवगम्य वस्तु को परमतत्व माना है और निर्गुण व सगुण का वहाँ पर कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। जान पड़ता है निर्गुण पन्थ शब्द का प्रयोग पहले सगुणोपासक भक्तों के सम्प्रदायों से इसकी विभिन्नता दिखलाने के लिए होने लगा था। किन्तु पीछे सन्त परम्परा के कुछ दिन चल निकलने पर 'सन्तमत' शब्द का ही प्रयोग, सम्भवतः विक्रम संवत् की १७ वीं शताब्दी के किसी चरण में, विशेष रूप में होने लगा। (पृ० ७ और ८ पाद टिप्पणी)

२ डा० बड़थ्वाल ने सन्तों के आत्मा, परमात्मा एवं जगत सम्बन्धी सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'हम उनमें कम से कम तीन प्रकार की दार्शनिक विचार धाराओं के स्पष्ट दर्शन होते हैं। वेदान्त के पुराने मतों के नाम से यदि उनका निर्देश करें तो उन्हें अद्वैत, विशिष्ट भेदाभेद और विशिष्टाद्वैत कह सकते हैं। पहली विचार धारा के मानने वालों में कबीर प्रधान हैं। दादू, सुन्दरदास, जगजीवन दास, भीखा और मलूक उनका

अनुगमन करते है। नानक और उनके अनुयायी भेदाभेदी है और शिवदयालजी तथा उनके अनुयायी विशिष्टाद्वती हैं। प्राणनाथ, दरियाद्वय, दीनदरवेश, बुल्लेशाह इत्यादि शिवदयाल की ही श्रेणी म रखे जा सकते हैं।'[1] (नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भा १५, पृ ११७) परतु इन संतों की रचनाओं का पूर्वापर सम्बध समझकर उन्हे अध्ययन करने से पता चलेगा कि वे लोग दार्शनिक विद्वान नही थे और न इनमे से एकाध को छोड़कर कोइ किसी दार्शनिक मतविशेष की ओर अपना ध्यान देना उतना आवश्यक ही समझता था। ये लोग मूलत साधक थे और इनके द्वारा प्रचलित किये गये पन्थों में यदि कोइ अतर लक्षित होता है तो उसका प्रधान कारण इनके किसी साधन विशेष को अय से अधिक महत्व देने में ही ढूँढा जा सकता है (पृ० ३८७)। आगे चलकर चतुर्वेदी जी ने पथ मार्गविशेष (यथा कबीर पन्थ, दादू पथ, नानक पन्थ, बावरी पन्थ आदि) सम्प्रदाय नामविशेष के आधार पर वर्ग (यथा सत्तनामी सम्प्रदाय, निरञ्जनी सम्प्रदाय, साध सम्प्रदाय आदि) और सत्सग (यथा राधास्वामी) म सूक्ष्म अतर बताया है। (पाद टिप्पणी पृ० ३८८)

३ सत परम्परा क क्रम की निश्चित रूपरेखा आज से सात सौ वर्ष पहले कबीर साहब के जीवनकाल म उनके क्रातिकारी विचारों द्वारा प्रकट हुई। कबीर साहब के लगभग ५० वर्ष अनतर गुरु नानकदेव के समय से सतमत को अधिक सुव्यवस्थित रूप देने वा उसे प्रचारित करन की भी आवश्यकता का अनुभव होने लगा और इस ओर विशेष रूप से प्रवृत्त होने वाले सन्तों ने अपने अपने पथों वा सम्प्रदायों का सगठन आरम्भ कर दिया। (पृ० ६९८–६९९)

४ चौथी बात में जो अपरोक्ष रूप से सन्तों पर डरपोक होने का आरोप है, वह गलत है। डा० बडथ्वाल अपने 'निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोएट्री' ग्रथ में पृ० १८१–१८२ पर कहते हैं कि 'निर्गुणियों के हिदू मुस्लिम एकता के प्रयत्नों का आरम्भ में तीव्र विरोध हुआ। कबीर को सिकन्दर लोदी ने उसके उदार मतों क कारण तङ्ग किया। परन्तु इस विरोध से आदोलन को अधिक बल ही मिला और ज्यों ज्यों समय बीतता गया ये सम्राट् सतों का

विरोध करने के बदले उन्हें आदर और सम्मान देने लगे। अकबर ने दादू को अपने दरबार में ससम्मान बुलाया। अकबर का दीनइलाही का प्रयत्न इसलिए असफल हुआ कि पृथ्वी पर सच्चा इलाही का राज्य (या रामराज्य) स्थापित करने के बदले उसने इस पंथ को साधन बनाया, अपनी प्रभुसत्ता को और दृढ़ बनाने में। निर्गुणियों ने कभी जाति या प्रादेशिकता के छोटे दायरों में नहीं सोचा, बल्कि समग्र मानवता के नाते सोचा।'

हिन्दी निर्गुण कवियों के रहस्यवाद का प्रभाव बहुत दूर तक पड़ा। गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस में जो रघुवीर दशरथनन्दन राम हैं, वे वस्तुतः निर्गुण ब्रह्म, महाविष्णु और मर्यादापुरुषोत्तम की एकरूपता के प्रतीक हैं। डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित ने अपनी पुस्तक 'संत दर्शन' में पृ० २७६-७७ पर कहा है कि 'वास्तव में निर्गुण ब्रह्म ही राम है और 'राम' ही निर्गुण है'। दोनों एक मिले जुले हैं कि उनमें कोई भेद नहीं है। वही निर्गुण भी है और वही ब्रह्म सगुण भी है। मानस में स्थान स्थान पर निर्गुण सगुण भावात्मक वर्णन भी किया है। गोस्वामी जी की निम्नलिखित पंक्तियों में जो ब्रह्मविषयक भाव उपलब्ध होते हैं उनका श्रीमद्भागवत, गीता आदि के भावों से बहुत सामंजस्य है

(क) जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुन प्रेरक सही।
(ख) जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने॥
(ग) सगुन अगुन गुनमंदिर सुंदर। भ्रमतम प्रबल प्रताप दिवाकर॥
(घ) निर्गुन सगुन विषम समरूप, ज्ञानगिरा गोतीतमरूप।
तुलसी की इन पंक्तियों के तुल्य है श्रीमद्भागवत का यह श्लोक

सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन्
नान्यत् त्वदस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम्।
(७, ९, ४८)

और गीता का यह श्लोक भी

सर्वेन्द्रियगुणाभासम् सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥
(१३-१४)

(अनुवाद) सर्वेन्द्रिय गुणाभासी, सर्वेन्द्रियविहीन जो।
अगुणी गुण भोक्ता भी अलिप्त भव पोषक ॥
(गीता संवाद सियारामशरण गुप्त)

'तुलसीदास रामायण' नाम से इज्दातेर्लस्वो अकादेमी इ नाउख, मस्क्वा से १९४८ में प्रकाशित और वास्तीको वेंदेनिया (इन्स्टीट्यूट आफ ओरिएन्टल कालेज), लेनिनग्राद् के अकादेमीशियन (आचार्य) अलेक्ज़ेन्द्र बाराञ्जिकोफ द्वारा समश्लोकी अनूदित रूसी भाषा के 'रामचरित मानस' की भूमिका में तुलसीदास के दार्शनिक मतावली के सम्बन्ध में वे पृ० ७६ पर कहते हैं 'बालकांड में १६९ वीं चौपाई से तुलसी कपिल द्वारा प्रतिपादित सांख्य मतावली में पूरा विश्वास करते हैं ऐसा जान पड़ता है, परन्तु उत्तरकांड (१८७ वीं चौपाई) के अनुसार वे सांख्य के मूल के द्वैतवाद के विरोध में बोलते हैं ऐसा जान पड़ता है। तुलसी मुख्यतः एकेश्वरवादी थे। ईश्वरतत्त्व उनकी दृष्टि में ब्रह्म (जो ब्रह्मा से भिन्न है) या सच्चिदानन्द है। सच्चिदानन्द के सब गुण वैराग्यमय हैं (उत्तरकांड १८५।२।३)।' बाद में बाराञ्जिकोफ महोदय ने माया की मानस में कहाँ कहाँ चर्चा है यह बताया है और ईश्वरी तत्व और माया एक ही है यह कैसे है सो समझाया है। पृ० ७८ पर वे कहते हैं 'ईश्वरी तत्व जिसे तुलसी दास कभी कभी सच्चिदानन्द कहते हैं, कभी अगुन, और जिसे वेदों ने नेति कहा है वही इस संसार में साकार बनकर आता है। देवताओं के शब्दों में यही सच्चिदानन्द का रामरूप है।''
(लंकाकांड १२६, ३।४)

और 'यही ईश्वरी तत्व गुण विरहित या अगुण होकर व्यक्त होता है कि संसार में वही माया से भिन्न नहीं और सच्चा रूप धारण किए हुए भी नहीं है। इस प्रकार वह अगुण से सगुण बन जाता है। यानी उस क्षण से जब से

१ मूल रूसी इस प्रकार से है बोझेस्तवेन्नाया सुश्चनास्तिया, कोतोरूप तुलसीदास नाजीवायत् तो सच्चिदानंद, तो अगुन, न्क तो त्सु वेदा आप्रद त्यायुत् स्लोगोम नेति, 'ने इमेयूश्चिये पोदोनिया' मोझेद् प्रानिमाच वाप्लो श्चेनिया व ससार्ये, व मीर्ये बीवानिया।

वह गुण धारण करता है अवतार ग्रहण की प्रेरणा दुखितों के प्रति सहानुभूति होती है, यद्यपि वे दुःख वस्तुतः वास्तव नहीं होते। बालकांड के अनुसार (१३९, ११४) 'यह ईश्वरी तत्व का साकार रूप स्वयं परिचालित है।'[1]

इस प्रकार से निर्गुण रहस्यवाद की प्रभाव छाया तुलसीदास और परवर्ती सन्तों में भी दूर तक मिलती है। गांधीवाद में भी उसकी झलक है। मुझे १९४० में भेजे हुए गांधी जी के ईश्वरविषयक पत्र में इसी प्रकार से उस परम तत्व को 'ला आफ नेचर' और 'इट' कहा गया था।



1 गोविन्दतनयाना नुयम्नास्सिया ासनाशाथास मामासोनाये ारेसाशायाम नाशनाये गुण नोगे र् काचेस्त्व इ अनो युनान, मानेत् नाम्मिाआन्नानोम, प्रोनानत्यागमा मारये नेराजदेहनाये सया मान, मारये विनानिये, मे नमेयज्ञियेम् रियाल्नो वो वानिया। ताकुम स्तुचाये इन अगुन जोल स्तानोवि मा मगुन नयच ाा नान्नायूज्ञियेन गुनामि इति अनी यूनाम्।

खण्ड ४

तुलनात्मक अध्ययन

१—दोनों भाषाओं के निर्गुण सन्तकाव्य में चिन्तनपरक सामान्य गुण दोष।

२—दोनों भाषाओं के निर्गुण सन्तकाव्य की अभिव्यंजना में अंतर और उसके कारण।

३—दोनों भाषाओं के निर्गुण सन्तकाव्य के चिन्तन में अन्तर और उसके कारण।

४—कबीर और चक्रधर का तुलनात्मक अध्ययन।

५—दोनों भाषाओं के रचनाकार नामदेव।

६—दोनों भाषाओं की निर्गुण गीतिरचना का परीक्षण।

७—दोनों भाषाओं की निर्गुण कविता में प्रयुक्त शब्दावली में समानता और अन्तर।

अध्याय १

दोनो भाषाओ के निर्गुण सन्तकाव्य मे चिन्तनपरक सामान्य गुण दोष

अब तक क विवचन में निर्गुण सतकवियों की दार्शनिक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और एक ही तने से निकलने वाली दो शाखाओं के समान मराठी और हि दी निर्गुण सन्त काव्य की विचार वृत्ति तथा व्यञ्जना विवृत्ति का पता हम चला। अब तुलनात्मक अध्ययन का आरम्भ करते समय पुन 'निर्गुण' शब्द को हम एक बार अच्छी तरह से परख लें। आलोचक श्री दि० के बेडेकर को जब मैंने इस सब ध में पूछा तो अपने मराठी पत्र म (१६ जून १९५३) लिखा 'स-त कवि अपने काव्य में जिस ईश्वर की आर्ति करते हैं वह सगुण (विट्ठल, राम इत्यादि) होता हे। तो भी वे उसे निर्गुण कहकर भी पुकारते हे। नौवीं शती के आसपास सारे भारत में एक प्रबोधन हुआ। दर्शन और धर्म का दृष्टि से इस प्रबोधन की दिशा एकेश्वरवाद की ओर थी। पर तु उस दिशा में भारतीय स तों की सफर हिचकिचाते हुए, मर्यादित थी। बाद म अगरेजा राज्य म ईसाई धर्म के प्रभाव से ब्रह्म समाज या प्रार्थना समाज ने जिस पूर्णता से एकेश्वरवाद स्वीकार किया उस पूर्णता से किं बहुना उसक दशाश म भी तुकारामादि स त एकेश्वरवाद को निकट नही ला सके। फिर भी इन सन्तों ने नया यदि कुछ दिया तो यह एकेश्वरवाद ही। 'निर्गुण' शब्द का मेरे मत से दो प्रकार का अर्थ है (१) निर्गुण यानी ईसाई या इस्लामी ईश्वर (सगुण मूति रूप, अवतार रूप जो नहीं है ऐसे ईश्वर) की भक्ति, (२) 'निर्गुण' अर्थात् प्राचीन भारतीय कर्मवाद ब्रह्मवाद की निर्गुण पद प्राप्ति की इच्छा, (साधना) और काव्य। सूफी मत एकेश्वरवादोन्मुख है, तो विज्ञान वाद, शैवमत 'शू य', 'ब्रह्म' के सर्वात्मवाद की ओर।'

कबीर तो कहते हैं

गुन में निरगुन, निरगुन म गुन हे, बाट छाड़ि क्यू बहिये।
अजरा अमर कथै सब कोई अलख न कथणा काई॥

नाति स्वरूप वारण नहि जाके घटि घटि रह्यो समाई।
प्यण्ड ब्रह्मण्ड कथै सब कोइ, वाके आदि अरु अन्त न होइ॥
प्यण्ड ब्रह्मण्ड छाडि जो कथिये कहे कबीर हरि सोई।
(कबीर ग्रन्थावली पद १८०)

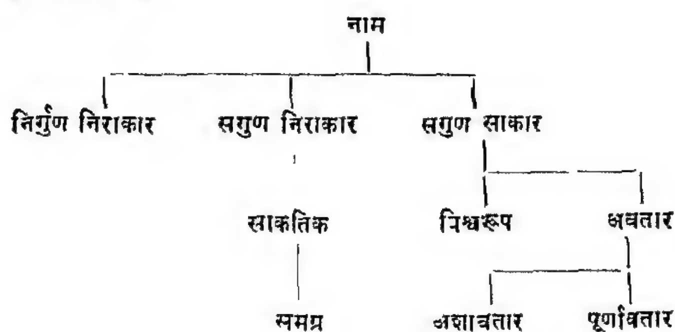
और मराठी कवि दासोपन्त ने कहा

आत्मया तुज जाणता मज योगसाधन कासया?
पूर्णब्रह्म पुराण तू, तरि भेटु के परमात्मया?
सगुण निर्गुण भाग न करी नावडे मज ते क्रिया।
दिगंबर! तव नित्य सेवन आवडे मन माझिया॥ (दासोपन्त)

जानया वेलया भी पुसेन वाटुला। दूरदेशीं दत्तुमाय माझनी माउली॥ ध्रु॥
कर्म जाइन माहेरा आपुलया साजणी। कमळनयनरूप आरवें मनीं॥ छु॥
कवळीन रूप दोहीं कहीं सखिये। दिगंबरीं भेटि क होइल गोरिये॥ २॥
(दासोपन्त)

तो क्या सगुण निर्गुण से पर भी कोई स्थिति संभवनीय है?

इस संबंध में पढ़ते हुए वियोगी हरि संपादित सन्तसुधासार की भूमिका (पृष्ठ १५) में आचार्य विनोबा भावे कृत एक विभाजन मेरे सामने आया, जो इस प्रकार से है



इस सम्बन्ध में विनोबाजी से मेरा जो पत्रव्यवहार हुआ वह मैं यहाँ देना चाहता हूँ। मेरा मूल पत्र और विनोबाजी का उत्तर इस प्रकार से है

मा. विनोबाजी,

श्री वियोगी हरि कृत 'सन्त सुधासार' की भूमिका में आपने लिखा है

'कुछ ध्यानी नाम के साथ सगुण निराकार का ध्यान करते हैं। अक्सर हम जहाँ निर्गुण निराकार को छोड़ते हैं, सगुण साकार में आ जाते हैं। लेकिन दोनों के बीच सगुण निराकार की भी एक भूमिका होती है। इसमें भगवान् को निराकार मानते हुए दया, वात्सल्य आदि अनन्त गुणों के परम आदर्श के तौर पर माना जाता है। उपनिषद् में निर्गुण निराकार के साथ सगुण निराकार की पुष्टि करने वाले वचन भी पाये जाते हैं, जिनको रामानुज आदि भाष्यकार विशेष महत्व देते हैं। इस्लाम और ईसाई मत इसी को मानते हैं। ब्राह्मसमाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज इत्यादि आधुनिक समाज सगुण निराकार की भूमिका पर खड़े हैं।

'कुछ विचारक और उपासक ऐसे जरूर होते हैं जो अपना अपना आग्रह रखते हैं, जैसे मुहम्मद पैगम्बर सगुण निराकार मानने वाले थे। यद्यपि निर्गुण निराकार का वे निषेध नहीं करेंगे किन्तु सगुण साकार का अवश्य निषेध करते हुए वे दीख पड़ते हैं। वैसे, कुरान में 'वज्हुल्लाह' याने 'अल्लाह का चेहरा' यह शब्द कई जगह आया है, जिसके आधार पर मूर्तिपूजा की अतिशयता का तो बचाव नहीं होगा, लेकिन सगुण साकार का प्रवेश हो जायगा।' (पृष्ठ १५)

मैं समझता हूँ कि ईसाई ईश्वर तत्व और इस्लामी ईश्वर तत्व में अन्तर है। रामानुज की स्थिति और आर्य समाज की स्थिति में तो और भी अधिक अन्तर है। इन सबको एक ही सगुण निराकार शीर्षक के अन्तर्गत नहीं सोचा जा सकता।

दूसरी बात, जहाँ तक 'वज्हुल्लाह' का ताल्लुक है, कुरान में तो 'यदुल्लाह' यानी अल्लाह का हाथ भी आया है। परन्तु यह चेहरा या हाथ का प्रयोग एकदम लाक्षणिक, आलंकारिक अर्थ में है। एक मुस्लिम ईश्वर शास्त्रज्ञ (थियालाजीशियन) से मैंने पूछा तो उनके शब्दों में 'इन्सान को समझाने के लिए ये इन्सानी अल्फाज काम में लाये गये हैं।' इसका अर्थ मुहम्मद के निकट कहीं भी, किंचित् मात्र भी साकारोपासना मान्य थी, यह कहना गलत होगा। साकारोपासना से मुहम्मद का सीधा विरोध है। बल्कि आगे आप जो 'वही' वगैरह के उदाहरण देते हैं, वे तसव्वुफ के हैं। यानी सूफी लोगों का मतभेद ही सनातन (आर्थडाक्स) मुस्लिमों से इसी

बात पर हुआ। उर्दू कविता म 'काबे को बुतखाना' बनाने का सारा विद्रोह इसी बिना पर खड़ा है।

मौ० मुहम्मद अली कुरान क अंग्रेजी अनुवाद (स० १९२८) की भूमिका में पृष्ठ ४८ पर स्पष्ट रूप से कहते हैं

'कुरान मे ईश्वर के सम्ब ध म जिन विशेषणों का प्रयोग हुआ है, उसकी चर्चा करने के लिये ईश्वर सम्ब धी एक गलतफहमी के बारे म पाठकों को सचेत करना जरूरी है। कुरआन म ईश्वर को देखने वाला, सुनने वाला, बोलने वाला, बनाने वाला, दया दिखाने वाला, अप्रमत्त, कृपालु, स्नेहार्द्र आदि कहा गया है। लेकिन इन शब्दों स यह नहीं समझना चाहिये कि ईश्वर मानव रूप धारण करता है, क्योंकि साफ तौर स उसको भौतिकता क पर माना गया है। हम उसको देख नहीं सकते, मगर वह सब निगाहों को देखता है। न सिर्फ वह भौतिकता क परे है, बल्कि 'उसके समान कोई चीज नहीं, जो तुम्हारे खयाल म आ सके, यह जो उसके सम्बन्ध म कहा गया है, उससे भी वह परे है। ईश्वर तत्व को यह सबसे अत्युत्तम कल्पना है।'

(डिवाइन अट्रिब्यूट्स)

ईश्वर के सगुण तत्वों का भी जहाँ तक सम्ब ध है, कुरआन क ईश्वर (अल्लाह) क जो भी विशेषण ह वे सब अमूर्तवाचो, अतीन्द्रिय (ऍबस्ट्रॅक्ट) हैं, यथा, अलवाहिद अहद, अरहमान, अलकय्यूम, अल् गनी, अल् अव्वल, अल् आखिर, कुद्दस, अस्समद, अल् हक़, अल् आलिम, अल् बारी, अल् मुसव्विर, अल् अदी, अर्रऊफ आदि। य सब गुण ऐसे ह, जो निर्गुण ब्रह्म को निर्गुणिय लगाते रहे ह। ज्ञानेश्वर न अमृतानुभव और अभगो म तथा कबीर, दादू, सु दरदास ने ये सब व्यक्त किये हैं। इसलिये मे आपके 'सगुण निराकार' भेद को ठीक तरह से नहीं समझ पाया। कृपया स्पष्ट करें।

कालिम्पोङ् म डाक्टर जार्ज रोरिक से मुझे पता चला कि तिब्बती भाषा के ईसा की छठी सदी के व्याकरण क आरम्भ म नम शिवाय मत्र है और तिब्बत म शून्य ही अद्वैत (अद्वय) का रूप ले लेता है और वह नकारात्मक नहीं ह। तिब्बती म उसे 'तोंग्यानी' कहते हैं। ग्राह्य ग्राहक भेद से परे लुडपा (नागार्जुन) ने उसे व्यक्त किया। अद्वय को तिब्बती म 'निमेय' कहते है

और निर्गुण को 'ग ते तेलवा'। यह निर्गुण एकेश्वरवादी है। चौथी शती के बौद्ध दार्शनिक असग ने इसको स्पष्ट किया था। सवीचक्र तत्र आदि से पता चलता है कि मृत्युपूजा, शव साधना आदि जो तान्त्रिक पद्धतियाँ बाद में आयीं, वे सेमटिक प्रभाव के ही कारण।

इस ऐतिह्य को छोड़ भी दें तो भी मुझे लगता है, आपके इस विभाजन में इस्लाम को 'सगुण निराकार' में डालने में कुछ गलती हुई है।

मैं यह प्रश्न दर्शन तथा साहित्य के जिज्ञासु विद्यार्थी के नाते पूछ रहा हूँ। आशा है, अपने व्यस्त कार्यक्रम में से कुछ समय निकाल कर आप मेरा समाधान करने का यत्न करेंगे।

५ अगस्त, १९-४ विनीत
प्रभाकर माचवे

मेरे पत्र का आचार्य विनोबाजी द्वारा दिया उत्तर इस प्रकार से था
श्री प्रभाकर माचवे,

परमेश्वरों के गुणों का स्मरण कराने वाला आप का चिंतनीय पत्र मिला। जो हमें परमेश्वर की याद दिलाता है, उससे बढ़ कर उपकारकर्ता और कौन हो सकता है?

सगुण निर्गुण भेद का मर्म जान सकना याने ईश्वर में प्रवेश ही पाना है। ईश्वरतत्व केवल अचिंत्य है, शब्द से परे है। तिस पर भी उसके वर्णन के लिये शब्दों का उपयोग किया जाता है, तो ईश्वर वह सहन कर लेता है। विष्णु सहस्र नाम में ईश्वर के दो नाम ही यों दिये हैं।

'शब्दातिग शब्दसह'

अक्सर लोक निराकार याने निर्गुण और सगुण याने साकार, ऐसा ही मान लेते हैं। पर निर्गुण निराकार और सगुण साकार से भिन्न सगुण निराकार भूमिका है। पैगंबर की यही भूमिका मैं समझा हूँ। मैंने यह नहीं कहा कि वे सगुणसाकार को मानते हैं। लेकिन 'वज्हुल्लाह' आदि शब्दों के आधार पर अगर कोई समन्वय करना चाहे, तो सगुण साकार के साथ समन्वय हो सकेगा, इतना ही मैंने सूचित किया था। आपने परमेश्वर के जो विशेषण कुरान के दिये हैं, वे बहुत सारे निराकार होते हुए भी सगुण हैं। जैसे 'अर्रज्जाक' याने

रोजी देन वाला। निर्गुण किसी को रोजी नहीं दे सकता। निर्गुण का वर्णन तो नकार से ही हो सकेगा।

सगुण निराकार मानने वाले जितने होते हैं, उनकी भूमिका सबकी एक होती है, सो बात नहीं है। उनमें से कोई साकार का निषेध करते हैं। कोई साकार का निषेध करते हुए भी, इ बात को समझाने के लिए ही क्यों न हो, साकार वाची शब्द सहन करते हैं। कोई साकार को मानसिक आकार देते हैं। कोई उसको भौतिक रूप देते हैं। कोई उसकी उपासना के लिए मूर्ति भी, अज्ञान दशा के लिए मान्य कर लेते हैं। ऐसे सब भेद होते हुए भी ये सारे सगुण निराकारवादी होते हैं। इस्लाम, ईसाई, रामानुज, ब्राह्म, प्रार्थना समाजी आदि ये सारे जितने भी उपासनापंथ हैं, सब सगुण भूमिका पर खड़े हैं, ऐसा ही मैं समझता हूँ।

राम, कृष्ण ये शब्द भी मूलतः अमूर्तवाची सगुण शब्द हैं। याने सगुण निराकार है। उस पर आकार का आरोपण पीछे से किया गया है। राम याने रमने वाला। कृष्ण याने आकर्षण करने वाला 'हर हर महादेव' याने अक्षरशः 'अल्लाहु अकबर'। महादेव और अकबर एक दूसरे के सगुण समझिये।

जहाँ तक ध्यानदेव का ताल्लुक है, निर्गुण, सगुण और साकार तीनों में वह कोई फरक नहीं करता है। अलंकार के आकार में सुवर्ण रहता है और सुवर्ण में सुवर्णत्व है। हम अक्षर की आकृतियाँ देखते हैं। उन आकृतियों में हम अक्षर पढ़ते हैं और उन अक्षरों से हम अर्थ ग्रहण करते हैं। अर्थ निर्गुण है। अक्षर ध्वनि सगुण है। अक्षर आकृति साकार है। राजा का पत्र हम फाड़ डालते हैं, तो राजा का अपमान होता है।

कुरान में एक जगह मुहम्मद ने अपने अनुयायियों से कहा कि मूर्ति पूजकों के देवताओं की तुम निन्दा मत करो, नहीं तो वे तुम्हारे अल्लाह की निन्दा करेंगे। कोई भी नहीं कहता कि व्यभिचारियों के व्यभिचार की निन्दा मत करो, नहीं तो वे तुम्हारे सदाचार की निन्दा करेंगे। जाहिर है कि इसमें मुहम्मद ने मूर्ति पूजा को अधर्म नहीं माना है, बल्कि पर धर्म माना है। यह सारी मेरी समझने की दृष्टि है। गीता ने ओम तत् सत् इस महामंत्र में निर्गुण, सगुण और साकार का उत्तम समन्वय किया है। उसकी कुछ चर्चा मेरे 'स्थितप्रज्ञदर्शन' में मैंने की है। सगुण निर्गुण की उपासना की एकता,

जैसी मैं समझता हूँ, 'गीता प्रवचन' में प्रकट की है। मैं नहीं जानता कि इतने से आपका समाधान हो सकेगा या नहीं। आखिर यह अनुभव का विषय है और शब्द शक्ति की एक सीमा है।'

विनोबाजी ने ईसाई मत और आर्यसमाज के सम्बन्ध में भी 'सगुण निराकार' की जो बात कही है, वह पूर्णत तर्कसंगत नहीं है। ईसाइयों में रोमन कैथोलिक भी तीन ईश्वरीतत्व मानते हैं दि फादर, दि होली घोस्ट तथा सन आफ गाड। जीसस में इस त्रयी का एकीकरण है। जब वह मानव रूप ग्रहण कर लेता है तो वह सगुण है निराकार नहीं है। परन्तु जो परम ईश्वरीतत्व है वह तो निराकरण है और उसमें सांसारिक अर्थों में गुण नहीं है। वह तो शुभ्र प्रकाश है, उसमें रग छ्गाएँ कहाँ? आर्यसमाज की स्थिति तो और भी विचित्र है। श्रीमद् दयानन्द सरस्वती के 'सत्यार्थ प्रकाश' में ७व समुल्लास (पृष्ठ १२३-१२४) में 'ईश्वरस्य सगुणनिर्गुण कथनम्' नामक प्रकरण में प्रश्न है, 'परमेश्वर सगुण है वा निर्गुण।' उत्तर है, 'दोनों प्रकार है। फिर प्रश्न हुआ भला एक म्यान में दो तलवार कभी रह सकती हैं? एक पदार्थ में सगुणता और निर्गुणता कैसे रह सकती है? उत्तर मिला, जैसे जड़ के रूपादि गुण हैं और चेतन के ज्ञानादि गुण जड़ में नहीं हैं, वैसे चेतन में इच्छादि गुण हैं और रूपादि जड़ के गुण नहीं हैं, इसलिए 'यद् गुणैस्सह वर्तमान तत्सगुणम्', 'गुणेभ्यो यन्निर्गत पृथग्भूते तन्निर्गुणम्।'

वैसे ही परमेश्वर अपने अनन्त ज्ञान, बलादि गुणों से सहित होने से सगुण और रूपादि जड़ के तथा द्वेषादि जीव के गुणों से पृथक् होने से निर्गुण कहाता है।'

जहाँ तक हिन्दी और मराठी सन्तकवियों का सम्बन्ध है, यह स्पष्ट है कि परमतत्व के निर्गुण सगुण स्वरूप के विषय में दोनों भाषाओं के सन्तकवियों में काफी अस्पष्टता है। मराठी में वैसे पूर्णत निर्गुण कवि किसी को कहना कठिन है। वैसे चक्रधर में, ज्ञानेश्वर के 'अमृतानुभव' में, नामदेव में निर्गुण विषयक उल्लेख अवश्य मिलते हैं। परन्तु समूचे वारकरी सम्प्रदाय में पंढरपुर के विट्ठल की उपासना ही अधिक प्रचलित थी। श्री परशुराम चतुर्वेदी 'उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा' ग्रन्थ (पृष्ठ ९०) पर लिखते हैं 'वारकरी सम्प्रदाय एक प्रकार का स्मार्त सम्प्रदाय है, जिसमें पंच देवों की पूजा का

विधान है, किन्तु इनके प्रधान इष्टदेव विट्ठल भगवान् हैं। परमात्मा को निर्गुण ब्रह्म बतलाते हुए तथा अद्वैतवाद के समर्थक होते हुए भी इसके साधक भक्ति साधना को सर्वोत्तम ठहराते हैं। इनकी यह भक्ति अद्वैतभक्ति या अभेदभक्ति है, जिसका केवल अनुभव मात्र किया जा सकता है, वर्णन नहीं हो सकता। अपने 'अमृतानुभव' में प्रकरण ९ में (४१वीं ओंवी में) कहा है 'देव देउळ परिवारू। कीजे कोरूनि डोंगरू। तैसा भक्तिचा वेव्हारू। का न व्हावा॥' अर्थात्, जिस प्रकार एक ही पहाड़ के भीतर देवता, देवालय एवं भक्त परिवार का निर्माण खोदकर किया जा सकता है, उसी प्रकार भक्ति का व्यवहार भी एकत्व के रहते हुए सर्वथा सम्भव है, इसमें सन्देह नहीं।' तभी तो अन्त में जाकर देव देवत्व में घनीभूत हो जाता है, भक्त भक्ति में विलीन हो जाता है, और दोनों का ही अन्त हो जाने पर अभेद का स्वरूप अनन्त होकर प्रकटता है। निर्गुण भक्ति के साधन रूप सगुण को महाराष्ट्र के सन्त मानते हैं। इस प्रकार से निर्गुण सगुण के सम्बन्ध में स्पष्ट सीमारेखा न होना दोनों भाषाओं के सन्तकवियों का सामान्य दोष है।

उसी प्रकार से दूसरा दोष है—नारी के प्रति कठोर भावना। यह नारी निन्दा की परम्परा सिद्धों से चली आती है। गोरखनाथ ने भी कामिनी रूप की निन्दा की है (गोरखबानी, पृष्ठ ७ और ५८)। कबीर, दादू, मलूक, धरनीदास, दरिया साहब (बिहारवाले), चरनदास, पलटूसाहब आदि ने नारी के भोग प्रधान स्वरूप की घोर निन्दा की है। यहाँ तक कि इस काल की कवयित्रियों में मीरा, सहजोबाई या दयाबाई में नारी की सामाजिक स्थिति का कोई भी उल्लेख नहीं मिलता। सन्तों के अनुसार नारी त्रयागुण विनाशिनी, ठगिनी, माया, अविद्या का प्रतीक, विष की कोथरी, सर्पिणी, घातक छुरी है। सुन्दरदास के शब्दों में 'कामिनी की देह मानौ कहिये सघन बन, कहाँ कोऊ जाइ सु तो भूलि कै परतु है।' नारी को नरक का द्वार कहने की प्रथा यहाँ तक थी कि कबीर को कहना पड़ा 'नारी निन्दा ना करो, नारी नर की खान।' वैसे जहाँ सच्ची ईश्वरसेवा की बात की जाती है, पतिव्रता का दृष्टान्त अवश्य दिया जाता है।

सन्त काव्य का तीसरा सामान्य दोष है—काव्य पक्ष की ओर उपेक्षा। भाषा, छन्द, अलंकार आदि की ओर उनका बिलकुल ध्यान नहीं था। हिन्दी के

म नकवि सन्त ज्ञानेश्वर की तुलना म कम अधीन और इस कारण इस पात म अधिक दोषी कहे जा सकते है पर तु वस्तुत वह उनक लिए प्रधान विषय ही नहीं था, जैसा कि *अन्यत्र आरम्भ म काव्य की कसौटियों क सम्बन्ध में* कहा जा चुका है। सन्तका य को सामा य का य की कसौटियाँ लगाना अन्यायमूलक होगा। उनके और एक दोष दु खवाद या निराशावाद की विस्तृत चर्चा आग एक अध्याय में है।

हि दी मराठी सन्तों के सामान्य गुणों की चर्चा पूर्व के अध्याय म इतनी विस्तार से हुई है कि उनका मानवतावाद, उनकी निर्भीकता, फक्कडपन, समाज की खरी खरी आलोचना, जीवजगत् के सम्ब ध में एक सुधारक और द्रष्टा का दृष्टिकोण, उनकी उदारता और असहिष्णुता, धर्म क सारतत्व का ग्रहण और बाह्याडम्बरों का विरोध आदि का यहाँ मात्र उल्लेख पर्याप्त होगा। यह ऐसी शानदार परम्पराएँ स तों ने ही महाराष्ट्र में और उत्तर भारत म स्थापित की है कि वह युगों तक प्रकाश और बल देती रही।

अध्याय २

दोनों भाषाओं के निर्गुण संतकाव्य की अभिव्यंजना में अन्तर और उसके कारण

सन्तकाव्य की अभिव्यंजना में जो अन्तर दिखाई देता है, उसका कारण मुख्यतः दोनों प्रदेशों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का अन्तर है। यद्यपि शंकराचार्य से जयदेव तक स्तोत्र साहित्य में और भक्तिकाव्य ग्रन्थों में संत काव्य की परम्परा मानी जाती है, परन्तु वह संस्कृत में होने से सच्चे अर्थों में सन्त कविता नहीं है। उसकी विशेष अभिव्यक्ति प्रान्तिक भाषाओं में हुई। देववाणी छोड़कर संतों ने लोकवाणी अपनाया। मराठी सन्त कविता आरम्भ में अधिक संस्कृतबहुला है, बाद में वह अधिक जनभाषा के सन्निकट होती जाती है। हिन्दी में सिद्धों, नाथों और सन्तों में तुलसी तक पहुँचते हुए क्रम उलटा है। कबीर की भाषा अधिक सधुक्कड़ी है, परवर्ती सन्तों की अधिक संस्कृतप्रचुर।

सन्तों का अर्थ हिन्दी में निर्गुणियों तक मानो सीमित है। हिन्दी की आध्यात्मिक कविता में सन्त, सूफी और भक्त ये तीन भेद स्पष्ट हैं। गोस्वामी तुलसीदास (रामचरितमानसकार) को मराठी पुस्तकों में सन्त कहा गया है। सन्तलीलामृत में कबीर और मीरा को सन्त माना गया है। कई सन्तों का सगुणविरोध शुद्ध निर्गुणवाद न होकर अद्वैतनिष्ठा का ही एक रूप है ऐसा भी कुछ लोग मानते हैं। एक बात स्पष्ट है कि रहस्यवाद के प्रति दोनों भाषाओं के सन्तों का एक सा प्रेम है। यह रहस्य जब शब्दों में वे प्रकट करना चाहते हैं तो अभिव्यंजना में अवश्य अन्तर लक्षित होता है।

इस अन्तर का एक प्रधान कारण यह है कि मराठी सन्त परम्परा में अकेले चक्रधर और उसके महानुभाव पंथ को छोड़ दें तो सामान्यतः एक ही विचारधारा तेरहवीं शती तक चलती रही। तेरहवीं शती की ज्ञानेश्वरी का संस्करण पन्द्रहवीं शती के एकनाथ ने किया। सत्रहवीं सदी के तुकाराम को भी तेरहवीं शती में हुए नामदेव का अधूरा कार्य पूरा करने की इच्छा

हुई। सब सन्तों की अंतिम श्रद्धा विट्ठल के प्रति ही थी। विष्णु, कृष्ण, हरि सब उसी के नाम थे। विट्ठल की बाल लीला कृष्ण के समान ही थी। शिव, दत्त और राम को भी इन सन्त कवियों ने अपने में समो लिया और अपना वैष्णवपन कायम रखा। परंतु हिंदी संतों में उपास्यभेद के साथ उपासना भेद भी बढ़ा। कबीर ने मूर्तिपूजा का विरोध करके दैविक समानता निर्माण करने का जो यत्न किया था, वह अधिक काल तक नहीं चल सका। कबीरोत्तर सन्तों में पंथ और उपपंथ बढ़ते गये। पाँच छह सौ सहस्र वर्षों में अकेले निर्गुण पन्थ में ही कबीर, दादू, नानक, निरंजनी, साध, सत्नामी और राधास्वामी शाखाएँ पैदा हुई। एक मराठी लेखक के अनुसार[1] हिन्दी संतों ने 'देव्हारा' (देवता का स्थान) तोड़ कर उसके स्थान पर गद्दी स्थापित की, देव तोड़कर गद्दी पर गुरू को बैठाया। मराठी सन्तों ने 'देव्हारा' कभी नहीं तोड़ा, न गद्दी ही कभी स्थापित की। इसलिए आपस में लड़ने का अवसर उन पर कभी नहीं आया।

उसी लेखक के अनुसार 'कुछ हिन्दी सन्तों की रचनाएँ कठिन छंदों में हैं। सिक्खों के ग्रन्थ साहब में बहुत से भजन राग ताल सहित दिये हुए हैं। यानी ताल सुर पर भजन रचने और गाने की प्रथा हिन्दी संत परम्परा में बहुत पहले से चली आ रही है। रागदारी में भजन रचना करना या गाना लोकजीवन से थोड़ा दूर जाने के समान है। कबीर, तुलसीदास जैसे महान् संतों ने साखी, रमैनी, दोहे, चौपाई आदि सीधे छन्दों पर जोर दिया, क्योंकि वे लोकजीवन से समरस थे। परंतु अन्य बहुत से हिन्दी सन्तों ने कठिन छन्द और संगीत अपनाया। मराठी सन्त लोकवाणी की कक्षा के बाहर कभी नहीं गये। उनका सारा साहित्य 'ओवी' और 'अभंग' इन दो छन्दों में है। एकनाथ ने कुछ और छंदों का प्रयोग किया है, परन्तु वह भी 'गोंधळी' 'पाळुळ' आदि लोकगीतों की धुनों के समान ही है। उनके 'गोळणी' जैसे गीत भी लोकगीत की कक्षा पार करके संगीत कक्षा में नहीं गये। इस बात का साक्ष्य यह भी है कि सिक्खों के ग्रंथ साहब में संगृहीत नामदेव के अभंगों में उनके अन्य भजनों की तरह राग ताल नहीं दिये हैं। मराठी सन्तों की रचना जनमन से अधिक निकट की है।'

---

१ मराठी आणि हिंदी संत मा० कृ० पारधी (सत्यकथा मार्च १९५३)

लोकजीवन के दृष्टान्तों के बहुत निकटतम थे कबीर। तभी चक्की का दृष्टान्त देकर उन्होंने कहा।

चलती चक्की देखि के दिया कबीरा रोय।
दोउ पाटन के बीच में साबित बचा न कोय॥

या—

लोगा ऐसे बावरे पाहन पूजन जाय।
घर की चकिया ना पुजै जेहि का पीसा खाय॥

मराठी सन्तकवि एकनाथ की चक्की और अधिक आध्यात्मिक है। उनके शब्दों में—

वराग्य जातें मांडुनि। विवेक खुटा थापटुनि।
अनुहतदृण माडुनि। त्रिगुण वैरणा घातले॥
यइ रो क हाइ। एकलीं दळिता शिणले हात लावी वहिले॥

—(एकनाथ)

"वैराग्यरूपी चक्की मैंने सामने रखी है। विवेक की खूँटी पक्की तरह लगायी है। अनहद नाद का पीसना चल रहा है। त्रिगुणों को मैंने बीच बीच में उस चक्की में डाला है। ओ कन्हाई (परमेश्वर), अकेली पीसते हुए मेरे हाथ बिलकुल थक गये हैं। मेरी मदद करो।"

बाद में जन गीतों में निर्गुन गाने का एक प्रघात सा चल पड़ा, जैसे निर्गुन कजरी, कलगीतुर्रे के शिवभक्ति सम्बन्धी गान और निर्गुन होरी भी गायी जाने लगी।

हिन्दी और मराठी सन्त कविता में अभिव्यंजना में अन्तर का एक प्रधान कारण यह है कि जहाँ हिन्दी सिद्ध सन्तों पर बौद्धमत का प्रभाव था, और बाद में सूफीमत की भक्त की आर्तता का भी प्रभाव पड़ा, मराठी सन्तों पर बौद्ध और सूफी प्रभाव कम क्या, प्रायः नहीं के बराबर है। हिन्दी सन्तों में तो बराबर दुःखवाद की परम्परा सी मिलती है।

'पाहुडदोहा' में पालि थेरीगाथा की भिक्षुणियों की गीतमाला जैसी आर्तता है। मुनि रामसिंह की अपभ्रंश में एक जैन रचना के अनुसार 'जब तक आत्मा का बोध नहीं पाता, वह पुत्र कलत्रादि में उलझा हुआ रहता है। साधना से च्युत होकर कई तरह के दुःख सहता है। इस तरह के व्यक्ति के लिए दुःखों

का भोग किसी प्रकार कम नहीं है। जीव मोह के वश में पड़कर मोक्ष से वंचित रह जाता है और यही दुःख है। विषयसुख दो दिन के हैं और फिर वही दुःखों की परिपाटी प्रारम्भ हो जाती है। मानव जान बूझकर अपनी ही कुल्हाड़ी से अपने कन्धे पर प्रहार करता फिरता है।"[1]

डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित के ग्रन्थ संत दर्शन (पृष्ठ २६१–२६३) में यह चर्चा है

'कबीर की दृष्टि में सुख दुख दोनों एक ही वस्तु के दो पक्ष है। सन्तों ने बराबर इस बात को दुहराया है कि बिना दुःख के सुख हेय, घृणित और निःसार है। वह जीवन भार है, जिसका आधार आंसू न हो। सन्तों ने दुःख ही को सुख माना है। सुन्दरदास दुःख को सुख और सुख को ही दुःख मानते हैं।' कवि के शब्दों में—

सुंदर पतिव्रत राम सौं, सदा रहै इकतार।
सुख देवै तो अति दुखी, दुख तो सुखी अपार॥

इसीलिए मलूकदास संसार भर के दुःख को आलिङ्गन करने के हेतु प्रस्तुत हैं

जे दुखिया संसार में, खोवो तिनका दुक्ख।
दलिद्दर सौंपि मलूक को, लोगन दीजे सुक्ख॥

सन्त पलटू के मतानुसार दुःख के भीतर ही वास्तविक सुख और मुक्ति का बीज निहित है। इसके विपरीत सुख नरक का आगार है। इसीलिए

---

१ जोणिहिं लक्खहिं परि भमइ अप्पा दुक्खु सहन्तु।
पुत्र कलत्रहँ मोहियउ जाम ण बोहि लहन्तु॥ ८॥
जं दुक्खु वि तं सुक्खु किउ जं सुहु तं पि य दुक्खु।
पइं जिय मोहहिं वसि गयइँ तेण ण पायउ मुक्खु॥ १०॥
मोक्खु पावहिं जीव तुहुं घणु परिणु चिंततु।
तोइ विचिंतहि तउ जि तउ पावहि सुक्खु महंतु॥ ११॥
विसयसुहा दुइ दिवहडा पुणु दुक्खहं परिवाडि।
भुल्लउ जीव म वाहि तुहुं अप्पा खंधि कुहाडि॥ १७॥
अण्णु जि जीउ म चिंति तुहुँ जइ बीहउ दुक्खस्स।
तिलतुस मित्तुवि सल्लडा वेयण करइ अवस्स॥ ७८॥

कवि इन दोनों की तुलना में दु ख ग्रहण करने का मलूकदास की भांति पक्षपाती प्रतीत होता है—

सुनि लो पल्टू भेद यह, हसि बोले भगवान।
दुख के भीतर मुक्ति है, सुख म नरक निदान॥

नानक के मतानुसार दु ख सुख दोनों ही ईश्वर का प्रसार है, अत इन्हें मस्तक पर आदरपूर्वक धारण करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है—

मन मूरख काहे बिल्लावै, पूर्व लिखे का लेखा पावै।
दुक्ख सुक्ख प्रभ देवन हार, अवर त्यागि तू तिसै चितार॥
जो कछु करै सोई सुख मान, भूला काहे फिरै अयान।

जगजीवन साहब ने तीन लोकों में किसी को भी सुखी न देखा—

पपिह जाय पुकारेऊ, पछिन आगे रोय।
तीन लोक फिरि आयऊ, बिनु दुख लख्यौ न कोय॥

दादू को ता आश्चर्य इस बात पर है कि दु ख से सतप्त होते हुए भी ससार चेतता नहीं है। इस ससार की गति बड़ी विचित्र है। इसने झूठ को सत्य, विष को अमृत और दु ख को सुख मान लिया है। सचमुच जगत दीवाना हो गया है—

झूठा साचा करि लिया, विष अमृत जाना।
दुख का सुख सबको कहै, ऐसा जगत दिवाना॥

दु ख का मूल कारण आत्मा का अज्ञान है। अपने आपको भूलना तथा निमित्त कारण उस अज्ञान की शाखारूप मोह, तृष्णा, कामना विषयासक्ति तथा आभ्यन्तरिक दौर्बल्य है। सन्त कवि चरणदास के मतानुसार नारी में विषयासक्ति[1], ससार से अत्यधिक मोह[2] जग के आकर्षक रूप[3], काम, क्रोध, लोभ[4], इन्द्रियाँ[5], भवताप[6], आवागमन[7], तथा मानव के अपने दुष्कृत्य[8] दु ख के उद्रेक के कारण हैं। धरनीदास के मत से ब्रह्म का विरह ही दुख का मूल कारण है। अ यथा उसके दर्शन से ससार के समस्त ताप, सन्ताप और

१ चरण० की बानी, ७।८ तथा ९१।१। २ चरण० की बानी, ३०।८०।
३ चरण० की बा० ३२।९४। ४ चरण० की बा० ३३।१०२।
५ चरण० की बा०, ३६।१। ६ चरण० की बा०, ५७।३।
७ चरण० की बा०, ७७।६। ८ चरण० की बा०, २१०।८६।

दु ख विलीन हो जाते हैं ।[1] भीखा साहब के अनुसार कपट आशा[2], कपट कुचाल[3], आवागमन[4], तथा भक्ति भावना का अभाव ही दु ख का मुख्य कारण है ।[5] दयाबाई ने दु ख का मूल कारण प्रियतम परमात्मा से विरह[6] और आवागमन[7] को माना है ।

दु ख का मूल कारण सामान्यतया अज्ञान है । अतएव अज्ञान के निवृत्त करने का उपाय ही दु ख की निवृत्ति का मूल साधन है । अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है यथा अन्धकार की निवृत्ति प्रकाश से होती है । चरणदास के मत से दु ख की निवृत्ति गुरु द्वारा प्रदत्त अ तर्दृष्टि[8], हरिभक्ति[9], सयम[10], नाम जप[11], अनहद नाद[12], साधु सेवा[13], और चि तन से सम्भव है ।[14] दयाबाई के अनुसार भजन[15] और गिय रूप दर्शन[16] दु ख का विनाशक है ।

धरनीदास के शब्द म ऐसा दु ख धन्य है जो मानव को समदृष्टिवान बना देता है ।

जाहि परो दुख आपनो, सो जाने पर पीर ।
धरनी कहत सुन्यो नहीं, बॉझ की छाती छीर ॥

दादू मे विरह का वर्णन बहुत विस्तार से है ।

(अथ विरह को अग ३)

दादू नमो नमो निरञ्जनम् नमस्कार गुरु देवत ।
वदन सर्व साधवा प्रणाम पारङ्गत ॥ १ ॥
रतिवन्ति आरत करे राम सनेही आव ।
दादू औसर अब मिलै यहु विरहनि का भाव ॥ २ ॥

---

१ धरनीदास की बानी ५१।२३
२ भीखा सा० की बा० २।३
३ भीखा सा० की बा० १२।१
४ भीखा सा० की० बा० ५७।४
५ भीखा सा० की बा० ५८।६
६ दयाबाई की बा० ६।१२
७ दयाबाई की बा० १६।५१
८ चरण० की बा० १।२, ८
९ चरण० की बा० १४।१ तथा ८४।९
१० चरण० की बा० २४।४८
११ चरण० की बा० ४।२
१२ चरण० की बा० ५१।१
१३ चरण० की बा० ९१।५
१४ चरण० की बा० १२।३
१५ दयाबाई की बा० ३।२
१६ दयाबाई की बानी १२।१९

पीव पुकारे विरहनी निशिदिन रहै उदास।
राम राम दादू कहै ताला बेली प्याम ॥ ३ ॥
मन चित चातग ज्यूँ रटै पिव पिव लागो प्याम।
दादू दरशन कारने पुरवहु मेरी आस ॥ ४ ॥
दादू विरहिन दुख कासिन कहै कासिन देह सन्देश।
पन्थ निहारत पीव का विरहिन पल्टे वेश ॥ ५ ॥
दादू विरहनि दुख कासनि कहै जानत है जगदीश।
दादू निशिदिन विरहि है विरहा करवत शीश ॥ ६ ॥
शब्द तुम्हारा ऊजला चिरिया क्यों कारी।
तुहा तुही निशिदिन करौं, विरहा की जारी ॥ ७ ॥

(विरह विलाप)

विरहनि रोवै रात दिन, झूरै मन ही मॉहि।
दादू औसर चलि गया, प्रीतम पाये नाहि ॥ ८ ॥
दादू विरहनि कुरलै कुंज ज्यूँ निशिदिन तलपत जाहि।
राम सनेही कारणॉ, मैं रोवत रैन बिहाइ ॥ ९ ॥
पासे बैठा सब सुणै, हम कौं ज्वाब न दई।
दादू तेरे सिरि चढ़, जीव हमारा लेई ॥१०॥
सबको सुखिया देखिय, दुखिया नाही कोई।
दुखिया दादूदास है, ऐन परस नहि होइ ॥११॥
साहिब मुख बोले नहीं सेवक फिरै उदास।
यही वेदना जिय में रहै दुखिया दादूदास ॥१२॥
पिव बिन पणपण भया कठिन दिवस क्यों जाइ।
दादू दुखिया राम बिन काल रूप सब खाइ ॥१३॥
दादू इस ससार में मुझ सा दुखी न कोई।
पीव मिलन के कारणो मैं जल भरिया रोई ॥१४॥
ना वहु मिलै न मैं सुखी, कहूँ क्यों जीवन होई।
जिन मुझको घायल किया, मेरी दारू सोई ॥१५॥

हिन्दी सन्तों की ऐसी विरह व्यञ्जना, जिसमें बौद्धों की 'सव्वम दुक्खम्' वाली दुखवादी छटा और सूफी दर्द का अंश काफी मात्रा में है, यदि एक ओर

रखी जाए तो उसकी तुलना में मराठी सन्तों का विरह विषयक वर्णन बहुत थोडा मिलता है। कुछ वैसी भावुकतापूर्ण आर्तता हमारे विवेच्य काल के बाद के कवि तुकाराम में मिलती है। वैसे कुछ पद इस प्रकार से हैं

मोरया गोसावी का एक विरह व्याकुलता वाला पद है

तुजविण कोण आम्हा आहे रे मोरया ॥ ध्रु ॥
तुझिया भेटीची बहु आस रे मोरया
देखिता तुज बहु दिवस जाले
रात्रदिवस बाट तुझी पाहे
जन्मीजन्मीचा तुझा दास
आणिक कुणाची चाड नाही
एक वेळ कृपा दृष्टि पाही
वेगें गेई तू लवलाही
आवागमन तू निवारी रे मोरया ॥

यह विरहिणीभाव कवयित्रियों में अधिक तीव्रता से व्यक्त होता है, जैसे सगुण भक्त मीरा में। उसी प्रकार की कुछ अभिव्यक्ति मराठी की एक कवयित्री में मिलती है—

कान्होपात्रा (लगभग ईस्वी १३८०) मगलवेढे की श्यामा नर्तकी की पुत्री थी। विट्ठल से विवाह किया, मीरा की भाँति। उसके पदों में आर्त विरहव्यञ्जना है

नको देवराया अत पाहूँ आतां। प्राण हा सर्वथा फुटों पाहे ॥ १ ॥
हरणीचें पाडस व्याघ्रे धरियेल। मजलागीं जाहलें तैसे देवा ॥ २ ॥
तुजवीण ठाव न दिसे त्रिभुवनीं। धावे वो जननी विठाबाई ॥ ३ ॥
मोकलोनी आस जाले भी उदास। घेई कान्हूपात्रेस हृदया आँत ॥ ४ ॥

यह अन्तर एक और उदाहरण से स्पष्ट होगा कि मराठी सन्तों ने अपने आराध्य को 'विठाई माउली' आदि शब्दों में माता के समान माना है। हिन्दी मर्मी सन्तों में परमशक्ति को सखा, पिता, दूल्हा, स्वामी, नाथ मानने की भावना अवश्य ही है, परन्तु माता शायद ही कहीं माना हो। मराठी भक्तों का भगवान राही रखुमाई जैसे दो पत्नियों का पति गृहस्थ विट्ठल है। हिन्दी सन्तों का परमसाध्य सूक्ष्म से सूक्ष्मतर सा हो जाता है, अत मलूकदास

आदि में जाकर ऐहिक कर्म की ओर से मुँह मोड़ने और वैराग्य का सतत उपदेश है। जगत मिथ्या है, काल बली है। ससार क्षणभगुर है। प्रेम बन्धन निस्सार है, ससार सराय है, ससार झूठा सपना और बुदबुदा है, यह बात बार बार उन्होंने कही है। अकेला ब्रह्म काल से बचा सकता है। परन्तु मराठी सन्तों में वह बात नहीं है। ज्ञानेश्वर न एकाध स्थान पर कहा है—

> जे चालणें वेगावत जावे। तो वेगु वैसाक्याचि होये।
> तैसा कर्मातिशयो आहे। नैष्कर्म्यालागीं ॥ (ज्ञा० १८।१५४)

(जो चलना वेग से बढ़ता जाए तो वेग बैठने जैसा हो जाता है। उसी प्रकार से कर्मातिशय नैष्कर्म्य के लिए है।) परन्तु यह बहुत कम बार होता है। अन्यथा सर्वदा—

> अवधियांपुरतें वोसडल पात्र। अधिकार सर्वत्र आहे येथें ॥ (तुकाराम)

तुकाराम के शब्दों में सबके लिए पात्र उमड़ रहा है, सबको यहाँ अधिकार है। या ज्ञानेश्वर में—

> जातो गृहादिक आघवे। तें काहीं नलगे त्यजावे ॥ (ज्ञा० ५।२२)
> (अब गृहादिक सब कुछ छोड़ना नहीं पड़ता।)
> मार्गाधारें वर्तावें। विश्व हे मोहरे लावावें।
> अलौकिक नोहावे। लोकाप्रति ॥ (३।१७१)

(मार्गाधार से चलना चाहिए। विश्व को मोहरा (शतरञ्ज का) समझ कर दाँव पर लगाना चाहिए। लोगों के प्रति अलौकिक नहीं होना चाहिए।)

मराठी सन्तों में इस प्रकार से यह ससार और परमार्थ दोनों को एकसाथ साधने की बात बहुत चलती है। हिन्दी सन्तों में उस पार की बात ज्यादह है। इस ससार को कभी कभी रूपक की भाषा में याद कर लिया जाता है। दादू के कथनों में बहुत कुछ परस्पर विरोध भी मिलता है।

दादू ने 'निराकार तेरी आरती, बलि जाऊँ अनन्त भवन के राइ' (पद ४४४) गाया है। और साथ हा उस निराकार के बाद वही दादू अपने यानी भक्त के शरीर के अन्दर सब कुछ ही समय पर देखता है

> काया माँहे खुले कपाट। काया माँहीं निरञ्जन हाट ॥ ७६ ॥



काया माँहे है दीदार। काया माई देखणहार ॥ ७४ ॥

ज्ञानेश्वर के ग्रन्थ 'भक्तराज' में २२४ और २२५वीं ओवियाँ हैं 'मी निराकार आकारिलो । मी अमूर्त मूर्ति जाहलों । मी सगुण होवोनि ठेलों । निर्गुणचा ॥ चहूँ खाणी मीच असें । परि अज्ञानिया केंवि दिसे । हा प्रपुचु माझेनि असे । राच जाहला ॥"

(अनेककविकृत भक्तिपरमार्थपर कविता, पृष्ठ ७३)

अ त में, शब्द के विषय में हिन्दी मराठी सन्तों म विचार भेद है। जैसे—

आम्हा घरीं धन शब्दांचींच रत्ने ।
शब्दांचींच शस्त्रें यत्न करू ॥
शब्दोच आमुच्या जीवाचें जीवन ।
शब्दें वाटू धन जन लोका ॥
तुका म्हणे पाहा शब्दचि हा देव ।
शब्देंचि गौरव पूजा करें ॥ (तुकाराम)

मराठी स तों की इस शब्द महति की तुलना में हिन्दी सन्तों की शब्द निन्दा देखिये

शब्द साखी सची नहीं प्रीति ।
जमपुर जाहि दुखा की रीति ॥ (प्राण सगली, पृष्ठ २४) (नानक)

मलकदासी स त दु खहरनदास ने यहां तक कह दिया कि—

अमर सो जाकर जग साखा । कै कछु अमर शब्द जो भाषा ॥
तेहिते शब्द कहै अब लीन्हा । मकुराहो धाय जगत मह चीन्हा ॥
(पुहुपावती)



अध्याय ३

दोनों भाषाओं के निर्गुण सन्तकाव्य के चिन्तन में अन्तर और उसके कारण

वैसे तो वेदमन्त्रों में 'अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्, अपापविद्धम्', आदि शब्द परमतत्त्व को निर्गुण बताते हैं। उपनिषदों में भी अरूप, अजर, अमर, अभय, इन्द्रियातीत निर्गुण की ओर संकेत करते हैं परन्तु भक्तिकाल में आकर निर्गुण से निराकार और सगुण से साकार अर्थ बोध ग्रहण करने लगा। भागवत धर्म प्रभु के निर्गुण और सगुण दोनों के मूल और परिवर्तित रूपों को ग्रहण करता है। एक सिद्धान्त इस प्रकार का भी है कि जैन दर्शन का आर्य चिन्तन पर जो अपरोक्ष प्रभाव पड़ा, वह इस रूप में फूट निकला। सांख्य का पुरुष प्रकृतिवाद, जैन धर्म के जीव जड़वाद के समान ही है। सांख्य अपने मूलरूप में ईश्वरवादी था, परन्तु बाद में ईश्वर को असिद्धि मानकर निरीश्वरवादी बन गया। जैन दर्शन भी आत्मा से व्यतिरिक्त ईश्वर की सत्ता नहीं मानता। इस मत में जीवात्मा ही वीतराग होकर ईश्वर बन जाता है। वैष्णवों के आचार्यों ने सृष्टि रचयिता को ईश्वर तो माना, पर अवतारवाद द्वारा यह भी सिद्ध कर दिया कि ईश्वर की जीवात्मा के व्यतिरिक्त सत्ता नहीं है।

इस प्रकार से गीता से लेकर सूर तक निर्गुण भक्ति भी भक्ति का अङ्ग मानी जाती रही। पर उसे कष्टदायक, क्लेशकारक समझा गया। गीता में कहा है—'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्' और सूरदास का पद है—'अविगत गत कछु कहत न आवै।' मराठी सन्तकवि ज्ञानेश्वर ही अन्य सन्तों की अपेक्षा, सापेक्ष दृष्टि से अधिक निर्गुण समर्थक, अद्वैतवादी हैं। ज्ञानेश्वर के चिन्तन के विषय में विभिन्न मत इस प्रकार से हैं। स्वर्गीय भारदे उर्फ भारद्वाज ने

'सुधारक' के १८९८, ९९ के अकों में 'ज्ञानदेव व ज्ञानेश्वर' शीर्षक से ग्र थ लिखा और कहा कि ये दोनों भिन्न कवि थे। ज्ञानेश्वर आदिनाथपथी था और ज्ञानदेव रामान द सम्प्रदायी। पृष्ठ ४६ पर उन्होंने लिखा है कि ज्ञानदेव के मन का झुकाव अद्वैत की अपेक्षा द्वैत की ओर अधिक था। उसी ग्र थ में (पृष्ठ १२३) वे लिखते हैं, 'ज्ञानेश्वरी ग्रन्थ ज्ञानेश्वर ने सब प थों के लोगों के लिये लिखा और परोपकारी भावना से लिखा। अमृतानुभव उसने अपने नाथसाम्प्रदायिकों के लिये लिखा। अधिकारसापेक्ष सगुणोपासना चाहे व्यक्त हो फिर भी ज्ञानेश्वर स्वयम् निर्गुणोपासक थे।' परन्तु रा० द० रानडे इस मत के विरुद्ध हैं। 'मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र' में इसकी पृष्ठ ३८–४४ तक चर्चा की है। वारकरी समाज में प्रचलित विश्वास यह है कि ज्ञानेश्वरी का खण्डन ज्ञानेश्वर ने अमृतानुभव में किया है (भिंगारकर, पृष्ठ ८०)। बालशास्त्री हुपरीकर ने १९०३ में 'ग्रन्थमाला' में सिद्ध किया कि ज्ञानेश्वर शकर के अनुयायी नहीं हैं। १९२१ में पाडुरग शर्मा ने इस विषय पर और चर्चा की और कहा १ ज्ञानेश्वरी में ज्ञानेश्वर टीकाकार हैं, स्वत त्र ग्रन्थकार नहीं। २ ज्ञानेश्वर का दर्शन विष्णु स्वामी परम्परा में वल्लभ साम्प्रदायिक है। ३ 'भाष्यकारात वाट पूसूत' जब वे कहते हैं तो अकेले शकर से उनका मतलब नहीं है। ४ विट्ठलप त यानी ज्ञानेश्वर के पिता सन्यासी होकर गृहस्थाश्रमी यानी पतित थे, इसलिए रामानुज की ओर मुडे। रामानन्द के वे शिष्य थे, अत रामानुज सस्कार ज्ञानेश्वर पर है। गीता के द्वितीय अध्याय, ४६ वें श्लोक का अर्थ उन्होंने रामानुजीय ढग से किया। ५ शकराचार्य से भिन्न गीता के कई विभाग ज्ञानेश्वर ने किये। ६ अमृतानुभव शकर मतप्रतिपादक नहीं है। ७ द्विचन्द्र ज्ञान सख्याति है, अज्ञान नहीं, यह रामानुजीय प्रतिपादन का 'नाना चादु एक असे' (अमृतानुभव ७–४५, ९०) से साम्य शब्द अर्थ दोनों में है। ८ आठ तरह से ज्ञान की अनुपपत्ति रामानुज की भांति ज्ञानेश्वर ने भी दिखायी है।

डा० श० गो० पेंडसे ने अपने ग्रन्थ 'श्री ज्ञानेश्वराचें तत्त्वज्ञान' में शकराचार्य और ज्ञानेश्वर के बीच में जो और सूक्ष्म भेद हैं, उनका विवरण दिया है—

शंकराचार्य	ज्ञानेश्वर
१ पुरुष सोपाधिक और प्रकृति उपाधि।	१ 'वोहरे' निरुपाधिक।
२ दोनों तत्व भिन्न।	२ दोनों तत्व एक।
३ पुरुष विषयी प्रकृति विषय।	३ दोनों एक दूसरे के विषय।
४ जगदाद्य पुरुष प्रकृति।	४ कहीं भी पुरुष प्रकृति समाकरण नहीं कहते। केवल अनुभवामृत में (१ २०) 'पुरुष' शब्द है।
५ शक्ति अनादि है।	५ शक्ति 'शिव घडिली' (शिवनिर्मित) है।
६ ईश्वर को माया के बिना कर्तृत्व नहीं है।	६ ईश्वर को मायाविरहित स्वतन्त्र कर्तृत्व है।
७ जगदाद्य प्रपचपोषक है।	७ जगदाद्यदाम्पत्य प्रपचवृक्ष के वैरी हैं।
८ अध्यात्मवाद।	८ समीर गति, सुवर्ण कान्ति, कस्तूरी परिमल, अग्नि उष्णता का दृष्टान्त देकर अध्यात्मवाद को टाला।
९ ज्ञान को मोक्षकारक मानते हैं। त्रिपुटी से अद्वैत नष्ट होता है।	९ ज्ञान और योग को साथ साथ मोक्ष-कारक और त्रिपुटी अद्वैत में ही है, ऐसा मानते हैं।

इस प्रकार डा० पेंडसे के अनुसार ज्ञानेश्वर पांचरात्र सिद्धान्त के निकट हैं। पांचरात्र और रामानुज का वल्लभ से भी अधिक उपकार्योपकारक भाव है। ज्ञानामृतसंहिता, वल्लभ के अणुभाष्य और अमृतानुभव में साम्य है। देवोदेवी, प्रिय प्राणेश्वरी, सवित आदि शब्द ज्ञानामृतसार में आये हैं। ज्ञानेश्वर ने शिव और ब्रह्म शब्द आचार्य से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त किये हैं। डा० लौंढे के अनुसार ज्ञानेश्वर द्वैताद्वैती थे।

इस प्रकार से सूक्ष्म दार्शनिक चिन्तन और तदनुकूल काव्य सौष्ठव, दृष्टान्त वैपुल्य मराठी सन्तों में मिलता है। जनी जनार्दन (समाधि, १६०१ ईस्वी) के 'निर्विकल्प ग्रन्थ' या 'उद्धवबोध' की पोथी 'भुवनदासपठनार्थ

दशरथशेट चादवडकर' ने १७७४ ईस्वी में लिखी। उसमें परमात्मा सृष्टि से अलिप्त और व्यापक कैसे है, इस पर उत्प्रेक्षाएँ दर्शनीय हैं—

जैसे अग्निविना। लोहो न पिटवे जाणा।
परतु लोखडासि अग्नि जाना। अलिप्त असे ॥ २४६ ॥
कि फुलाचा परिमळु जैसा। फुली सामावली आपैसा।
अलिप्तरूपें जैसा। फुली असे ॥ २४७ ॥
अक्षरामाझारी। अर्थ जैसा निर्धारि।
ऐसा असे मी मुरारि। व्यापकपण ॥ २४९ ॥
अक्षर पुसिता काहीं। अर्थ जैसा गेला नाहीं।
ऐसा मी सर्वदेही। व्यापक असे ॥ २५१ ॥

(अर्थ 'जैसे अग्नि के बिना लोह पीटा नहीं जा सकता। पर तु लौह से अग्नि अलिप्त होता है। अथवा फूलों का परिमल जैसे फूलों में सहज सव्याप्त होता है, पर तु फिर भी फूलों से अलिप्त होता है। अक्षरों के बीच में अर्थ जैसे निश्चित है, ऐसा ही मैं मुरारी सर्वव्याप्त हूँ। अक्षरों को पोछ देने स अर्थ तो नहीं चला जाता। उसी प्रकार से मैं भी सर्वदेह में व्यापक हूँ।')

मराठी स तों मे इस प्रकार से वेदान्त की भी बहुत सी छटाएँ, बौद्धिक विवेचना, तर्कपूर्ण खण्डन तक मिलता है। हि दी सन्तों मे अधीत कोई नहीं थे, शास्त्रवचनों से उनका परिचय केवल सुनी सुनाया बातों के आधार पर था। बल्कि ग्रन्थ प्रामाण्य का तो वे घोर विरोध करते थे कबीर ने 'आंख देखी' कही, और लोग तो 'किताब की लेखी' कहते थे, और नानक ने तो यहाँ तक कह दिया कि 'मुसल्ला फोड़, तसबीह तोड़, किताबें डाल पानी में।'

इस पहले बडे अ तर के बाद दूसरा जो बडा अन्तर मराठी और हिन्दी स न्तों के चि तन में मिलता है, वह है अनार्य प्रभाव और आर्यप्रभाव की परम्परा के कारण। जैसे कि पहले हम कह आये हैं 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द' के अनुसार वस्तुत यह निर्गुण सम्प्रदाय मूलत दक्षिण की उपज है। धीरे धीरे वह उत्तर की ओर आया। उसमें नाथपन्थी, बौद्ध शून्यवादी और तसव्वुफ के ताने बाने घुलने मिलने लगे और यह सन्तों का बड़ा सा विचार पट बुना गया। कबीर से लेकर मलूकदास तक, जो चिन्तन हमें मिलता है, उसमें इसी कारण से शाक्त उपासना के सूत्र कम मिलते हैं।

देहातियों की अन्ध विश्वास वाली बात कम मिलती है। दृष्टान्तों में भी ग्रामदेवताओं का उल्लेख प्राय नहीं के बराबर है। उत्तर भारत के सन्तों का चिन्तन प्राय एक से स्तर पर रहा है। कबीर, दादू, सुन्दरदास, जगजीवन राम, दरिया साहब, पलटू प्राय एक ही सी शब्दावली की पुनरावृत्ति करते हैं। उनके लिए संसार महा जंजाल है, मोक्ष का मार्ग भी प्राय एक सा है। परन्तु महाराष्ट्र के सन्त चिन्तन में यह बात नहीं है। उनके मोक्ष सम्बन्धी उद्‌गार भिन्न प्रकार के हैं। उनमें इतनी अधिक पुनरावृत्ति नहीं मिलेगी। ज्ञानेश्वर और नामदेव, एकनाथ और तुकाराम के तर्क, विवेचन पद्धति और उसके लिए जो उदाहरण वे चुनते हैं, सब भिन्न भिन्न व्यक्तित्वों की छाप लिये हुये हैं। विख्यात नृशास्त्रविशेषज्ञा डा० इरावती कर्वे की पुस्तक 'मराठी लोकांची संस्कृति' की आलोचना करते हुए दुर्गा भागवत कहती हैं 'हमारे रीति रिवाज और देवताओं पर दक्षिण का बहुत अधिक प्रभाव है। महाराष्ट्र, कर्नाटक और तैलंगन भाषा से भिन्न हों तो भी अन्तर से एकरूप है। ग्रामदेवताओं का इतिहास यह सिद्ध करता है। महाराष्ट्र, कर्नाटक, तैलंगन की स्त्रियों की साड़ी पहनने की पद्धति एक सी है। चोला, कसोटा एकसा है। कुंकू लगाने की, मंगलसूत्र पहनने की वही रीति है। खानपान एकसा है। चटनी और पकवान परोसने की पद्धति एकसी है। महाराष्ट्र का खंडोबा दाक्षिणात्य देवता है, ऐसा डा० केतकर कहते हैं। हमारी देवीपूजा दाक्षिणात्य पद्धति की है। बंगाली पद्धति की शाक्त नहीं है। धर्म के मामले में शैव और वैष्णव पंथ का एकीकरण ज्ञानेश्वर के कारण हुआ। महाराष्ट्र भाषा के उच्चारण पर भी गुजराती कन्नड का असर है, विशेषतः 'चवर्ग' के उच्चारण पर।' (सत्यकथा जुलाई १९५२)

तीसरा अन्तर परमावस्था या ज्ञान और ध्यान संयोग के विचार के सम्बन्ध में है। मराठी सन्तों में निर्गुण सगुण एकाकारिता का संकेत है। 'ज्ञानेश्वर महाराजांच्या अभंगांची गाथा' में पृष्ठ ५६ पर एक अभंग है, जिसे योगपर कहा गया है 'निर्गुणाचें रंगी रंगले हें मन। सावळें सगुण ब्रह्म तेंची॥ १॥ मताभिमानी ऐसा विश्वास न धरिती वचनीं। निर्गुण सगुण दोन्हीं भिन्न असती॥ २॥ और पृष्ठ २४३ पर अद्वैतपर अभंग में वही ज्ञानेश्वर कहते हैं 'निर्गुणीची छाया सगुणीं बिंबली। तत्वीं तत्वें गेलीं

अनुठाया ॥ १ ॥ निश्चलीं निश्चले लगे वलुमाळ । तत्वता आढळ तें वेगळेंची' निर्गुण को ही सगुण में देखने की बात हिन्दी सन्तों में नहीं है । वहाँ इस प्रकार की परस्पर विसगत जान पडनेवाली खाई सन्तों ने विचार द्वारा पाट दी है । डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल के मरणोपरान्त प्रकाशित ग्रन्थ 'मकरद' म पृष्ठ २५ २६ पर हिन्दी निर्गुण सन्तों की उन्मन दशा का अर्थ दिया गया है ।

जिस उन्मन दशा तक पहुँचने का प्रयत्न निर्गुणी सन्त करता है, यह एकान्त मनोनिग्रह पूर्वक प्रेमपुष्ट स्थिर विचार और ध्यान का परिणाम है । यह बात ठीक है कि इसके लिए योग की क्रियाओं का भी सहारा लिया जाता है, परन्तु गुलाल ने स्पष्ट शब्दों में कहा है

अर्ध उर्ध को खेल कोऊ नर पावई ।
चाँद सूर को बाँध गगन से जावई ॥
इगल पिंगल दोउ बाँधि सहज तब आवई ।
कह गुलाल हर रोज आनन्द तब आवई ॥[१]

परन्तु साथ ही ध्यान और विचार की भी सहायता ली जाती है, वे त्याग नहीं दिये जाते । 'ज्ञान' शब्द, जो सहजानुभूति के पर्याय के रूप म ग्रहण किया गया है, उसकी विचारानुसारिता की ओर सकेत करता है । अपनी आलकारिक वैकुण्ठ यात्रा के लिए कबीर हाथ में प्रेम का कोडा लिये सहज हो रकाब पर पाँव रखकर विचार तुरग पर सवार होते हैं ।[२] कबीर ने स्पष्ट शब्दों में ही कहा है—'रामरतन पाया करत विचारा'[३] और 'प्रगटे विश्वनाथ जग जीवन में पाये करत विचारा' ।[४] एक और पद में कहा गया है 'आप विचारे ज्ञानी होई' ।[५] सहज भाव की प्राप्ति मानसिक व्यापारों को काम म लाकर

१ बानी, पृष्ठ ६७, १७ ।

२ अपने विचारिं असवारि कीजै, सहज के पावड पाव जब दीजै ।
चलि बैकुठ तोहि ले तारौं, थकहि त प्रेम ताजनै मारौं ॥
(कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ६९, ७५)

३ वही, पृष्ठ ३१५, १६१ । ४ वही, पृष्ठ १७९, २६७ ।

५ कबीर ग्र थावली, पृष्ठ १०२, ४२ ।

आदि ग्रन्थ में यह पूरा पद नानक (प्रथम गुरु) नाम से दिया हुआ है, आदि ग्रन्थ, पृष्ठ ८१ (वैद्य का तरनतारन सस्करण) ।

उनसे ऊपर उठने से ही हो सकती है, उसका सर्वथा बहिष्कार करने से नहीं। दादू ने इसीलिए विचार को सब व्याधियों का एकमात्र औषधि कहा है। उनकी सम्मति में करोड़ों आचारी भी एक विचारी की बराबरी नहीं कर सकते। आचार का पालन तो सारा जगत कर लेता है, पर विचारी कोई विरला ही हो सकता है।[1] परन्तु सहजानुभूति के क्षेत्र में विचार नहीं पहुँच पाता। उसका बहिष्कार नहीं किया जाता, वह नीचे ही रह जाता है। क्योंकि वह व्यावहारिक है। इसी से कबीर ने कहा है, जब ब्रह्म का साक्षात् हो गया तब विचार का क्या काम? व्यवहार तो अब कोई रह ही नहीं गया। और इसी को ध्यान में रखकर सत्संगत शिवदयाल जी ने भी कहा है कि परमपद में केवल सत्य नाम है, वहाँ विचार का कोई काम नहीं। विचार का काम माया के क्षेत्र तक है जहाँ बूँद सिंधु से अलग है। इसलिए जिन्होंने यह समझा कि विचार को लेकर हम परमपद रूप सागर में पहुँच जाएँगे वे धोखे में आ गये और बूँद ही के क्षेत्र में रह गये। जीव दशा से छुटकारा न पा सके।[2]

सहजानुभूति को जगाकर जो संत ब्रह्म समाधि में लीन हो जाता है, वह संसार से अलग पहचाना जाता है। उसके सम्बन्ध में कोई गलती नहीं हो सकती। उसका प्रेमोज्ज्वल परमार्थी रूप छिपा नहीं रह सकता

> अनुभव प्रेम उज्जवल परमारथ रूप अलग दरसाव।
> कह भीखा वह जागरत जोगी सहज समाधि लगाव॥[4]

---

१ दादू सबही व्याधि की औषधि एक विचार।
समझे ते सुख पाइए, कोइ कुछ कहै गवार॥
कोटि आचारी एक विचारी तऊ न सरभरि होइ।
आचारी सब जग भरया, विचारी विरला होइ॥

२ अब क्या कीजै ज्ञान विचारा, निज निरखत गत व्यौहारा॥
(कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०४, २८)

३ हमरे देश एक सत नाम, वहाँ विचार का कुछ नहीं काम।
कर विचार इन धोखा खाया, बुंद माहिं यह नाय समाया॥
(सार वचन, २ य, पृष्ठ ७९)

४ बानी, पृष्ठ २५, २।

उसके प्रत्येक सासारिक कृत्य में यह सहजानुभूति परिलक्षित होती है।

अ त में दोनों भाषाओं के निर्गुण सन्त काव्य के चि तन मे एक प्रधान अन्तर श्रद्धासम्बन्धी विश्वास का ज्ञान पड़ता है। हिन्दी सन्त कबीर की श्रद्धा भक्ति में प्रेमतत्त्व प्रधान है। नारदीय भक्तिसूत्रों मे १८वाँ सूत्र 'आरम में तीव्र रति होना ही भक्ति है' कबीर में मिलता है। उनकी भक्ति पर सूफी 'इश्क' और 'खुमार' के असरात भी हैं। जैसे 'हरिरस पीया जानिये जे कबहूँ न जाय खुमार' (कबीर ग्रथावली, पृष्ठ–१६)। कबीर तो यहाँ तक कहते हैं कि 'कबीर जो तुइ साथ पिरम की सीस काटि कर गोइ।' कबीर की निर्गुण भक्ति को इसीलिए पराभक्ति के समान अहैतुकी और अव्यक्तहित माना गया है। वह भक्ति निष्काम और त्रिगुणातीत है। प्राय सभी निर्गुणियों की श्रद्धा यों श्रद्धास्थान की अपेक्षा विरहित आत्मनिष्ठ है।

मराठी स तों की बात ऐसी नहीं है। यहाँ श्रद्धा विषय की अपेक्षा से कम अधिक हो सकती है। वह औचित्य भी देखती है, स्थल काल का।

उदाहरणार्थ मराठी स त एकनाथ ने कहा है

नवलश्रद्धेचे लक्षण। ब्रह्मा मुगी समसमान।
तरी यथोचित विधान। सर्वथा जाण चुकेना॥
एका अन्न आच्छादन। एकारी ते कोरडे कण।
एका तृण आणि जीवन। एका पयपान यथोचित॥
जेणे ज्यासी सुख सम्पूर्ण। तें उचित श्रद्धे जाण।
अनुचित श्रद्धेचें विंदान। दु खकारी पूर्ण सवार्थी॥
जेवी ब्राम्हणा वाढिलें तृण। गाईस वाढिलें मिष्टान्न।
श्वानासि बेसका सिंहासन। साधूसि आसन थारोळा॥
"याघ्रासि पडिल्या लघन। त्यासि अर्पू नये गोदान।
गाये गांदण्या सम्पूर्ण। तैलाभ्यगन करू नये॥
करिता यथोचित अर्पण। जरी क्रिया हो भिन्न भिन्न।
तरी अतरश्रद्धा अभिन्न। हें मुख्य लक्षण भागवतधर्मी॥

(एकनाथी भागवत, ३, ३७०,, ३७२–५, ३७७)

अर्थात् 'श्रद्धा का लक्षण अजब है। ब्रह्म और चींटी का समसमान है। तो भी यथोचित विधान सर्वथा गलत नहीं होता। एक को अन्न और आवरण होता है, तो एक को सूखे कण होते हैं। एक को तृण और जीवन होता है तो एक को यथोचित पयपान मिलता है। जिससे जिसका सुख सम्पूर्ण हो वही उचित श्रद्धा जानिये। अनुचित श्रद्धा का उपयोग दु:खकारी पूर्णसर्वार्थी है। जिस प्रकार से ब्राह्मणों को चारा दिया जाए और गाय को मिष्टान्न परोस दिया जाए या श्वान को सिंहासन पर बैठाया जाए और साधू को आसन घूरे में दे दिया जाए। व्याघ्र को लंघन होने में उसे गोदान नहीं दिया जाता। गौ पूरी तरह गंदी होने पर उसे तेल मालिश करके नहीं नहलाते। भागवत धर्म का मुख्य लक्षण ही यही है कि यथोचित अर्पण में भी क्रिया भिन्न भिन्न होने पर अन्तर श्रद्धा अभिन्न रहती है।'



अध्याय ४

कबीर और चक्रधर का तुलनात्मक अध्ययन

प्रस्तुत लेखक के मन म बहुत वर्षों पूर्व 'सरस्वती' म छपे और अब 'मकरद' में सग्रहीत डा० बडथ्वाल के 'कबीर और गाँधी' नामक निब ध की गहरी छाप है। और सन् ४६-४७ में वैसा ही एक निबन्ध 'मौज' के विशेषाक में श्री अ० का० प्रियोळकर का पढ़ा—'चक्रधर और गाँधी।' तब से दोनों स तों के तुलनात्मक अध्ययन की बात मेरे मन में बहुत दिनों से थी। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'कबीर' और वि० मि० कोलते के 'चक्रधर चरित्र' तथा हरिभाऊ नेने के 'सूत्रपाठ' आदि ग्र थों के अध्ययन से यह कार्य आगे बढ़ा। अब यहाँ सक्षेप म दोनों के जीवन और कृतित्व क साम्यस्थल और अ तर की चर्चा करूँगा।

पहला बडा भेद तो यह है, कबीर थे निर्गुणिये, चक्रधर थे सगुणो पासक, यानी यहाँ तक कि उनके शिष्य और जनता उन्हें श्रीकृष्ण का अवतार मानती थी। कबीर ने 'मसि कागद नही छुआ' तो चक्रधर वेदोपनिषदाधीत थे। कबीर जात के जुलाहे थे, चक्रधर या हरपालदेव गुजरात के भरवस गाँव के मत्री विशालदेव और मल्हाइसा के पुत्र थे। तालस्वाय की तरह चक्रधर जीवन में 'काउंट' थे। कबीर का किसी राजघराने का कोई सम्बन्ध नहीं रहा। परन्तु भिन्न उत्सों से, मूलबिन्दुओं से शुरू होकर कबीर पन्थ और महानुभावों के आचारधर्म में विलक्षण समानता है। चक्रधर के पथ में सर्वसग परित्याग, विकारशू यता, विकल्पशू यता, स्वभावमात्रा, अटन विजन, नाम माहात्म्य, विरह का माहात्म्य पाया जाता है, कबीर और उनके अनुयायियों में भी इन्हीं सब बातों की वैसी ही महत्ता है। चक्रधर ईश्वर स्वरूप को अव्यक्त, अनादि, अच्युत, अविक्रिय, अनन्त, अमूर्त, आनन्दमय,

केवल नित्य, निरभिमानी, निर्गुण तक मानते हैं। कबीर ने जिस तरह से 'गुण म निर्गुण, निर्गुण म गुण, राट छाडि क्या जहिए' (कबीर ग्र०, पृ०–१४९, पद–१८०) कहा उसी प्रकार से महानुभावों ग्रंथ 'ज्ञानप्रबोध' में सूत्र है 'प्रकृतिमाजी अग्नीनि न मेळ, गुणधर्मा तियचा' (ज्ञा० प्र०, ५५८)।

कबीर और चक्रधर की चिन्तनपद्धति में इतना साम्य है कि दृष्टान्त तक दोनों के एक से हैं। कबीर ने कहा है 'अवगति की गति का कहूँ, जिस का गाँव न ठाँव। गुरु बिहूँन का पखिये काकर धरिए नाँव ॥'

(क० ग्र०, पृष्ठ–२३९)

और श्वेताश्वतरोपनिषद के 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' की भाँति कबीर का निर्गुण वर्णन विभावनात्मक या नकारात्मक है। यथा (१) 'बिन मुख खाइ चरन बिन चालै बिन जिह्वा गुण गावै' (क० ग्र०, पृ० १४०) (२) 'ना तिस सबद न स्वाद न सोहा। ना तिहि मातपिता नहिं मोहा ॥'

(क० ग्र० पृ० २४३)

इसकी तुलना में चक्रधर का एक दृष्टान्त देखिये—

१ कव्हणी एकु दुधाचे गुण वासेरा अनुमोदीत होते तेथ जात्यंधु आला होता। तेण पुसिले हा गा दूध तें कैसे दूध तें पाढर पांढरे ते कसें पाढरें त वळहेसारीखे बळहे ते कैसी बळहे त रूमण या सारीखी रूमणे तें कैसे रूमणे त ऐसें मणोनि हातु वांकुडा करूनि माहाल। एकु दासु तेण रूमणं कोठा देखीलें तथा आगणीं देखीलें हातु वाकुडा करूनि पाहिला दूध तें हें मणौनि पेवों लागला हीरडीया फुटति रगत नीगे। आरे हें काई करीतासि ना दूध पीताये। आरे साडि साडी हें रूमणें, हीरड्या फुटति ना माझेनि बापें सांगितलें दूस होय परि न सडी ॥'

इस दृष्टान्त पर केशिराज ने यह दार्ष्टान्तिक दिया है

२ तैसे कव्हणी एकु इश्वराचे गुण विशेखु अनुमोदीत होते तेथ कठीया वेसला होता। तेण पुसिलें हा गा परमेश्वरु तो कैसा जैसा कलास वैकुंठीचा ब्रह्मा विष्णु महादेवो। ब्रह्मा तो कैसा जैसा आयुध्येचा रामु। रामु तो कैसा मग द्वीभुज चतुर्भुज मणौनि प्रतिमा दाखवी। मग तेथ तो राहे

झाडी सडा समार्जन करी पाला तोडी तेण अधिका नरकचि होति। मणौनि हेतुगर्भीत हींसा ॥'

(दृष्टान्तपाठ, पृष्ठ–२०)

अर्थ १ कोई एक दूध के गुणों की विशेष प्रशसा कर रहा था। वहाँ एक ज माध आया उसने पूछा दूध कैसा है? तो उत्तर मिला, दूध सफेद है। दूध सफेद कैसे है? सफेद बगुले जैसा। बगुला कैसा होता है? 'रूँभणे' (लकड़ी के हत्थेवाले छोटे बक्खर) जैसा। रूभणा कैसा? तो हाथ टेढ़ा करके उसने बताया। एक बार उसने वह टेढ़ा बक्खर आँगन में देखा। दूध समझ कर वही पीने लगा। उसके मसूडे सूज गये, खून निकलने लगा। लोगों ने पूछा अरे, यह क्या कर रहे हो? उत्तर मिला, दूध पी रहा हूँ। अरे छोड दे, छोड़ दे यह बक्खर। मसूड़े फूट जाएँगे। उत्तर मिला, नहीं मेरे बाप ने कहा है। जब तक दूध नहीं निकलेगा, मैं नहीं छोड़ूँगा।

२ उसी प्रकार से कोई ईश्वर के गुणों का विशेष बखान कर रहा था। तो वहाँ पुजारी बैठा था। उसने पूछा यह परमेश्वर कैसा है? जैसे कलास बैकुठ का ब्रह्मा विष्णु महादेव। ब्रह्मा कैसा? जैसा अयोध्या का राम। राम कैसा? तो द्विभुज, बाद म चतुर्भुज प्रतिमा दिखलायी। तब वह वहीं रहने लगा। झाड़ू लगाने लगा। गोबर से लीपकर आँगन बनाया। कद मूल फल तोडे। इस तरह से और नरक बढ़ गया। इसलिए हिंसा हेतुगभित है।

कबीर और चक्रधर के तुलनात्मक अध्ययन के पूर्व दोनों के समय कौनसी सामाजिक राजनैतिक परिस्थितियाँ थीं, इसका विचार करें। दोनों के जन्म काल के विषय में विद्वानों में ऐक्यमत नहीं है। परन्तु डा० कोल्ते चक्रधर का समय शके ११८९ से ११९६ तक मानते है। और डा० गोवि द त्रिगुणा यत सवत १४५५ से १५७५ मानते हैं। तात्पर्य दोनों के बीच में प्राय १२४ वर्षों का व्यवधान मात्र है। परन्तु दोनों के समय जो राजनैतिक असुरक्षितता और पस्तहिम्मती पायी जाती है, और जैसी सामाजिक असमानता, विशेषत शूद्रों के प्रति जैसा अन्याय मिलता है उसमें बडी समानता है। मैं कुछ उदाहरणों से अपनी बात स्पष्ट करता हूँ।

कबीर	चक्रधर
१ राजनैतिक स्थिति	**१ राजनैतिक स्थिति**
मुहम्मद तुग़लक (१३२५-५३) के बाद तमूरलग का आक्रमण (१३९८) और उसके बाद बहलोल लोदी द्वारा देश को एकसूत्र में बाँधने का यत्न। सिकन्दर लोदी के धर्मान्तर के विषय में अत्याचार कबीर के शिष्य बोधन (इलियट एन्ड डाउसन लोधन कहते हैं) को मरण स्वीकार करना पड़ा। इस सारे आक्रमण के फल स्वरूप एक ओर हिन्दू मुस्लिम सामंजस्य की आवश्यकता बढ़ी। 'निरुत्साह के फलस्वरूप धर्म की ओर हिन्दू समाज की अभिरुचि बढ़ी। धर्म भी सगुणोपासना में असमर्थ होने से निर्गुणोपासना की ओर झुका।' (कबीर की विचारधारा, पृष्ठ ७९)	डा० तुळपुळे के अनुसार १२७८ के करीब रचे गये 'लीळाचरित्र' और 'गोविंद प्रभु चरित्र' ग्रन्थों से पता चलता है कि यादवकालीन महाराष्ट्र कृषि प्रधान था। किसान कर्ज करके अपनी खेती किया करते थे। किसान या गँवार के अर्थ में 'तुनकार' एक हीनताद्योतक शब्द था। उस समय समतीर से गुजरात और उज्जैन की ओर कपड़े का व्यापार करनेवाले 'वाँढ' थे, छोटी छोटी दूकानें चलानेवाले 'दुमा' थे, बैलों पर अनाज बेचने ले जाने वाले 'भुसारी' थे, किरानियों को 'वमजू वेसरू' कहते थे, घोड़े बेचने वालों को 'हेडाऊ'। सर्राफों का भी वर्णन मिलता है। सामाजिक सुरक्षितता बहुत कम थी। बटमार (चोर पेंढार) थे। 'राज्यांतर' हुआ करते थे, आमणदेव की आँखें निकालकर रामदेवराय गद्दी पर बैठता था। रात की गश्त करने वाले 'तराके' थे। महाजनों की ओर न्याय देने का अधिकार था। स्मार्तों को बुला कर, 'निबंध' (शास्त्राधार) निकलवाकर एक चमार को चूने के ढेर पर बैठाकर ऊपर पानी की मशाल छोड़ी गयी। अपराधियों को कड़ा दंड दिया जाता था।

२ सामाजिक स्थिति

डा० कुरैशी के 'एडमिनिस्ट्रेशन आफ सुलतानेत आफ देहली' ग्रन्थ के अनुसार हिंदू धर्म की वर्ण यवस्था और जात पाँत इतनी बढ गयी थी कि द्विज म्लेच्छों की छायामात्र से घृणा करते थे (पृ० २२७)। और डा० ताराचद के 'भारतीय सस्कृति पर इस्लाम के प्रभाव' ग्र थ म पृ० १०४ पर 'शूद्र के ब्राह्मण भी शिष्य होने लगे थे' ऐसा कहा गया है। मुसलमानों की भी विलासिता बढ़ रही थी। फीरोज तुगलक के मत्री खाने जहाँ और हरम और मुद्रा विभाग के प्रमुख कादरशाह का प्रपच करके धनार्जन इसके प्रमाण है। इसी कारण से सुधारक सतों को समाज में बहुत सा सघर्ष मोल लेना पड़ता था, हिंदू और मुस्लिम दोनों ही ओर।

२ सामाजिक स्थिति

यादवकालीन महाराष्ट्र में जाति भेद तीव्र था ब्राह्मण की स्त्रियाँ कुनबी के घर मे खा नहीं सकती थीं। बनिये के घर जीमने के बाद भी चक्रधर के पैरों का तीर्थ 'पेट पवित्र करने के लिये' पिया जाता था। एक मदिर का पुजारी गूजर था। लुहार अछूत थे, परन्तु उनकी स्त्रियों के साथ सवर्ण विवाह करते थे। श्मशानवस्त्र के अधिकारी महार (डोम) थे। मातग या 'माग' देवालय के कलश को दूर से जोहार करते थे। मागों के लिए अलग प्याऊ थी, कही वे पानी के बिना तिलमिलाते थे। 'शूद्र सुखानुवाद' लीला से ज्ञान पडता है कि शूद्र अल्पसंतुष्ट थे। शूद्र शैवपथी थे, सोरटी सोमनाथ, आवढे का नागनाथ, परली के बैजनाथ का आराधन करते रहते थे। कोली, ग्वाला, तेली और कुम्हार के उल्लेख मिलते है। आध्र देश के '<u>तिलमारा</u>' तेली लिंगोपासक थे। कोली स्त्री से 'घरवात' या विवाह निंदास्पद माना जाता था। छूआछूत भी बहुत थी।

३ धार्मिक स्थिति

जनसाधारण में सहजयान, वज्रयान, निरजनपथ, बाउल सम्प्रदाय आदि कई नास्तिक मत चल रहे थे। वाममार्ग भी जोरों पर था। उधर शकर और परवर्ती आचार्यों ने अपने अपने मतवाद प्रचारित करना आरभ कर लिया था। शकर ने विवेक या ज्ञानयोग पर बल दिया, अन्य सभी आचार्य भक्तिमार्गी थे।

२ धार्मिक स्थिति

बारहवीं शती के अंत तक शैव मतों का ही प्रभाव था। वैसे अधविश्वास भी थे और ग्राम देवताओं की भी पूजा होती थी। परन्तु बौद्ध प्रभाव कम। नास्तिकता की ओर झुकाव प्राय नहीं के बराबर था। डा० कोल्ते के अनुसार महाराष्ट्र में जैन, लिंगायत, नाथपथी, आगमिक, सिद्ध, वैदिक, पयोव्रती, मासोपवासिनी, सब ही थे।

(चक्रधर चरित्र, पृष्ठ २४२)

चक्रधर और कबीर के जीवन में जो दो चार साम्य स्थल मिलते हैं, वे हैं, दोनों के सम्बन्ध में चरितविषय सामग्री का बहुत कम मिलना दो विवाह, वैराग्य ग्रहण, पर्यटन, गुरु परपरा मानना, और चमत्कार दिखाना।

दोनों के जीवन में स्पष्ट अन्तर के स्थल इस प्रकार से हैं कबीर निरक्षर थे, उनका ज्ञान सब श्रुतज्ञान था। चक्रधर ने बहुत सा ग्रथाध्ययन किया। कबीर ने जाति पाति का कड़ा विरोध किया, चक्रधर ने छूतछात का थोड़ा सा विरोध किया है, परन्तु अधिकतर वे लीक लीक ही चलते हैं।

हाँ, दोनों की स्वभाव वृत्ति में बड़ा साम्य मिलता है अहिंसा के प्रति प्रेम दोनों में बहुत था। भूतमात्र पर अन्याज प्रेम, पशुपक्षियों के प्रति प्रेम कबीर और चक्रधर दोनों में मिलता है। दोनों में बेलाग फक्कड़पन खूब था।

कबीर और चक्रधर के दार्शनिक विश्वासों में जो साम्य या अन्तर है वह इस प्रकार से है

कबीर

'सर्वभूतै एकै कर जान्या चूके बाद विवादा' (क ग्र पृ० २९४) 'लोगा भरमि न भूलहु भाई । खालिकु खलक खलकु महि खालिक पूर रह्यो सब ठाई ।' (पृ० २६८) 'जोगी गोरख गोरख करै, हिंदू रामनाम उच्चरै । मुसलमान कहै एक खुदाई, कबीर का स्वामी घट घट रह्या समाई (२००) ब्रह्म निराकार है । 'अलख निरजन लखे न कोई निरभय निराकार है सोई' (२३०) वेद विवजित, भेद विवर्जित, बिवजित पाप रु पुन्य । ज्ञान विवर्जित, भेद विवर्जित विवर्जित अस्थूल सून्य । भेष विवजित, भीख विवजित, विवजित ड्यमक रूप । कहै कबीर तिहु लोक विवजित ऐसा तत्व अनूप ॥' (१६२)

ब्रह्म का अव्यक्त रूप कभी कभी शब्द है, कभी शून्य है, कभी अनिर्वचनीय तत्व है ।

कबीर द्वैत के घोर विरोधी थे । जो द्वैत को मानते है वे उनके अनुसार स्थूल बुद्धि है । जीव की अनेकता नहीं मानते । जीव ब्रह्म का ही अश है ।

कबीर के मोक्ष सबधी सिद्धातों पर बोद्धों के निर्वाण का प्रभाव है । कबीर का आग्रह अतर्मुख साधना पर अधिक है, बाह्याचारों पर कम ।

अतिम बातों में वे चक्रधर के समान ही हैं उ होंने निरी अधी पाहनपूजा का विरोध किया है । जात पाँत वे नहीं मानते थे । स्त्री के प्रति वे चक्रधर से अधिक कठोर हैं । इसी से उनकी कोई भक्तिन नहीं ।

चक्रधर

मूल पदार्थ चार जीव, देवता, प्रपच, परमेश्वर । ईश्वर ब्रह्म है, जीव अनत होने पर भी एक हैं । ये चारों पदार्थ अव्यक्त हैं । देवता कर्मभूमि की १३ कोटि हैं, अष्टी देवयोनी १३ कोटि है अतराल स्वर्ग, सत्य कैलास वैकुठ, क्षीरा धी, अष्टभैरव । विश्व, माया के अलग अलग देवता है । माया की देवता एक है । ईश्वर स्वरूप में विरुद्ध धार्मित्व है । वह अविक्रिय होकर भी सर्वकर्तृत्वमय है, निर्गुण होकर भी माया सबध से सगुण है । ब्रह्मस्वरूप यथार्थत अविक्रिय, निर्गुण और सर्वधर्मशून्य है । ईश्वर स्वरूप में दो तरह के गुणधर्म हैं ।

१ स्वरूपाग, २ शक्तिरूप । सृष्टि रचना जीव को आनन्द देने के लिये है । यह रचना 'प्रपच' के आधार पर होती है । चक्रधर का दर्शन गीता के समान है । उसमें पूर्ण द्वैत और भक्ति का मिलन है । शकर का 'माया' वाद उन्हें मान्य नहीं है । उन पर बौद्ध और जैन दर्शनों का भी प्रभाव है 'दु ख रूपता' पापमूलता, अनित्यता इये तीन्ही नव्हेति तरि ससाराचीनि आणीक काहीं गोमटे असे' (विचार १९१) 'सघात' शब्द का उपयोग भी उन्होंने किया है ।

देवताओं की उपासना त्याज्य । स्त्रीशूद्रों को मोक्ष प्राप्ति का समानाधिकार । चातुर्वर्ण्य न मानना ।

चक्रधर की अनेक भक्तिनें हुईं । नागांबा, हसाबा और कई ।

दोनों की भाषा जनसाधारण के अनुरूप, सूत्रात्मक, गद्य हुई, पनी, दृष्टान्त बहुल और उपदेशपूर्ण है। कबीर ने अहिंसा के समर्थन में कहा

'बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
जो बकरी को खात है ताको कहा हवाल ॥'

चक्रधर ने अपने अनुयायियों से कहा 'ए गौनि तुम्ही ऐसेया होआवे का हा जनु तुम्हे डोइये डोइये मारील परि तुम्हा डोईचि ओडवावी की' या 'तुम्ही मारीता पूजीता समानधि होआवा का मा' (आचार ६३-६४)

श्री ज्ञानेश्वर की भी अहिंसा पर ज्ञानेश्वरी अध्याय १६ में १५४वीं ओवी है।

चक्रधर की 'असति परी' भक्ति के आचारधर्म में स्पष्ट कहा है, आहार पर नियन्त्रण रखा जाय और अपना व्यवसाय नित्य की भाँति किया जाय। कबीर ने भी कहा है

अन्ने बाहर जे नर होवहि, तीन लोक महिं अपनो खोवहि।
अन्ने बिना न होय सुकाल, तजिये अन्न, न मिलै गोपाल ॥

और एक जगह कहा है कि जो आदमी अपने धंधे से चिपटा रहा वह धूल हुआ और बिना धंधे के पाप धुलते भी नहीं

'जो धंधे तो धूलि, बिनु धंधे धूल नहीं।



अध्याय ५

दोनों भाषाओं के रचनाकार : नामदेव

इसके पहले कि हम नामदेव पर विस्तृत विचार कर यहाँ यह बतलाना उपयुक्त होगा कि मराठी और गुजराती के कई म तों ने हिन्दी में भी बहुत अच्छी पद रचना की है। श्री फार्बस गुजराती सभा महोत्सव ग्रन्थ (प्रकाशन मार्च १९४०) में श्री कचरालाल शवजीभाई सोनी का लेख 'गुजरातना प्राचीन अने अर्वाचीन साहित्यकारों' (एमनु हिन्दी साहित्य प्रसिद्ध अने अप्रसिद्ध) नामक लेख है। इसमें तेरमु सेकु (१३वीं शती) के श्री हेमच द्राचार्य से शुरू करके एक दम सोलहवीं शती के भालण (१५००-७४वि), मीरा (१५५५-१६०६ वि), सन्त समर्थदास, जिनदास, रिखबदास, नेमी ग्यानसार, मुलुकचद आदि जैन कवि, सत्रहवीं सदी में दादूदयाल, पुहकर स न्त सोभाराम, पयुखदास, मस्ताराम, नागर शिवानन्द आदि का उल्लेख है। आखो (१६१५-१६७५ वि) ने भी हि न्दी पद लिखे हैं।

प्रो० विनयमोहन शर्मा ने 'महाराष्ट्र सन्तों की हिन्दी सेवा' लेख में लिखा है

"चक्रधर ये महानुभाव पथ के प्रथम प्रचारक माने जाते हैं। इनकी हिन्दी वाणी का एक उदाहरण देखिए

सुती वथी स्थिर होई जेणे तुम्ही जाई।
सो परो मोरो वैरी आणता काई॥"

"उमाम्बा यह महानुभाव पथी नागदेवाचार्य की बहिन थी। नागदेवाचार्य चक्रधर के शिष्य माने जाते हैं। उमाम्बा का काल भी चक्रधर का काल समझा जाना चाहिए। उमाम्बा ने भी हिन्दी में चौपदी लिखने का प्रयास किया है

नगर द्वार हो भिच्छा करो हो बापुरे मोरी अवस्था लो।
जिहा जावा तिहाआप सरिसा कोऊ न करी मोरी चिंता लो।

हाट चौहाटा पड रहूँ माँग पच घर भिच्छा ।
बापुड लोक मोरी अवस्था कोऊ न करा मोरी चिता रे ॥"

"कृष्णमुनि य महानुभाव पथा स त हैं। इनक द्वारा ही पजाब म इस पथ का प्रचार हुआ है। इनकी कविता का नमूना

जड मूल बिन देखा एक दरखत गूलर का।
उसको अनत अपार गूलर लागे शुमार नही फूलों का।
जमीन आसमान बराबर देख दो सूरज चन्दा देख नौ लखता म।
चौदह भुवन मार्ता दरयाव से परवत नदी नाले कइ हजार ॥"

"ज्ञानेश्वर य महाराष्ट्र क प्रसिद्ध स त हैं। इनका ज म स० १३३२ विक्रम म गोदावरी के निकट आपेगाँव में हुआ था। नाम सम्प्रदाय म ज्ञानेश्वर की बडी महिमा है। उन्होंने अपने उपदेशों में गुरु भक्ति, ईश्वर भक्ति और लोकव्यवहार पर अधिक आग्रह प्रकट किया है। इनकी 'ज्ञानेश्वरी' की यही विचारधारा है। आध्यात्मिक उन्नति के लिए जप तप, सयम आदि से भी अधिक गुरु क अनुग्रह को उन्होंने महत्व दिया है। ज्ञानेश्वर न भी महाराष्ट्र से बाहर उत्तर की यात्रा की थी। मराठी क अतिरिक्त हिन्दी म भी इनकी वाणी मिलती है, जिसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता

सोई कच्चा ने, नहीं गुरु का बच्चा।
दुनिया तज कर खाक रमाई, जाकर बैठा बन मां।
खेचरि मुद्रा वज्रासन मों, ध्यान धरत है मन मां।
तीरथ करके उम्मर खोइ, जागे जुगति मां सारी।
कुकुम निवृति का ज्ञानेश्वर को नितके ऊपर जाना।
सदगुरु की कृपा भइ जब, आपहि आप पिछाना।"

"मुक्ताबाई ये ज्ञानेश्वर की बहिन थीं और अपने भाइ के साहचर्य से सन्त मार्ग में प्रविष्ट हुई थीं। इसी से ये अपने भाई को गुरु भी मानती थीं। इनकी वाणी में स्त्री सुलभ माधुर्य पाया जाता है। भक्ति, ज्ञान, योग, वैराग्य पर इनके मराठी म सु दर पद मिलत हैं। हिन्दी में भी इनकी रचना पायी गयी है

वाह वाह साहबजी सदगुरु लाल गुसाई जी ।
लाल बीच मों उदला काला और पीठ सों काला ।
पीत उ मनी भ्रमर गुफा रस झुलने वाला ।
सदगुरु चेले दोनों बराबर एक दस्त मों भाई ।
एक से ऐसे दर्शन पाये महाराज मुक्ताबाई ।"

नामदेव ये स० १३२७ विक्रम में सतारा जिले के नरसी बमनी गाँव में उत्पन्न हुए थे । यद्यपि नामदेव की भक्ति पढरपुर के विट्ठलदेव से प्रारम्भ होती है तो भी उसका परिपाक निर्गुण रूप में हुआ । पढरपुर के सगुण रूप 'विट्ठल' नामदेव के हृदय में निर्गुण ब्रह्म बन कर छा गए । नामदेव उत्तर भारत में कबीर के पूर्व निर्गुण मत का बीज बो चुके थे । इन्होंने पजाब तक धार्मिक अभियान किया था, जहाँ इनके अनुयायियों की पर्याप्त सख्या आज भी विद्यमान है । सिक्खों के ग्र थ साहब में इनके अनेक पद सगृहीत हैं । मराठी में तो इनके अभगों की धूम है ही । इनके हि दी पदों का एक उदाहरण दिया जाता है

ऐसे रामराइ अतरजामी, जैसे दरपन माहि बदन परवानी ।
बढे घटावट लोभ न छीपे, बधन मुक्ता जातु न पीसे ।
पानी माहि देखु मुखु जैसा, नामे को सुआमी बीठलु ऐसा ॥

कबीर के समान नामदेव ने 'पाहन पूजन' का भी निषेध किया है

एकै पत्थर कीजै भाऊर
दूजे पाऊर धरिए पाऊँ
जे ओहु देव त ओहु भी देवा
कहि नामदेव हम हरि की सेवा ॥

कबीर कहते हैं

पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पूजूँ पहार ।
ताते यह चाकी भली, पीस खाय ससार ॥

कबीर के समान गुरु महिमा पर भी नामदेव कहते हैं

बलिहारी गुरु आपणे ज्यों हाडी के बार ।
जिनि मानष तें देवता, करत न लागी बार ॥

भानुदास ये महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त एकनाथ महाराज के प्रपितामह थे। इनका काल सं० १५३५ वि० निश्चित है। इनकी मधुर प्रभाती का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है

उठहु लाल मात कहे, रजनी को तिमिर गयो,
मिलत बाल सकल ग्वाल, सुन्दर कन्हाई,
जागहु गोपाल लाल, जागहु गोविन्द लाल जननि बलि जाइ।
सगी सब फिरत बयन, तुम बिन नहिं दुग्ध धेनु,
तजहु सयन कमल नयन, सुन्दर सुखदाई।
मुख ते पट दूर कीजो, जननी को दरस दीजो,
दधि खीर माँग लीजो, खाँड और मिठाई।
झमल झमल स्याम राम, सुंदर सुख तब ललाम,
थाली की जूठ कहे 'भानुदास' भाई।

दोनों भाषाओं में लिखने वाले सन्तों में नामदेव प्रमुख हैं। नाभादास ने अपने भक्तमाल में नामदेव के बारे में यह छप्पय लिखा है

नामदेव प्रतिज्ञा निर्वही ज्यों त्रेता नरहरिदास की॥
बालदशा 'बीठल' पानी जाके पै पायो
मृतक गऊ जिवाय परचौ असुरनकरे दीयो
सेज सलिल ते काढि पहिल जसी ही होती
देवल उलट्यो देखि सकुचि रहे सबही सोती
पण्डुरनाथ कृत अनुग ज्यों छानि सुकर छाई घास की
नामदेव प्रतिज्ञा निर्वही ज्यों नरहरिदास की॥

इस छप्पय में नामदेव के किये हुए चमत्कारों का उल्लेख है। नामदेव ज्ञानदेव के शिष्य थे और दोनों ने साथ साथ महाराष्ट्र की यात्रा की, ऐसा नाभादास का मत है।

नामदेव ने कुल मिलाकर १००-१२५ पद लिखे, जिनमें से ६१ गुरुग्रन्थ साहब या आदिग्रंथ में मिलते हैं। मोहनसिंग ३२ पद बतलाते हैं। रानडे के अनुसार ज्ञानदेव और नामदेव मराठी सन्तों के बौद्धिक और भावात्मक पक्षों के प्रतिनिधि हैं इनमें नामदेव ने तो भक्ति की लोकतान्त्रिक धारा बहा दी।

कबीर ने नामदेव के बारे में लिखा है

जागे सुकदेउ अरू अकरू। हणवतु जागैधरी लगरू ॥
सकटि जाग चरणसेव। कलि जागे नामा जैदेव ॥

यही बात कबीर ने 'गुरपरसादी जेदेउ नामा।' 'जदेउ नामा विप्र सुदामा।' आदि रूपों में कही है। नरसी मेहता ने लिखा है

'नामा हाथ से दूध पीला।
रामनु नाथ नामदेव लीधु तेनी मोक जिवाडी गाय।'

धन्ना जाट ने, रविदास ने और गुरु नानक ने नामदेव का अपने पदों में उल्लेख किया है। मराठी संतों में गोराकुम्भार, परसा भागवत, जनाबाई ने नामदेव का उल्लेख अपने पदों में किया है।

नामदेव एक थे या तीन और उनका निश्चित समय क्या था इसके सम्बन्ध में शोधकों में मतभेद है। अभंग लिखने वाला भक्त नामदेव ज्ञानेश्वर के सौ वर्ष पश्चात् के परमभक्त का या उनके समकालीन का, जो बाद में उत्तर भारत में पंजाब में भी गया, यह एक रूप है, दूसरा रूप है विष्णुदास नामा महाभारत कार महानुभावपंथी लेखक का, तीसरा रूप है विष्णुदासनामा नाम का पौराणिक कथाएँ यथा कपोताख्यान, उपमन्युकथा आदि लिखने वाले का। नामदेव का पूरा नाम नामदेव दामा शेटी था, उपनाम रेळेकर था। उसी को नामा शिंपी, नामावंशी, छीपा अर्थात् चिंवा कहते हैं। पंजाबी नामदेव का जन्मकाल मृत्युकाल और है। मैकालिफ ने और कोई संवत दिया है, ज्ञानी खजान सिंह ने और। नामदेव दरबान कमेटी, घोमार द्वारा प्रकाशित दो पुस्तिकाओं में और है। बंसीधर शास्त्री की पुस्तक में और। प्रो० मुंडी इन सब तिथियों के तुलनात्मक अध्ययन के बाद इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि नामदेव की सच्ची तिथि है १२७० से १३५० ईस्वी। वे करहाड के पास जन्मे। इनके वंश के मूलपुरुष दामू सेठ थे जो कृष्णा नदी के तट पर परभणी जिले में श्री विठ्ठल के भक्त थे।

नामदेव का वैयक्तिक, पारिवारिक जीवन कैसा था इसके सम्बन्ध में भी मतभेद है। कपड़े के व्यापारी गोविन्द सेठ सदावर्ते की कन्या राजाई उनकी पत्नी थी। गोणाई नामदेव की माता थी। गाथा १२-१३ के अनुसार

लोगडाचा निळा, परिसीं लागला
मागितिया माला माग नय ॥
दासी होतो परी रायसा रतली
वश्या होती तचि पतिव्रता झाला ॥

निवृत्तिज्ञानेश्वर से भेद के बारे में भी निश्चित ऐक्मय विद्वानों में नहीं है। फर्कुहर ने ज्ञानेश्वर से नामदेव को ३० साल छोटा माना है। नामदेव के नाम पर चमत्कार भी बहुत बनाये गये हैं जैसे भगवान के साथ वार्तालाप करना जो अन्य संतों को नसीब नहीं हुआ (जनाबाई, अभंग २८१), चन्द्रभागा की बाढ रोकना (वही, २८३), दीपावली के अवसर पर भगवान को निमंत्रण (वही, २८७), भगवान ने नामदेव का छप्पर सवारा (वही, २८८), राजाई के व्रत नेम उपासना के लिए द्रव्य परमात्मा ने लाकर दिया, सब धन ब्राह्मणों में बाँटा (वही, १२७)। और अहिंसा का तो ऐसा कमाल कि पेड़ की छाल उतारते समय पेड से रक्त निकला सो अपने ऊपर नामदेव ने कुल्हाड़ी मार ली। पर इन चमत्कारों में कितने सचमुच में नामदेव के हैं और कितने औरों के यह कहना कठिन है।

डा० केतकर के अनुसार (१) कई और संतों के पद नामदेव के नाम पर दे दिये गये है। (२) सम्प्रदायशुद्ध गाथा की भाषा नामदेवकालीन नहीं है, विष्णुदासकालीन नहीं है तो वर्तमानकालीन है। (३) नामदेव के बाद के स्त्रीपुरुषों के चरित्र नामदेवकृत कहे गये हैं (भानुदास, मीराबाई, कबीर, संताजी पवार, राजणगावकर, बोधलेबुवा धामणगावकर)। नामदेव का जन्म काल ११९२ शके १२७० सं०) बतलाया गया है। उनके हिसाब से वह ज्ञानेश्वर का समकालीन जान पड़ता है। परन्तु ज्ञानेश्वर की भाषा निर्विवाद पुरानी है नामदेव के अभंगों की भाषा नयी है। नामदेव के हिन्दी अभंगों की भाषा भी १३ वीं सदी की हिंदी से बहुत आधुनिक है। विष्णुस्वामी के अनुयायियों में नाभाजी ने ज्ञानदेव का नामोल्लेख किया है। नामदेव की मराठी हिन्दी भाषा देखते हुए उसका काल करीब करीब एक शती इधर खींचना चाहिये।

विसोबा खेचर ने मूर्तिपूजा की व्यर्थता जोरदार शब्दों में कही है ऐसा नामदेव का मत है। रामानुजादि पूर्वग्रंथकारों ने और बादवालों ने मूर्तिपूजा

का किसी न किसी रूप म समर्थन किया है । खेचर और उसके शिष्य नामदेव मुसलमानी सत्ता की स्थापना क बाद हुए होंगे । दक्षिण में मुसलमानों की सत्ता १४ वी ईस्वी सदी में शुरू हुई । नामदेव के समय मुसलमानों का मूर्ति पूजाद्वेष हिंदुओं में घुसा, उसे १०० वर्ष बीत चुके होंगे । नामदेव ने अपने एक अभंग म तुरकों ने मूर्तिध्वंस किया ऐसा कहा है । (तुकारामतात्या प्रत, अभग ३६४) । 'नामदेव बहुधा १४ वीं शती के आस पास हो गये होंगे' ऐसा डा० भाडारकर सिद्ध करते हैं । (वैष्णविज्म, शैविज्म एड अदर माइनर रिलिजस सिस्टिम्स) । नामदेव के सारे परिवार ने पढरपुर के विठोबा के देव द्वारपर समाधि ग्रहण की । वहाँ नामदेव की समाधि की 'पायरी' बनाते हैं । शिंपी इसे पवित्र मानते है ।

विष्णुदास नामा पर पागारकर ने लिखा है कि 'नामदेव के अभगों को जो गाथा पूना के आवटे ने इदिरा छापखाने से छापी है उसम २५०० अभग नामदेव क नाम के कहे गये हैं । परन्तु ज्ञानेश्वरकालीन नामदेव के इसमें शायद ४–५ सौ ही होंगे । बाकी दूसरे नामदेव के हैं । 'क्योंकि गाथा में ऐसे कई आधुनिक सन्तों की कथाएँ हैं जो नामदेव के काल में नही हुए, जैसे नरसी मेहता (१४१३ ईस्वी), भानुदास (१४९८ ईस्वी), जन जसवत (समाधि १६१७ ईस्वी) आदि । इस दूसरे नामदेव की एक 'जुधबावनी' राजवाडे ने छापी है । उसमें पहले नामदेव को नमन भी है 'नामदेवाचे पवित्र नाम उच्चारी अखडित । नाम होय हरिहरभक्त । नाम प्रिय गोविदा ।'

विष्णुदास नामा विठ्ठलीं मिळाला ।
सिंपी सिपी त्याला म्हणू नये ॥

इस प्रकार से सन्त नामदेव के विषय मे निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता ।

यहाँ हमें उनकी निर्गुण पदावली से प्रयोजन है । ग्रथसाहब में पद २९, ३२, ५४ में अव्यक्तोपासना का महत्त्व है । वे कहते हैं

देवा पाहन तारियले । रामकहत जन कस न तरे ॥
तारिले गनिका, बिनुरूप कुबिजा बिआधी अजामुल तारिअले ।
दासीसुत जन बिदरू सुदामा उग्रसैन कऊ राज दिए ॥

चरन वधिक जन तऊ मुकति भए हउ बलि बलि जिन राम कहे।
जपहीन, तपहीन, कुलहीन, क्रमहीन नामेक सुआमी तऊ तरे ॥
हिन्दू अंना तुरकू काणा दुहा ते गिआनी सिआणा।
हिन्दू पुजै देहुरा मुसलमाणु मसीत।
नामें सोई सेविआ जह देहुरा न मसीत ॥
माई न होती, बापु न होता करमु न होती काइआ।
हम नहीं होते तुम नही होते कवनु कहाते आइआ ॥
राम कोई न किसहि केरा।
जैसे तरुवर पंखि बसेरा ॥
चंदु न होता सूरु न होता पानी पवनु मिलाइआ।
सासतु न होता वेदु न होता करमु कहाते आइआ ॥
खेचर भूचर तुलसी माला गुरपरसादी पाइआ।
रामा नामा प्रणवै परमततु है सतिगुर होइ लखाइआ ॥

पद २८ में बहुदेवोपासना का वे मजाक उड़ाते हैं

भैरव भूत सीतला धावै।
खर वाहन उहु, छार उडावै ॥
हउ तउ एक रमइआ लैहउ।
आन देव बदलावनि दैहउ ॥
सिव सिव करते जो नरु धिआवै।
बरद चढै डउरू ढमकावै ॥
महा माई की पूजा करै।
नरसै नारि होइ अउतरै ॥
तू कहिअत ही आदि भवानी।
मुकति की बरिआ कहा छपानी ॥
गुरमिति रामनाम गहु मीता।
प्रणवै नामा इउ कहै गीता ॥

और पद २९ में भी

अजु नामें विठलु देखिआ। मुरखु को समझाऊ रे ॥
पांडे तुमरी गायत्री लोधेका खेतु खाती थी

लेकरी ठेंगा टगरी तोरी लगत लगत जाती थी ॥
पाडे तुमारा महादेऊ धउले बल्द चढिआ आवत देखिआ था ।
मोदी के घर खाणा पाका वाका लडिका मारिआ था ॥
पांडे तुमरा रामचन्द्र सो भी आवतु देखिआ था ।
रावत सेती सरवर होई घर की जोरू गवाई थी ॥

विश्वव्यापक रूप का वर्णन वे यों करते हैं

आड कल्दर केसवा । करि अबदाली भेसवा
जिनि आकास कुलह सिरिकीनी कइसै सपत पयाला
परम पोसका मदरू तेरा
छपन कोटि का पेहनु तेरा सोला सहज इजारा
भार अठारह मुगदरू तेरा सहनक सभ ससारा
देही महजिदि मनु मउलाना सहज निवाज गुजारे
बीबी कउला सउ काइनु तेरा निरकार आकारे
इह विधि बने गुपाला ॥ ४१ ॥

और ईश्वरतत्व की सर्वव्यापकता

अकुल पुरख इकु चलितु उपाइआ ।
घटि घटि अतरि ब्रह्मु लुकाइआ ॥
जीअकी ज्योति न जाने कोई ।
तै मै किया सु मालूमु होई ॥ ६१ व ३६ ॥
आदि जुगादि जुगादि जुगो जुगु ताका अत न जानिआ ।
सरब निरतरि रामु रहिआ रवि ऐसा रूपु बखाविआ ॥ ६० ॥
ईभै बीठलु, उभै बीठलु, बीठल बिनु ससार नही ।
थान थनतरि नामा प्रणवै पूरि रीहउ तू सरन मही ॥ ३ ॥

आत्मा परमात्मा, भक्त और परमेश्वर की एकरूपता के विषय में पद ५४ है

ठाकुरू ते जनु जनते ठाकुरू खेलु परिड है तोसऊ ।
आपन देऊ देहुरा आपन आप लगावै पूजा ।
जल ते तरग तरग ते है जलु कहन सुनन कऊ दूजा ।

आपहि गावे आपहि नाचे आप बजावे तूरा।
कहत नामदेऊ तू मेरो ठाकुरू जनु ऊरा तू पूरा॥

यों नामदेव की रचना में, हिन्दी पदों में विशेष रूप से, बहुत सा निर्गुण परक कथन मिलता है। हिन्दी और मराठी निर्गुण संत कवियों के बीच नामदेव बहुत महत्वपूर्ण कड़ी है। परशुराम चतुर्वेदी अपने उत्तरी भारत की संतपरम्परा में पृ० १२२ पर कहते हैं कि 'संत नामदेव सर्वात्मवाद और अद्वैतवाद, दोनों के ही अनुसार विचार रखते हुए जान पड़ते हैं, और उनकी भक्ति का स्वरूप भी शुद्ध निर्गुण भक्ति का है।'

नामदेव का परवर्ती हिंदी सन्तों पर प्रभाव भी बहुत पड़ा। प्रा० विनय मोहन शर्मा के अनुसार (विश्वभारती पत्रिका, वैशाख आषाढ़ २००४) 'बंगाल का 'सहजिया सम्प्रदाय' महाराष्ट्र का 'वारकरी पंथ' ही है। दोनों का मूल 'नाथपंथ' प्रतीत होता है। ज्ञानदेव ने वारकरी पंथ को महाराष्ट्र से आगे नहीं बढ़ाया, नामदेव ने उसका उत्तर भारत में प्रचार कर कबीर, नानक, रैदास आदि संतों के लिये 'निर्गुण पन्थ' की भूमि तैयार की। पर ज्ञानदेव और नामदेव में जिस मत को जनता में प्रतिष्ठित किया था उसका बीज आठवीं सदी में ही 'सिद्ध' और 'नाथ' बो चुके थे।

'किन्तह तित्थ तपोवण जाई।
मोक्ख कि लब्भइ पाणी न्हाई॥'
सरहपाद (७६० ई०)

नामदेव कहते हैं

कोटिज तीरथ करै, अनुज अहिवाले गारै
राम नाम सरि तऊ न पूजे।

और भी

वेद पुरान सासतर आनन्ता, गीत कवित्त न गावहु गो

सिद्ध भी सहज पन्थ को मानते थे। योग भूमि में ही वे मोक्ष निर्वाण का सुख अनुभव करते थे। उन्होंने 'काया तीर्थ' की प्रतिष्ठा की थी। गुरु महिमा की स्वीकृति भी वारकरी पंथ में सिद्ध नाथों से प्रविष्ट हुई थी।

नामदेव का कबीर आदि निरगुनियों पर प्रभाव इस प्रकार से है कबीर निरगुनियों के सिरमौर कहे जाते हैं। पर उनमें ज्ञानियों जैसी रूक्षता नहीं है।

वे भक्तों की सहृदयता रखते हैं कभी अपने राम की 'बहुरिया' बनते है, कभी उसे नामदेव के समान 'माँ' भी सम्बोधित करते हैं। ऐसा लगता है, वे उसके सगुण रूप पर भी मुग्ध हैं। कबीर कहते हैं

राम मेरा पिउ, मैं राम की बहुरिया।

नामदेव भी यही कहते हैं

मैं बउरी, मेरा राम भतार।

महात्मा चरनदास की वाणी है

धीव चहौ के मत चहौ, वह ता पी की दास।

महात्मा चरनदास ने भी अपना परमात्मा सम्बन्ध नामदेव के समान ही स्थापित किया है 'पिय हमरे हम पिय की पियारी।'

कबीर में गुरुमहिमा का बड़ा बखान किया गया है। नामदेव ने भी 'सद्गुरु भेटला देवा' और 'ज्ञान अजन मोको गुरु दीना' आदि में गुरु की स्तुति की है। गुरु के ज्ञान से 'नर से सुर होइ जात निमिख में सति गुरु बुधि सिखाई।' गुरु के कारण सब कुछ सभव है।

नामदेव ने एक स्थल पर कहा है

कामी पुरुख कामिनी पिआरी।
ऐसे नामे प्रीति मुरारी।

तुलसी ने भी इसी भाव की पुनरावृत्ति की है। योग की इडा, पिंगला, सुषुम्ना नाडियों की कबीर ने चर्चा की है। नामदेव में इनका उल्लेख है

इडा पिंगुला अउरु सुखमना,
पउने बधि रहाउगो।
चदु सूरज दुइ समकरि राखउ
ब्रहम जोति मिलि जाउगो।

नाम महिमा भी नामदेव में भरी पड़ी है। उनके बाद के सभी ज्ञानाश्रयी कवियों में इसे पाते हैं।

'गगन मडल' की वर्षा से कबीर का भींगना प्रसिद्ध है। वे कहते हैं :

गगन गरजि, मध जोइये,
तहाँ दीसै तार अनत रे।

बिजुरी चमकि घन बरषि है,
तहाँ भीजत है सब सन्त रे।

नामदेव कहते हैं

अडमिडया मदलु बाजै,
बिनु सावण अनहद गाजै।
बादल बिनु बरखा होइ।
जउ ततु बिचार कोइ।
मो कउ मिलियो रामु सनेही।

कबीर के समान नामदेव को भी 'अनहद नाद' की मधुर ध्वनि की अनुभूति होती थी

धनि धनि ओ राधवेनु बाजै।
मधुर मधुर धुनि अनहद गाजै।

हिन्दू मुसलमानों की कट्टरता को नामदेव ने कबीर से पहिले कोसा है। भगवान् को उन्होंने मंदिर मस्जिद में नहीं, अपने में ही देखा है।

कबीर भी पांडे जी पर टूटते हैं

पांडे कौन कुमति तोहि लागी,
तू राम न जपहि अभागी।
वेद पुरान पढ़त अस पांडे,
खर चन्दन जैसे भारा।
राम नाम तत समझत नाहीं,
अन्त पड़े मुखि छारा।
काजी मुल्ला भी नहीं बच पाये।
काजी कौन कतेब बखान।
पढ़त पढ़त केते दिन बीते, गति एकै नहीं जानै।
मुल्ला कहाँ पुकारे दूरै, राम रहीम रह्या भरपूर।
यहु तो अलग गूँगा नाहीं, देखै खलक दुनी दिल माहीं।

नामदेव में 'विरह' की पीडा की मात्रा कबीर से अधिक तो नहीं है पर मर्मभेदी अवश्य है



मोहि लागती तालाबेली,
बछरे बिनु गाइ अकेली।
पानीआ बिनु मीनु तलफै,
ऐसे राम नामा बिनु बापुरो नामा।
जैसे तापते निरमल घामा,
तैसे राम नामा बिनु बापुरो नामा।

पाहन पूजने का भी निषेध नामदेव ने किया है

एकै पत्थर कीजे भाऊ, दूजे पाकर धरिये पाऊ।
जे ओह देउ त ओहु भी देवा।
कहि नामदेव हम हरि की सेवा।

कबीर का यह दोहा प्रसिद्ध है।

पाहन पूजे हरि मिलै तौ मैं पूजौं पहार।
ताते यह चाकी भली, पीस खाय संसार।

—o—

अध्याय ६

दोनों भाषाओं की निर्गुण गीतिरचना का परीक्षण

'श्री ज्ञानेश्वर महाराजाची अभंगाची गाथा' नामक ग्रंथ (प्रकाशन १९०६) में ज्ञानेश्वर के कई गीत यानी गेय अभंग दिये गये हैं। उनमें से नमूने के तौर पर मैं पृष्ठ १६५ और १६६ पर से 'अद्वैत पर अभंग' नामक प्रकरण से तीन अभंग दे रहा हूँ (४०, ४१, ४२), जिनसे पता चलेगा कि निर्गुण विषय पर भी गीतिरचना हुई है, और बहुत सुन्दर रचना हुई है।

'आकारीं नाहीं तें निराकारीं पाहीं। निराकारीं नाहीं शून्याशून्य। जेथ शून्यचि मावळलें तेथ काय उरलें। हेंचि नाग यकें जालें सनपाम्ना ॥ १ ॥ शून्य कामया पामाव जालें। शून्य तें कवण केलें। हें मागिजो जि यकया जालें गुरुराया ॥ ध्रु० ॥ आपण शून्याकार कीं आपण निराकार। आकार निराकार मुनिमत जाऊ। आकार निराकार ये दोन्हीं नाहीं। तेंचि तें पाहीं आपणा पैं ॥ २ ॥ जेथ अनुभवचि नाहीं तेंचि तें पाहीं। स्वानुभवीं राहीं तुझा तेंचि ॥ जेथ चंद्रसूर्य[1] एक होती। तयें कैंची दिनराती। ऐसें जे जाणती ते योगीश्वर ॥ ३ ॥ कर्माकर्म पारुपलें देवधर्म लोपले। गुरुशिष्य निमाले। जाले क्षारसिंधु ॥ नेत्र गोडाविण चाखण। जिव्हेंविण बोलण। नेत्रविण पाहण तेंचि ब्रह्म ॥ ४ ॥ हातीं घेऊनिया निवटी। लागिजे अंधारापाठीं। अंधार न दिसे दृष्टि उजियेडु तो। बाप रखुमादेवीवर विठ्ठलु देखणा। दृश्य द्रष्टपणा मालवलें ॥ ५ ॥

'आपुलिये सुख आपण पैं दावी। कीं सगुण बुधी चोख पदवी। ऐसा सुन्दर गोपवेश कीं तत्वमस्यादि[2] सौरसु। जेथ श्रुति नेति नेति ठेलया पायीं। तो सगुण निर्गुण निजानन्द सहजचि कळे विदेही रया ॥ १ ॥ एक म्हणता दुजें नाहीं रे। तेथ शून्य तूं सांगसी काई। निःशून्य तें आता सगुण तें निराळलें। तेथ हे कल्पना काइ रया ॥ ध्रु० ॥ नाम रूप छंद गोडी। ऐसी इंद्रियाची आवडी। परतोनि पाहें घडिघडी तोचि तो ॥ तयें आटऊं ना विसरू परी तोचि गा तो थोरु। ऐसा निर्धाराचा धीरु धरा। ऐसें जाणोनिया जरी साडिमांडि करिसी। तरी पावसी कोण येरझारीं रया ॥ २ ॥ तोचि तू

---

१ इडा पिंगला, ये वायु के प्रकार।

२ तत् त्व असि (वह तू है) छान्दोग्य उपनिषद् का यह महावाक्य है।

जगदात्मा विसा त्तग घडि न विसम्बा। वाहाचि होऊनि रहावा प्राण माझा। म्हणौनि धीरु वाप रखमादेवीवरा विट्ठला। आता प्रपचीं न गुते साचे। आम्हा जिताचि मरणे। कां मेलिया कल्पकोडि जिणं। धरि या निवृत्तिचि अतर रया॥ ३॥

'अगुणाचिया पा सम्ब धा गुणसम्बन्ध करु। नकळे हा वेव्हारु लोका माझी। हा नाटकु विदाणी नकळे याची करणी। दाटोनि अत करणीं रिघों पाहे॥ १॥ सर सर रे परता गुणाचियां गुणा। निजसुखनिधाना तूचि एकु॥ ध्रु०॥ तुझ्या गुणागुणी वेधली मुनिवृंद। मानसीचिया छन्दें वर्तसी तूचि। आपल निजसांग भुलविलें जयासि। अखड मानसी जवळीं आहे॥ २॥ ऐसा हा नवलावो विस्मो हा वाटला। मधो हो गळाला काय सागों। रखुमादेवीवरु विट्ठलु हृदयीं वसे। बाह्य अभ्यन्तरीं केव्हा वेगळा नव्हे रया॥ ३॥'

मुक्ता बाई, जनाबाई क भी ऐसे ही सुन्दर पद मिलते हैं। मुक्ताबाई का पद है 'उलट उलट माघारा प्राण्या। फिर गोते खासी। भरला पुर मायेचा लोंढा वाहुनिया जासी॥ ध्रुवपद॥' और जनाबाई का पद है:

'बाई गे मी लेणे ल्याले सद्गुरुरायापाशीं।
ब्रह्मीं झाला जो उल्लेख। तोचि नादाकार देख।
पुढ आकाराची रेख। तुर्या म्हणताती तीसी॥ बाई गे०॥ १॥
माया महत्याचें सुमर। तीन पाचाचा प्रकार।
पुढे पचविसाचा भार। गणती केली छत्तीसी॥ बाई गे०॥ २॥
बारा सोळा एकविस हजार। आणिक साहाचा उभार।
मार चाले सोहकार। वळखिन बावन मात्रेंसी॥ बाई गे०॥ ३॥
चार खोलया चार घरीं। चौथे पुरुष चारी नारी।
पाहुनि चौघांचे विचारीं। बैसल्यें पाचव्यापाशीं॥ बाई गे०॥ ४॥
पाच शाहाणे पाच मूर्ख। पांच चाळक असती देख।
पाच बखेडखोर आणिक। ओळखिल दोघासी॥ बाई गे०॥ ५॥
बीजापासून अकुर। होय वृक्षाचा उभार।
शाखापत्र फळ फुलभार। बीजापोटीं सामाये॥ बाई गे०॥ ६॥
ततुच्या धारें काती काढून। वरी क्रीडा करिती जाण।

शेवटीं ततूर्या गीळुन । एकली राहिर आपशी ॥ बाई गे० ॥ ७ ॥
वेदशास्त्र आणि पुराणा । याचा अर्थ आणिला मना ।
कनकां नगाच्या भूषणा । अनुभव आला आवाली ॥ बाई गे० ॥ ८ ॥

जनाबाई के सम्बन्ध में अनेककविकृत पदसंग्रह के सम्पादक लिखते हैं कि यह नामदेव की दासी थी। गोदावरी नदी के तीर पर गंगाखेड नामक गाँव में दमा नामक महाभगवद्भक्त शूद्र की कन्या थी। इसकी माँ का नाम था करुंड। पाण्डुरंग के प्रताप से इन वारकरियों को यह कन्या मिली। इसे त्रेतायुग की मंथरा और द्वापर की कुब्जा भी मानते हैं। भगवान जनी के साथ खाता है, उसका जूठन ग्रहण करता है, उसकी झोपड़ी में सोता है, उसके साथ चक्की पीसता है, उसे साड़ी पहनाता है, उसके बालों में कंघी करता है, उसे नहलाता है और इसी प्रकार से उसके और कई काम करके उसे सन्तुष्ट करता है। उसने देवों का पदक और महावस्त्र चुराया, इसलिए उसे सूली देने का तय किया गया। उसने भगवान् की प्रार्थना की तो सूली का पानी बन गया। कहा जाता है कि जनी का काव्य लेखक साक्षात् रुक्मिणी रमण था।

यह गीत परम्परा कई वर्षों तक चलती रही। नामदेव ने अपनी काव्य रचना में कई सुन्दर गीत गाये हैं। यहाँ तक कि भागानगर (दक्षिण हैदराबाद) के केशव स्वामी नामक साधु (जन्म १५५० शक) के ८०० पद मिलते हैं जिनमें से २५ हिन्दी में हैं। उनके दो पद एक मराठी में और एक हिन्दी में नमूने के तौर पर यहाँ दे रहा हूँ (पद ७७१ और ७७४)—

हृदया निर्गुण मूर्ति आली वो । बाई । ध्रुवपद ॥
नामरूपातीत आनंद पिकला ।
सहजीं सहज भेट झाली वो । बाई ॥ हृदया ॥ १ ॥
पूर्व पुण्यफळे संसाराच्या वळे ।
संकल्पाचा केला त्याग गे । बाई ॥ हृदया ॥ २ ॥
त्याग भोगीं देव सांपडला पूर्ण ।
सफल झाला ज्ञानयोग गे । बाई ॥ हृदया ॥ ३ ॥
बाहेर अन्तरीं सर्व निरन्तरा ।
देवचि दाटला पाहीं गे । बाई ॥ हृदया ॥ ४ ॥

केशव ह्मणे आता मोपणालागीं ।
निश्चयेंशीं ठाव नाहा गे । बाई ॥ हृदया ॥ ५ ॥

पद ७७४—

काहाँ को पाप काहा को पून ।
हम तो भये हैं सुनमो सून ॥ ध्रुवपद ॥
काहाँ को काया काहाँ को माया ।
भावत नहीं निर्गुन मों गुन ॥ काहाँ० ॥ १ ॥
आपही जगमों जगही आपमो ।
कोन लखे उन्मनमों मन ॥ काहाँ० ॥ २ ॥
कहत केशव आप ही आनन्द ।
गगन मगनमों सबही सगन् ॥ काहाँ० ॥ ३ ॥

मराठी सन्तों की रचना से हिन्दी सन्तों की रचना की ओर मुड़ने से पता चलता है कि निर्गुण सन्तों ने अपनी गीतिरचना में कुछ रूपक और दृष्टान्त ऐसे प्रचलित कर दिये कि वे लोकगीत की सम्पदा बन गये। इनमें से एक है नैहर से सुसराल जाना और चार कहारों का मिलकर डोला उठाना।

एक लोकगीत है

मोर नैहरवा से नाता छोड़वाने जाला पियवा
काचे काचे बसवा के डोलवा बनवाने ॥

और दूसरा एक लोकगीत है

नैहर से जियरा फाट रे ॥
नैहर नगरी जिसकी बिगड़ी उसका क्या घर बाट रे ॥
तनिक जियरवा मोर न लागै तनमन बहुत उचाट रे ॥
इस नगरी में लख दरवाजा, बीच समुन्दर घाट रे ॥
कैसे कै पार उतरिहैं सजनो, अगम पथ का पाट रे ॥
अनवतीह का बना तबूरा, तार लगे मन मात रे ॥
खूटी खूटी तार बिलगाना, कोई न पूछत बात रे ॥
हस हस पूछे मातु पिता सों मोरे सासुर जात रे ॥
जो चाहे सो वो ही करिहै, पतवाही के हाथ रे ॥
न्हाय धोय दुलहिन होय बैठी, जोहै पिया के बाट रे ॥

वाले मिश्र आरम्भ से हिन्दी काव्य अभी तक निकल पाया है। हाँ, नए के नये मुक्त छंदों में उस परम्परा से आगे जाने का आग्रह और विदेशी छंदों की परम्परा में जाने का आग्रह दीखता है।

'चर्यापद के गीतों में जो रससृष्टि हुई है, वह 'जालौ आधारि' सन्ध्याभाषा की दुरूहता के कारण कुछ शुष्क पड़ जाती है। फिर भी, उनके अन्दर संगीत एवं भावना के स्तर पर प्रकट किये जाने वाले ज्ञान के प्रयोग स्पष्ट मिलने लगे हैं। यहाँ भाषा भी सिद्धों की अन्य अन्य वाणियों से थोड़ी परिष्कृत है, शायद तब की लोकभाषा है, निरी अपभ्रंश नहीं है। इन पदों की गेयता का परिचय पूर्णत हुए बिना पूरा रस भी नहीं मिलता और शब्दों के उच्चारण में थोड़ा फर्क आ गया है। कहीं कहीं तो मैथिली में जो विद्यापति के संगीत की गान पद्धति है, उसी पद्धति पर चर्यापदों को गुनगुनाने से रस मिलता है और सूखे लगनेवाले शब्दों में माधुर्य आ जाता है। संगीत की अपेक्षाओं एवं तज्जनित शब्द संगठन के परिवर्तनों का ध्यान रखकर यदि चर्यापदों का कोई संस्करण निकले तो चर्यापदों एवं विद्यापति या अन्य वैष्णव कवियों की, बंगला एवं हिन्दी कवियों में गीतिपदों की परम्परा से उनका सम्बन्ध स्थिर हो जा सकता है।'

चर्यापद के गीतों में जो प्रतीक बार बार आये हैं, जैसे काया तरुवर या चित्ततरु, माया के लिए नारी कल्पना उनके बार बार निर्गुण काव्य में दर्शन होते हैं। कहीं कहीं तो उपनिषदों से वे भाषा में उतर आये हैं। रहस्य की परम्परा तो वहीं लोकसभा में प्रकट हो गयी है। और थोड़ी थोड़ी रीति की परम्परा के भी संकेत वहाँ मिलते हैं।

'ईश्वर के सगुण रूप के लिये व्याकुलता की उपलब्धि होने के बाद ही लोक भाषा में सफल गीति काव्य प्रकट हुआ या जब विद्यापति या अन्य वैष्णव कवियों के देखे हुए रूप की सृष्टि, चित्र सृष्टि एवं इन्द्रियानुभूत भावना भिव्यंजन की परम्परा काव्यों में चलायी। लेकिन यह तो दिये हुए उद्धरणों से स्पष्ट है कि (१) दोहों का स्वरूप सिद्धों ने स्थिर कर दिया और तुलसी, कबीर और अन्य सतसईकारों ने उस दोहा के माध्यम से अलग अलग काम किया। किसी ने रूप एवं मनोभाव की वर्णना में मुक्तकों का काम उनसे लिया (हेमचन्द्रसूरि, बिहारी)। किसी ने नीति वचनों के अनुष्टुप् छन्दों की परम्परा की जोड़ में उनको रखा (देवसेन, दसवीं सदी, कबीर, तुलसी,

वृन्द, रहीम) किसी ने महाकाव्य की चौपाइयों की गति में विराम का काम उनसे लिया (जायसी, तुलसी) या किसी ने उसी में अपना काव्य लिया (वियोगी हरि) या किसी ने जब तब के आये भावों को, सूक्तियों को, उसी माध्यम से प्रकट किया (भारतेन्दु—भरित नेह नव नीर नित, बरसत सरस अथोर, जयति अपूरब घन कोऊ लखि नाचत मन मोर) या किसी ने तथ्य निरूपण के लिये कारिकाओं का काम उनसे लिया (रस मीमांसा पर ग्रंथ)। सप्त सतसई काव्यों की परम्परा तो हिन्दी साहित्य में बहुत महत्त्व की है। (२) सिद्धों ने चौपाइयों की १६ मात्राएँ स्थिर कर दीं और उसी में तुलसी ने 'रामचरितमानस' का अधिकांश लिखा। कवि जयदेव के 'गीतगोविन्द' में भी ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ १६ मात्राओं की चौपाइयों का ही प्रयोग हुआ है और यह शायद सिद्धों की परम्परा थी। यह तो स्पष्ट है कि लोकभाषा के क्षेत्र में किये जाने वाले छन्द प्रयोगों और संगीत प्रधान काव्य प्रचेष्टाओं को काव्य में सफलता पूर्वक प्रतिष्ठित करने का तथा काव्य एवं संगीत को ओतप्रोत करने का काम जयदेव ने किया और बाद अन्य लोकभाषा के कवियों ने उसे अपनाया। कवि जयदेव सिद्धों के प्रभाव क्षेत्र के समीप ही रहते थे। इस तरह सिद्धों ने भाव नैष्कर्म्यमयी भजनावली एवं गीतावली, जयदेव, विद्यापति, सूर, तुलसी मीरा एवं निर्गुण भजनों की पद्धति भी स्थिर कर दी।'

लेकिन वे सिद्ध काव्य के अन्दर इतनी पहेलियों का प्रयोग करते थे कि लगता है, उनका प्रयोग धीरे धीरे जनमानस से विस्मृत होने लगा। शायद उनके ऐसा करने का कारण था, क्योंकि वे विरोध की परम्परा की कड़ियों जैसे थे और खुलकर विरोध करने का मौका उनको नहीं था। शायद उनके आचरण एवं वक्तव्यों में फर्क था। शायद सत्य का मुख, हिरण्यमय चमत्कार के पात्र से ढँका रहे, ऐसी औपनिषदिक परम्परा का वह निर्वाह कर रहे थे। जहाँ गुरु का महत्व हो वहाँ साधारण भाषा का प्रयोग नहीं होता।

पर जो भी हो, न तो बुद्ध का प्रभाव सर्वथा मिट गया, न सिद्धों का। उनका निर्गुण प्रभाव प्रकट होता रहा है। परवर्ती विकास मात्र में, क्या भाषा, क्या काव्य, क्या समाज क्षेत्र में सर्वत्र उनका प्रभाव पड़ा है।

अध्याय ७

दोनों भाषाओं की निर्गुण कविता में प्रयुक्त शब्दावली में समानता और अन्तर

दोनों भाषाओं की निर्गुण स त का यधारा का विवचन दार्शनिक विषय-वस्तु, ऐतिहासिक, सामाजिक परिस्थितियों का परिपार्श्व और प्रभविष्णुता की दृष्टि से हुआ। जैसे इस विवेचन के आरम्भ में सुझाया गया था, साहित्यिक दृष्टि से उनकी रसवत्ता का भी विचार आवश्यक है। योग सम्ब धी शब्दावला दोनों भाषाओं के स त कवियों में एकसी पायी जाती ह। डा० बडथ्वाल ने अपने हि दी निर्गुण काव्य ग्रथ के अ त म परिशिष्ट १ में ऐसी शब्द सूची दी है। उसमें जो श द और दृष्टा त मराठी स तो में भी मिलते हैं, उ हे छाँटें तो सूची इस प्रकार बनेगी। मराठी पर्याय—

ओम	शब्द, पवन, सास (श्वास), सुर, उजास (प्रकास), नाद, सूर।
अ त करण	कमल, घट, कलश, गगन, कुँआ।
आत्मा	बादशाह, हस, अवधूत, अर्जुन, प्रजापति, राजा, खरा, सती, विरहिणी, वैरागिनी, वियोगिनी, दुलहिनी (नोवरी)
इद्रिय	पाडव।
इडा	इला, गगा।
इच्छा	मनसा, सुरभि, तरग, मृगाची, देवी, जोगिनी, मालिन, (माळीण), पार्वती, दामिनी, मार्जारी, मयूरी, बगळी।
उ मनी	
गुरु	शिकलगीर, सोना, चन्दन, चिंतामणी, पारसी, वैद्य, हस, पारखी।
चित	चकोर, चक्रवाक, चक्र, चिमणा।
चद्रमा	ज्ञान, पुरुप, इला नाडी।
जीव	'आत्मा' का ही विशेषण।
तेहतीस	कोटि के देवता ३ गुण ५ तत्व २५ प्रकृति।

तेल	स्नेह, परमेश्वर प्रेम, जीवन, विस्तार।
दीपक	देह, ज्ञान।
ध्यान	दृष्टि, ताली (किल्ली), समाधि।
निरति	परमेश्वर साक्षात्कार का आनन्द।
परचा	परिचय (ओळख)।
परमात्मा	अनाहद, समुद्र, मूल, प्रियतम, कुंभार, कारीगर।
पिंगला	यमुना, अग्नी, सूर्य।
बत्ती	प्राण, ज्योति।
मन	मणि, मृग, मंडूक (बेडूक), मंजार (मार्जार), मूसा, (मूषक), मर्कट, मोती हार, मोर, गरुड़, हती, पशु, पतंग, कौवा, (कावळा), बाज (बहिरी ससाणा), फटक (स्फटिक) धवल, बकरी, रोह (मासळी)।
मानस सरोवर	शून्यस्थित अमृतकुंड।
माया किंवा संसार	मोहनी, डकिणी, शखिणी, सर्पिणी, पापिणी, जाखिणी, कामिनी, भामिनी, सागर, वन, जंजाल, हाट (बाजार), आवागमनी।

दोनों भाषाओं में एक शब्द जो एकत्र मिलता है, वह है 'निरंजन'। जैन साधक जोइन्दु ने कहा है

'देउ ण देवल ण वि सिलए
ण वि लिप्पइ ण वि चित्ति।
अखउ णिरंजणु णाणमउ
सिउ संठिउ समचित्ति।'

यही शून्य, सहज, निरंजन वाद में कबीर, नानक, दादू में मिलते हैं। उड़ीसा के पंचसखा भक्तों में यह शब्द मिलता है। नगेन्द्रनाथ वसु के अनुसार ये बौद्ध थे, बाद में राजभय से वैष्णव बने। परिणाम यह हुआ कि श्रीकृष्ण का स्मरण शून्य और निरंजन रूप में उन्होंने किया है। बलरामदास ने विराट गीता में लिखा है

'तोहर रूप रेख नाहीं। शून्य पुरुष शून्य देही।
थोइले शून्य तोर देही। आवर नाम धिव कहीं॥

तोर शून्य रूप शून्य देह । किना देंरयारि नाम यूह ॥'

बलरामदास ने अपनी गणेशविभूति टीका में 'अनाकार रूप शून्य शून्य मध्ये निरजन । निराकारमध्ये ज्योति स ज्ज्योतिर्भगवान स्वयम्' कहा है। चैतन्यदास ने उस पुरुष को 'विष्णु गर्भ पुस्तक' में 'शून्य रे थाई से शून्य करह विहार' कहा। महादेवदास नामक वैष्णव कवि ने धर्म गीता मे बताया कि महाशून्य ने सृष्टि रचना की इच्छा से निरजन, निर्गुण, गुण और स्थूल रूप में अपने पुत्र पैदा किये। रूभाई पडित ने शून्य पुराण में धर्म को शून्य रूप, निराकार निरजन कहा है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी निरजनी कविता का एक कबीर वाला रूप मानते हैं। परन्तु डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल के अनुसार निरजनियों का यह उलटा मार्ग निर्गुणी कबीर के प्रेम और भक्ति से अनुप्राणित योगमार्ग के ही समान है। निर्गुणियों की सारी साधनापद्धति उसमें विद्यमान है। निरजनियों का उद्देश्य है इडा और पिगला के मध्यस्थित सुषुम्ना को जागृत कर अनाहत नाद सुनना, निरजन के दर्शन प्राप्त करना तथा वकनालि के द्वारा शून्य मण्डल में अमृत का पान करना। जो साच की डोरी[१] उन्हें *परमात्मा से जोडे रहती है, वह है नामस्मरण। नामस्मरण में प्रेम और योग* का समन्वय है। साधक को उसमें अपना सारा अस्तित्व लगा देना होता है। साथ ही त्रिकुटी अभ्यास का भी विधान है, जो गोरखपद्धति तथा गीता की भ्रूमध्यदृष्टि के सदृश है। इस साधना पद्धति पर जिसम सुरति अर्थात् अन्तर्मुखी वृत्ति, मन तथा श्वास नि श्वास को एक साथ लगाना आवश्यक होता है, निरजनियों ने बार बार जोर दिया है। इसकी अन्तिम अवस्था अजपा जप है, जिसमें श्वास प्रश्वास के साथ स्वत सतत नामस्मरण होने लगता है।

निरजनी कविता में प्रेम तत्त्व का महत्त्व योग तत्त्व से किसी भी मात्रा में कम नहीं है। इन्द्रियों का दमन नहीं, वरन् शमन आवश्यक है। और शमन में प्रेम तत्त्व ही से सफलता प्राप्त होती है। इस तत्त्व की अवहेलना करने वाले साधकों को हरिदास ने खूब फटकारा है।[२] प्रेमातिरेक से विह्वल होकर जब जीव (पत्नी की भाँति) अपनी आत्मा को परमात्मा (अपने पति) के चरणों

---

१ सुमिरण डोरी साँच की सतगुरु दइ बताय—सेवादास।

२ पाँच राषि न पेम पिया दसौं दिसा कूँ जाहिं।
देषि अवधू अकलि अधा अजहू चेतै नाहि॥

में निःस्वार्थ भाव से अर्पित कर देता है, तभी (प्रियतम परमात्मा से) महा मिलन होता है। इन सब निरंजनी कवियों ने प्रिय के विरह से दुखी प्रिया की भांति अपने हृदय की व्यथा प्रकट की है।[2] तुलसीदास के अनुसार यही प्रेम भावना प्रत्येक आध्यात्मिक साधना पथ की प्राण होनी चाहिए। इसके विद्यमान रहने से प्रत्येक मार्ग सच्चा है, किन्तु इसके अभाव में हर एक पथ निस्सार है।[3]

निरंजनियों ने अपरोक्षानुभूति का वर्णन निर्गुणियों की ही सी भाषा में किया है। सफल साधना मार्ग के अन्त में साधक को अनन्त प्रकाश पुंज की बाढ़ सी आती दिखाई देती है, जो 'जरणा' के द्वारा स्थिरता ग्रहण करने पर शीतल, झिलमिल ज्योति के रूप में स्थिर हो जाती है। इस सहजानुभूति के हो जाने पर सभी बाहरी विरोध मिट जाते हैं। स्वयम् यह अनुभूति भी उल्टी या स्वविरोधी शब्दावली में ही व्यक्त की जा सकती है। हरिदास के कथनानुसार गुरु शिष्य को अन्तर्ज्योति को अनन्त सूर्यों के प्रकाश से मिला देता है।[4] सेवादास झिलमिलाती ज्योति का दर्शन त्रिकुटी में करते हैं।[5] इन्हीं

१ मैं जन बाँध्यो प्रीति सूँ
निकट बसो न्यारा रहो एक मंदिर माहिं माधव।
मैं मिलिहूँ के तन नैना नव मोहि मारण नाहिं माधव।
प्राण उधारण तुम मिलो
अबला मनि व्याकुल भई, तुम क्यों रहे रिसाई माधवे ॥—हरिदास।
सुरति सुहागणि सुन्दरी, बस्यो ब्रह्म भरतार।
आन दिया चितव नहीं, मोधि लियो करतार ॥ सेवादास।
२ अन्तरि चोट विरह की लागी, नख सिख चोट सामणा ॥ हरिदास
कोउ बूझो रे बाभना, नामा कहि कब आवे भरा राम।
विरहिन झूरे दरस कूं, निस नाहीं विश्राम ॥
ज्यूं चात्रिग घन कूं रटे पीव पीव कर पुकार।
यूं राम मिलन कूं विरहिना तरपै बारम्बार ॥ तुरसीदास।
३ प्रेम भक्ति बिन जप तप ध्यान, सब लागे सहज विरयान।
तुरसी प्रेम भक्ति उर होय, तब सबहा मत साचे जोय तुरसीदास।
४ अनंत सूर निकट नूर जाति जोति लावै
५ नैना माहीं राम जो झिलमिल जोति प्रकार।
त्रिकुटि छाजा बैठि करि को निरख निज दास ॥

के शब्दों में[1] सहजानुभूति बिना घन के चमकने वाली बिजली है, बिना हाथ के बजनेवाली वीणा है, बिना बादलों के होनेवाली अखण्ड वर्षा है। और तुलसी के शब्दों में आध्यात्मिक अनुभूति बहरे का ऐसी गुह्य बात सुनना है, जिसमें जिह्वा तथा मुह काम में नहीं आते। लगड़े का ऐसे पेड़ पर चढ़ने की भाँति है, जिस पर पैर वाले नहीं चढ़ सकते। वह अंधे के प्रकाश को देखने के समान है।[2]

उपर्युक्त सभी बातों में निर्गुणियों और निरजनियों में साम्य है। इसलिए राघोदास ने निरजनियों को कबीर के से भाव का बतलाया है। किन्तु फिर भी उन्होंने उन्हें कबीर, नानक, दादू आदि निर्गुणी सन्तों में नहीं गिनाया है और उनका एक अलग ही सम्प्रदाय माना है। इसका कारण यही हो सकता है कि निर्गुणियों और निरजनियों में इतना साम्य होते हुए भी कुछ भेद अवश्य है।

कबीर ने स्थूल पूजा विधानों का तथा हिन्दुओं की सामाजिक वर्णव्यवस्था का एकदम खण्डन किया है। निरजनियों ने भी मूर्तिपूजा, अवतारवाद तथा कर्मकाण्ड का परमार्थ दृष्टि से विरोध किया है अवश्य, किन्तु अपने समान ज्ञान की उच्च अवस्था तक न पहुँच सकनेवाली साधारण श्रेणी के व्यक्तियों के लिए इन बातों की आवश्यकता भी उन्होंने समझी है। इसीलिए हरिदास ने अपने चेलों को मन्दिरों से वैर अथवा प्रीति रक्खे बिना ही गोविन्द की भक्ति करने का आदेश दिया है।[3] तुलसी मूर्त से अमूर्त की ओर जाने के लिए

---

१ बिन घन चमके बिजली तहाँ रहे मद्ध छाय।
हरि सरवर तहाँ पेलिए जहाँ बिण कर बाजे बीण॥
बिन बादल वर्षा सदा, तहाँ बारा मास अखण्ड॥

२ बहरा गुझि बानी सुनै सुरता सुनै न कोय।
तुरसी सो बानी अपट मुखबिन उपजै सोय॥
पग उठि तरवर चढ़ै सपगै चढ़या न जाए।
तुरसी जोती जगमग अंधे कूँ दरसाय॥

३ नहिं देवल स्यू वैरता, नहिं देवल सूयौं प्रीति।
किरतम तजि गोविंद भजौ, यह साधा की रीति॥

'अमूरति' को 'मूरति' में देखना बुरा नहीं समझते।[1] और आचार का भी आखिर कुछ महत्त्व समझते हैं।[2] यद्यपि निरंजनी वर्णाश्रम धर्म को, यदि तुलसी के शब्दों में कहें तो, शरीर का ही धर्म मानते हैं, आत्मा का नहीं। फिर भी ऐसा भी नहीं जान पड़ता कि परम्परा से चली आती हुई वर्णाश्रम धर्म की इस व्यवस्था से उन्हें वैर है। यद्यपि वे यह अवश्य चाहते हैं कि संसार एक परिवार की भाँति रहे और वर्ण भेद ऊँच नीच के भेद का भाव आधार न बनाया जाए।[3]

निरंजनी इस प्रकार की प्रवृत्ति के कारण रामानन्द, नामदेव इत्यादि प्राचीन सन्तों के समकक्ष हो जाते हैं। विठोबा की मूर्ति के सम्मुख घुटने टेक कर नामदेव निर्गुण निराकार परमात्मा के भजन गाया करते थे।[4] और कहा जाता है कि रामानन्द ने तीर्थों तथा मूर्तियों को जल पाषण मात्र बतलाते हुए भी शालिग्राम की पूजा का विधान किया था। सम्भवतः यही प्रवृत्ति अन्त में भगवानदास निरंजनी कृत 'कार्तिक माहात्म्य', 'जैमिनि अश्वमेध' सदृश पौराणिक ढंग के ग्रन्थों में प्रतिफलित हुई।

निरंजन पंथ में प्रेम तथा योग तत्त्व सम्भवतः रामानन्द या उनके ही सदृश किसी संत से आये हैं। ये प्रेम तथा योग तत्त्व कबीर, रैदास, और पीपा इत्यादि रामानन्द के प्रायः सब शिष्यों की बानियों में पाये जाते हैं,

---

१ मूरति में अमूरति बसै अमल आतमाराम।
तुरसी भरम बिसराय के ताहि को लै नाम॥

२ जाके आचारहु नहीं, नहिं विचार अहं लेस।
उभै माहिं एक हू नहीं, तौ धृग धृग ताको वेस॥

३ तुरसी वरणाश्रम सब काया लौं सो काया करम का रूप।
करम रहत जे जन भए, ते निज परम अनूप॥
जन्म नीच कहिए नहीं, जो कम उत्तम होय।
तुरसी नीच करम करै, नीच कहावै सोय॥ (तुरसी)
जनम ब्रह्मन भए का भयो करत कृत चंडार।
बहुरि पिंड पर होयगा, सुद्र घरहु अवतार॥
हिंदू तुरक एक कल लाई। राम रहीम दोइ नहीं भाई॥ (हरिदास)

४ फकुहर आउटलाइन आव दि रेलिजस लिटरेचर इन इंडिया। (पृष्ठ–३००)

इसलिए इनका मूल स्रोत गुरु में ढूंढना चाहिए। इस बात का समर्थन रामानन्द कृत कहे जाने वाले 'ज्ञानतिलक' और 'ज्ञानलीला' नाम के छोटे ग्रन्थों से तथा 'सिद्धान्तपटल' से भी होता है, जिसके अनुसार, राघवानन्द ने रामानन्द को जो उपदेश दिये हैं, उनमें योग का निश्चय रूप से समावेश है।[१] महाराष्ट्री जनश्रुतियों में रामानन्द का सम्बन्ध ज्ञानदेव के नाथपंथी परिवार से जोड़ा जाता है। अपने को नाथपंथी बतलानेवाले उद्धव और नयन भी रामानन्द के शिष्य अनन्तानन्द के द्वारा रामानन्द से अपनी परम्परा आरम्भ करते हैं।

दृष्टान्तों के प्रयोग में यह बात बहुत स्पष्ट होती है। नामदेव ने अपनी कविता में जो दृष्टान्त प्रयुक्त किये हैं, वे हैं, पानी और बुलबुला, सूत में पिरोयी मणिमाला, कपड़े गिनने का गज, कैंची और कपड़ा, साँप और कचुल छोड़ने का स्वभाव, बगुला भक्ति, मृगजल, लोह पारस, भ्रमर मधु मक्खी और पुष्प, पर्जन्य और भूमि, चकवा चकवी, अंधे की लकड़ी, पतंग उड़ाने वाले, राजकुमारी और दासी, जंगल में चरने वाली गोए, धोबिन, वेश्या का शृङ्गार, चन्दन की सुगन्धि, बच्चे को सहलाने वाली माता, मानस और हंस इत्यादि।

श्री ज्ञानेश्वर के भक्तराज में ऐसे दृष्टान्तों की मालिका मिलती है 'का काष्ठामाजी अग्नी। प्रत्यक्ष प्रगटे मथनीं। परी तो काष्ठी असौनी। वेगळा जैसा ॥ ११ ॥ का तरुमाजी बीज जैसें। सर्वाङ्गी व्यापुनि असे। परी वृक्षामाजी न दिसे। वेगळेंचि ते ॥ १२ ॥ चन्द्रजळीं प्रतिभास। परी मुख्य तो गगनीं असे। तैसा परमात्मा असोनि न दिसे। अलिप्त सकळा ॥ १३ ॥ ना तरी वाद्याचिये ठायी। ध्वनी व्यापूनि असे पाहीं। परि तयामाजी असोनियाही। नदिसे जैसा ॥ १४ ॥

का कण्ठीं राग उमटती। परि कण्ठी काय असती।
तैसा परमात्मा सर्वाभूतीं। परि अलिप्त सकळा ॥ १५ ॥

---

[१] शब्दसरूपा श्री गुरु राघवानन्द जी ने श्री रामानन्द जी कू सुनाया।
भरे भंडार काया वाढे त्रिकुटी स्थान जहाँ बसे श्री सालिग्राम ॥
(अमर बीज मंत्र १७)

अथवा आरिसामुख दखिल । परि ते आरिसिया नाही निघाले ।
आकाशा अभ्र प्रगटल । आकाश वेगळ ॥ १६ ॥
ऐसा सर्वा सर्व तू । व्यापूनिया रहितु ।
भक्तिलागी मूतिरूप । अमूर्त हा ॥ १७ ॥
हा निर्धारिता न निर्धारे । जग जगन्नाथ जगदाकार ।
जग तयामाजी उभारे । विश्वम्भर तू ॥ १८ ॥
तेजीं दीप की दीपीं तेज । बीजीं वृक्ष का वृक्षीं बीज ।
परमात्मा तो सहज जग तया आतू ॥ १९ ॥
वस्त्रीं त तू का तन्ता वस्त्र । निरा तरङ्ग कि तरङ्गीं नीर ।
कर्पूरीं परिमळ कीं परिमळीं कर्पूर । वेधिला सर्वाङ्गी ॥ २० ॥
हा निर्धारिता नातुडे । मन पाहता न सापडे ।
कवणापरि न घडे । एकु की अनेकु ॥ २१ ॥
आता एसें मानल । हें साभास दिसे जितुलें ।
ते आरिसाच उमटल । प्रतिबिम्ब जैसें ॥ २२ ॥
कीं वृक्षीं छाया दिसे । त जयाचेनि प्रकाश ।
तेजा वाचुनि अधारीं असे । ऐसें नव्हे ॥ २३ ॥
हा माया आकारु । मृगजळन्याय विस्तारु ।
आभास परि साचारु । म्हणों नये ॥ २४ ॥
कल्पाता सर्वहि सरे । स्वरूपीं निजरूप उरे ।
जें वेदाचिया उत्तरें । बोलवेना ॥ २५ ॥
बिम्बाधारें प्रतिबिम्बल । अन त होउनि आभासल ।
असत्य येव रूढल । अज्ञानिया ॥ २६ ॥
गाडवरिचे रुणें नयनीं दिसे माजिरपाण ।
परि तें जगी मिरवण । कैसेनि घडे ॥ २७ ॥
स्वप्नींचीं करणा मेटि । चित्रींची काय पालोनि उटि ।
दर्पणींचा हार कण्ठीं । कवण मिरवा ॥ २८ ॥
मृगजळाचे जीवन । तृषाक्रान्त कैसे सेवणें ।
गन्धर्वनगरीं वसण । हें काय घडे ॥ २९ ॥

नयनीची पुतळी । कैशी धरिजे अचळीं ।
गगनाचिये पोकळी । पागुळ धावे ॥ ३० ॥
वांझेच्या पुत्राचा विवाहो । मशके गिळिला ब्रह्मांडकटाहो ।
हा शब्द जैसा वावो । विचारिन्ता ॥ ३१ ॥

आकाशाची साली काढिली । वारियाचि चिंधी फाडिली ।
अरनीसी लाग मढविली । ऐसें काय घडे ? ॥ ३२॥
अधारींचे कोळें । उष्ण वेउनि वाळविलें ।
सर्पाचे पाय बांधिले । वाळुवेचेनि वेटी ॥ ३३ ॥
ज्योतिचेनि रगें । वस्त्रें रंगिली चागें ।
वायोचेनि लागभागें । पागुळ धावे ॥ ३४ ॥
मोटें बाधिला मळयानिळ । चन्द्रकिरणीं पायपोळ ।
साच होये एवढा बोल । निर्धारिता मिथ्या ॥ ३५ ॥

मुकिया मुकें भेटलें । तरी बोलणें सहजचि खुटलें ।
आधळिया आधळें झगडलें । तेथें देखावे कोण ॥ ३६ ॥
मिळाला पागुळा पोहा । तरि मार्ग कवण लघावा ।
गेले वेडियाच्या गांवा । तरि ज्ञान कवणा नावडे ॥ ४४ ॥

तैसें झालें जगा सकळा । परि एखादा ज्ञानी तो वेगळा ।
येरां द्वैतभाव सकळा । पथ कैंचा ॥ ४५ ॥
मोरा सर्वाङ्ग डोळे । परि देखावयाचे वेगळे ।
तारागणींचें तेज आथिले । परि सूर्याचें नये ॥ ४६ ॥

श्री न० र० फाटक के 'ज्ञानेश्वर वाङ्मय आणि कार्य' ग्रन्थ में छठे अध्याय में 'वाङ्मय चातुर्य' में विस्तार से ज्ञानेश्वर की शब्द शक्ति का विवेचन है। अमूर्त भावों के लिए विविध प्रकार के शब्द गढ़ना और विचारों को स्पष्ट करना उनके लिये बहुत सहज था। गीता के ग्यारहवें अध्याय के पाँचवें श्लोक की टीका में ज्ञानेश्वर ने अपनी शब्दसम्पन्न कल्पना शक्ति को अनिर्बन्ध छोड़ दिया है। उदाहरणार्थ : कृश स्थूल, ह्रस्व विशाल, चौड़ा ऊँचा, अप्रात अनावर प्राञ्जल, सव्यापार निश्चल, उदासीन स्नेहल, तीव्र शान्त, समद स्तब्ध सानन्द, गर्जित निःशब्द, सौम्य घूर्णित, सावधान असलग, अगाध,

उदार अतिवक्र क्रूर, साभिलाष विरक्त, उन्निद्रित निद्रित, परितुष्ट आर्त प्रमत्त, अशस्त्र सशस्त्र, रौद्र अतिमित्र, भयानक विचित्र लयस्थ, जनलीला विलासी, पालनशील, सावेश सहारक, साक्षीभूत (पृ० १७८ वही)। फाटक के अनुसार 'ज्ञानेश्वर के दृष्टांत उनकी विद्वता और निरीक्षण पटुत्व का दर्शाते है। साथ ही वे सहज, सुबोध, समर्पक और सरस ह। (पृ० १८७, वही)।

ज्ञानदेव की तरह श्री एकनाथ की 'श्री शुकाष्टकावरील टीका' म भेदा भेदातीत स्थिति का यह वर्णन देखिय यह सारी भाषा निरजनियों की सी है

समस्त ब्रह्म हे ज्ञाती । सोऽहं अभेदवृत्ती ।
तेही भावळोनि स्फूर्ति । मग ज उरे ॥ ३७ ॥
अविद्याभेद सबळ । विद्या अभद सकळ ।
दोन्हीं जाऊनि केवळ । तें भेदाभेदातीत ॥ ३८ ॥
जेव्हा भेदाभेद नाहीं । तेव्हा अभेद त कायी ?
परा चिन्मात्र ज काहीं ते उभयातीत ॥ ३९ ॥
ज्ञानाचिया परिपाटी । सोऽहं ह्मणे ज्ञानदृष्टी ।
तहीं, गेलियापाठीं । अभेदातीत ॥ ४० ॥
ऐसे गलिया भेदाभेद । केवल उरे शुद्ध ।
तचि पैं विशद । रूप करू ॥ ४१ ॥
परामात्मा परज्योती । परब्रह्म परम ज्ञप्ती ।
परात्पर प्रकृती । परावर जो ॥ ४२ ॥
निर्विकार नित्य । निःप्रपञ्च निर्निमित्य ।
निष्कर्म निजसत्य । सत्यमूर्ती ॥ ४३ ॥
अज अव्यय अचळ । अरूप अक्षय अढळ ।
अजरामर अमळ । अनादि जें ॥ ४४ ॥
निःशब्द निष्काम । निर्गुण निरुपम ।
निःसग निर्व्योम । निजानन्द ॥ ४५ ॥
स्वात्मा स्वयज्योती । स्वलील स्वशक्ति ।
स्वकळा स्वात्मप्रतीती । आत्मत्वाची ॥ ४६ ॥
ऐसा अद्वय एकला । एकमर्ण सचला ।
यापरी ओंगें झाला । भेदाभेदातीत ॥ ४७ ॥

तरी नादतेनि भेदें । तो भेद न देखता नादे ।
आपुलेया स्वात्मपद । उल्हासतू ॥ ४८ ॥
तो आकारें नाकारे । आकारनाशीं न सरे ।
अधिष्ठान प्रतिभरें । अखड झाला ॥ ४९ ॥

इस प्रकार से दोनों भाषाओं की निर्गुण सन्त कविता में समानता बहुत अधिक मिलती है। अ तर यदि कुछ है तो स्थल काल भेदानुसारी, दृष्टान्तों के चुनने भर का अतर है। माया के विषय में ज्ञानेश्वर ने कुम्हार ने तैयार किया हुआ घुड़सवार खिलौनों का सै य, जादू के अलकार, आकाश में मेघों की दृश्यावली, बाहर फल नही और अन्दर से खोखली साभरसींग की वृद्धि आदि ।॥ अन्तर का एक प्रधान कारण यह है कि महाराष्ट्र के स त विशुद्ध निर्गुणवादी नहीं थे और वे तार्किक भी अधिक हैं। इस कारण से जो आध्यात्मिक शब्दावली वे प्रयुक्त करते है, उसमें सगुणोपासना की सूक्ष्म छटा सदा रहती है।

इसके निकष पर इस प्रकार के काव्य को कसना हमेशा ईप्सित फल नही देगा। वस्तुत स तों को जो मिला, वह सहज आन द, वह गुह्य सन्तोष, वह परम रसानुबोध भिन्न प्रकार का है और उसे लौकिक अर्थों मे रस का चौखट म बाँधना उसके साथ अन्याय करना होगा। इस बात की विवेचना हम अब प्रबन्ध के अन्तिम अर्थात् पाचवे उपसहार नामक खण्ड में करेंगे, जिसमें तत्कालीन मर्मियों या रहस्यवादियों की वृत्ति की व्याख्या, उनके विरह विषयक विचार, उनका परवर्ती कवियों पर प्रभाव और निर्गुण धारा के क्रमश अप्रचलन की कारण मीमांसा प्रस्तुत की जाएगी।

खण्ड ५

उपसंहार

१—रहस्यवाद की तत्कालीन परिभाषा का परीक्षण।

२—रहस्यवाद में विरह व्यंजना।

३—इस काल के बाद के काव्य पर इस विचारधारा का प्रभाव।

४—निर्गुण कविता के अप्रचलन के कारण।

५—कुछ निष्कर्ष।

अध्याय १

रहस्यवाद की तत्कालीन परिभाषा का परीक्षण

जनाबाई ने अपने एक पद में लिखा है कि उसके गुरु के समक्ष एक बड़ा चमत्कार घटित हुआ। कपूर जल गया, पर उसमें से कोई धुँआ नहीं निकला। शक्कर बो दी गयी और गन्ना बाहर निकल गया (श्रवण नयनमय बन गये) एक बुढ़िया का बालपति से विवाह कर दिया गया। यह सबसे बड़ा चमत्कार हुआ। यह चमत्कार उसने अपनी आँखों से देखा और इसका कोई स्पष्टीकरण वह न दे सकी (२० वाँ अभंग)। जनाबाई ने अन्यत्र कहा है, 'परमात्मा का स्वरूप मुझपर एक बाढ़ की तरह आया और उसकी ओर देखते ही मैंने अचेतन होकर आँख मूंद लीं (पद-१७)। चांगदेव ने अपने एक पद में कहा है कि शरीर वधू है और आत्मा वर। ईसाई रहस्यवादियों में सन्त जॉन की 'जागृत ज्वाला' (लिविंग फ्लेम) में (२,९,१०,११) उल्लेख है कि 'यह बड़ा ही स्वादमय घाव है। वर आत्मा के अन्तरतम गुह्य में प्रवेश करता है। इसी घाव में से ज्योति बाहर निकलती है और जोरों से बाहर उफनती है और एक प्रकाशमय भट्ठी के रूप में वह दमकती है। आत्मा आग का एक विशाल समुन्दर बन जाता है।'

तत्कालीन रहस्यवाद की परिभाषा निश्चित करते समय यह प्रश्न बार बार उठा है कि क्या धर्म का सार तत्त्व यदि अन्तिम रूप में लिया जाए, तो काम जन्य आनन्द की अन्तिम अवस्था के समान होता है, यह श्रेडेर का मत सच है। बृहदारण्यक (४,३-२१) में इस तरह का उल्लेख आया है 'तद्यथा प्रियता स्त्रिया सपरिष्वक्तो न बाह्यम् किंचन वेदना तरम्, एवमेवायम् पुरुष प्राज्ञेनात्मना सपरिष्वक्तो न बाह्यम् किंच न वेदना तरम्'। अर्थात् 'व्यवहार में जिस प्रकार से इष्ट स्त्री द्वारा आलिंगन प्राप्त हुआ पुरुष अपने से अन्य या बाह्य पदार्थ को अथवा स्वयम् को भी नहीं जानता, इसी प्रकार से प्राज्ञ आत्मा से आलिंगित या एकरूप हुआ पुरुष अनात्मवस्तु को नहीं जानता। वही यह इसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोकशून्य रूप है।

परन्तु विलयम जेम्स का 'वेराइटीज आफ रिलीजस एक्सपीरियस' में कथन है कि 'धार्मिक' चेतना और काम विषयक चेतना इन दोनों के विषय में हर बात भिन्न है उसकी आधारवस्तु, मनोदशा, लक्षण और क्रियाएँ भी। डीन इग के लेखों की भूमिका में (पृष्ठ २७) 'पौर्वात्य सर्वात्मवाद के दो खतरे' शीर्षक से कहा है कि दर्शन के वे निकाय जो रहस्यवाद के प्रति सहानुभूति रखते हैं, वे नीति शास्त्र की दृष्टि से दुर्बल होते है।' और आगे चलकर वे उन दो खतरों को—(१) 'एंटिनामियानिज़्म' अर्थात् जो आध्यात्मिक तत्त्व द्वारा परिचालित है वे कोई पाप कर ही नहीं सकते ऐसा विश्वास, और (२) क्वाएटिज़्म अर्थात् अकर्मण्यता या कर्मविमुखता। इस बात की और विशद छानबीन रहस्यवादियों द्वारा प्रयुक्त प्रतीक योजना के आधार पर की जा सकती है। 'मेरे प्रिय को भाता है तम के पर्दे में आना' यह महादेवी जी की प्रिय पक्ति रहस्यवादियों के विषय में चर्चा करते समय अवश्य घटित होती है। 'कार्मेलगिरि के आरोहण' नामक प्रबन्ध में सेंट जोन आफ दि क्रास ने लिखा है कि 'आत्मा की अधेरी रात' (डार्क नाइट आफ दि सोल) इसलिए कहते है कि उस रहस्य यात्रा का आरम्भ बिंदु अधेरा है, अज्ञात है। यानी यह ससार क्षणभगुर है। फिर जो श्रद्धा की राह मर्मी पकड़ता है, वह भी अधियारी होती है। और जो उसका परमलक्ष्य है, वह भी अनन्त यानी अधेरा होता है। इसी अधियारी या उन्मनी अवस्था को अलग अलग तरह से कहा जाता है। प्लातिनस ने कहा कि 'उस परम अवस्था में किसी भी चीज का उस पर असर नहीं हुआ, कोई सुख दुख नहीं, कोई चीज उसके लिए पराई नहीं थी, बुद्धि भी नहीं बची, विचारणा भी नहीं, वह स्वयम् का ध्यान भूल गया। सौन्दर्य की भी उसके लिए कोई चेतना शेष नहीं रही। क्योंकि वह सौन्दर्य से परे हो गया। उसने पुण्य का परमलास्य जैसे पार कर दिया। कार्लाइल ने यही बात अपने निबन्ध में कही थी, 'जब चिरन्तन ना से चिरन्तन हाँ की ओर हम जाते हैं, तब इस अपेक्षा के केन्द्र में से हमें जाना ही पड़ता है। वह दो पहाड़ी चोटियों के बीच की घाटी है।'

इस अस्पष्टता का सम्बन्ध रहस्यवादियों की अबुद्धिवादिता के साथ बहुत है। बुद्धि या विवेक का बार बार वे खण्डन करते हैं। 'न मेधया। न

बहुना श्रुतेन ।' वाली उपनिषदुक्ति से लगाकर डायोनाशियस का उस सुन्दर कल्पना तक कि शिशु देवदूतों (चरजाम) म जा बुद्धिमान है, उन्हें सिर्फ आँखें हैं, परन्तु जो प्रेममय हैं, उन्ह सिर्फ पख ही पख हैं। डाटे क काव्य मं 'स्वर्ग' खण्ड (३३–१४३) में यह उक्ति है 'न तर्क, न सामान्यज्ञान, परन्तु किसी और ही नक्षत्र की सूर्य क प्रति जैसी गति होता है, वैसी मनुष्य की आत्मा की गति कोई भिन्न ही गति होती है' (L'amour che move il Sole e la altre stelle)। अरस्तू ने भी कहा था कि 'बुद्धि अपने आप में कुछ नहीं चलाती।'

यह जो मानवी जीवन और दैवी जावन का सम्पर्क बिन्दु है, इसे पाश्चात्य मर्मियों ने विभिन्न नाम दिये हैं। डान इग ने अपने 'ईसाई रहस्यवाद' म उसे सिनटेरेसिस कहा है और जर्मन रहस्यवादियों न उसे आत्मा का स्फुलिंग कहा है। कई लोग त्रिकोण कल्पित कर उसका अधिष्ठान नीच की धरती और उच्च बिन्दु स्वर्ग को छूनेवाला बतलाते हैं। यह जो ऊँचे शिखर की ओर, ऊर्ध्व मूल की ओर ध्यान लगाने की बात है, यह जर्मन विवेकवादी दार्शनिक इमान्युएल कान्ट म पायी जाती थी। वह अपने दर्शन के चि तन में अच्छी तरह तब लगता जब वह पड़ोसी के गिरजे क शिखर की ओर एकटक देखता, ऐसा स्टारबुक की 'साइकौलौजी आफ रिलीजन' ग्र थ में (पृष्ठ ३८८ पर) साक्ष्य है।

रहस्यवादी में एक विशेष प्रकार की शक्ति निरन्तर आत्मानुशासन, स्वेच्छया श्रम और वेदना की स्वीकृत, अदम्य सकल्प शक्ति के कारण होती है। यह एक प्रकार की मानवोपरि चेतना है। वही एक जातीय चेतना की भाँति भी है। जब चार पजों के बल पर चलने वाला पशु मानव बना और उसने रीढ़ की हड्डी सीधी की ऐसी वह अवस्था है। इसी को वीयम गिन्स ने ('गाड विथ अस' अध्याय–२ में) समीर और कशोर्यावस्था का 'अन्तर्गत कोलाहल' कहा है। अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा रहस्यवादी का आन्तरजीवन अधिक सघन और प्रगाढ़ और उत्कट होता है। परन्तु सबसे मजे की बात यह है कि इतने सब आन्तरिक द्वन्द्वों के बाद भी मर्मी अधिकतर दीर्घजीवी व्यक्ति होते हैं कुछ उदाहरण लें तो स त हिल्डेग्राडे ८८ वर्ष, सुसो ७० वर्ष, स त टेरेसा ६७ वर्ष, सन्त पीटर और कैथेराइन ६३ वर्ष। देलोक्राइ

(Delacroix) ने अपने ग्रन्थ (E'tudes sur la Mysticisme) में पृष्ठ ३ पर कहा है कि 'बड़े बड़े मर्मी अन्य अपवादात्मक व्यवस्थाओं में पायी जानेवाली नाड़ी संस्थानात्मक कमियों से मुक्त है, इसका अर्थ ही यह है कि उनमें एक जीवित रचनात्मक शक्ति, एक विधायक तर्क, एक आत्मज्ञान की वर्द्धित इयत्ता, एक प्रकार की अपूर्ववस्तुक्षम प्रतिभा होती है।' भारतीय रहस्यवादियों की आयु भी छोटी नहीं रही है। उनमें भी ब्रेमा के 'Piere et Poesie' (१२ वाँ अध्याय) में वर्णित स्वत्व का विभाजन स्पष्टत मिलता है। उसके शब्दों में 'एक तो अनिमस होता है जो ऊपर का बौद्धिक ज्ञान होता है, और दूसरा अनिमा जो कि रहस्यमय काव्यज्ञान होता है। एक तो मैं हूँ जो शब्दों और संकेतों से चलता है, और एक मत है जो वस्तु यथार्थ से जुड़ा है।'

रहस्यवादियों में संकेतों और प्रतीक योजना की प्रधानता प्राचीनकाल से चली आ रही है। यह प्रतीक बाह्य प्रकृति से चुने जाते हैं। ये प्रतीक श्रव्य या दृश्य होते हैं। उदाहरणार्थ, निष्कलंक शुद्धता और शुचिता का प्रतीक श्वेत पद्म है। मूर्ति या प्रतिमा श्रद्धास्थान मात्र होते हैं। आरम्भ में हिरण्यगर्भ, विश्वकर्मा, स्वयंभू, प्रतिमाएं थीं बाद में उपनिषदों में प्राण, वायु, ब्रह्म, आकाश के रूप में वही प्रतिमाएं परिवर्द्धित मिलती हैं। ब्रह्म का सच्चिदानन्द रूप बहुत बाद का है। विभिन्न देवताओं के वाहन और आयुध भी तत्तद्गुणविशिष्ट हैं। ब्रह्मा का हंस, विष्णु का गरुड़, शिव का नन्दी, मकर वरुण का। मकराश्व का वाहन है आगे हिरण, पीछे मछली। कार्तिकेय का मोर, वायु का हिरण, यम का भैंसा या कुत्ता। वैसे ही कई प्रकार के ग्राम देवता मिलते हैं। विश्वेश्वर या देवाधिदेव शिव यूनान की एक परमदेव की कल्पना से मिलता है।

यह देवत्व प्राणियों की भाँति वृक्षों, जलचरों, पशु पक्षियों पर और कभी कभी मानवी रूप में भी आरोपित हुआ। यह एक प्रकार का ऐन्द्रजालिक प्रभाव था।

परंतु रहस्यवाद की मनोभूमिका और जादू या इन्द्रजाल की मनोभूमि में मौलिक अन्तर है। वैदिक काल में सोमयज्ञ की विधियों में अथर्ववेद में

तो कई मन्त्र भी बने मिलते हैं, ऋग्वेद की १०२८ ऋचाओं में से १२ का सम्बन्ध जादूटोने से है। ईसापूर्व २०० वर्षों के गृह्यसूत्रों में और तीन हजार वर्ष पुराने यज्ञ और विवाह विधियों में ऐसे कई जादू से सम्बंधित स्थान हैं। जैसे पर्जन्य देवता को होत्र बुलाने हैं (स्वापिस्तोत्र) या मोती पहना हुआ श्याम अश्व। शतपथ ब्राह्मण में जहाँ अग्निदेवता की पूजा है, उसमें कई ऐसे जादू के रूप मिलते हैं 'हम तुझे प्रज्वलित करें, ताकि तेरा आश्चर्यकारी चूड़ स्वर्ग में उबले।'

'वहिया' का साम्य फारस की 'बरेस्मान' समिधाओं से मिलता है। इस प्रकार से अग्नि देवता को जो कुछ चढ़ाया जाता था, वह अर्थपूर्ण था। जो बहुत से पशु चाहता था, वह दो बछड़ों का गोबर चढ़ाता था (गोभिल गृह्यसूत्र ४-९-१३)। कौशिक सूत्र में चींटियों के नाश के लिए विष भी जोड़ा जाता था नैवेद्य में। बाण के सिरे शत्रुनाश के लिए चढ़ाये जाते थे। जिस स्त्री की केवल पुरुष सन्तान बराबर जीवित रही हैं, ऐसी स्त्री के पुत्र को वंध्या की गोदी में रखने से पुत्र कामना में सहायता होती थी। 'यातुधान' का अर्थ ही था इन्द्रजाल की कामना करने वाला। यह 'तपस्' से सिद्ध होते थे। अथर्व (१९- ६-५) में उल्लेख है कि शुचिता से भरी आत्मा में से स्वप्न जागता है। तैत्तिरीय आरण्यक (५-६-७) के अनुसार शुचिता या तप में से जगी वाणी ही देवताओं तक पहुँचती है। इस तप में से व्रण भी निर्मित होते हैं (अथर्व, ९-१२६, १८-२, १९-१८)। इस तपस् से आकाश के तारे भी बनते हैं (शतपथ ब्राह्मण, १०-४, ३-२)। फिर अथर्व में अर्बुद्धि और विरूपाक्षों का उल्लेख है। ऋग्वेद में अप्वा नामक रोग की देवता है जो शत्रुओं पर भेजी जाती है। आधुनिक काल के रोग कीटाणु युद्धों जैसे यह मन्त्र है 'अप्वा जाओ उनके मनों में गड़बड़ पैदा कर दो, उनके शरीरों को पकड़ लो, उनपर हमला करो, उन्हें जला दो, उनके हृदय में आग पैदा करके, तुम्हारा शत्रु कालिमा के गर्त में पड़े।'

फिर 'तनु' को 'पापम्' मानने की बात चली। क्योंकि पशुमात्र के सब अवयवों में शक्ति है, जैसे वृषभ के चर्म में बहुप्रजा होने का गुण है, कृष्ण मृग के चर्म में पवित्रता, उपजाचर्म में ऋद्धि और व्याघ्रचर्म में सर्वाङ्ग विजय। जादू का अगला रूप था रक्षणात्मक या रोगनिवारणात्मक, जैसे

तावीज। हिरण्यकेशिन गृह्यसूत्र (२-३-६८) म 'सूतिकाग्नि' का उल्लेख है। मैत्रेयी सहिता में पानी के राक्षसों का। फिर नाद से राक्षस दूर करने वाले उपाय, अपामार्ग वनस्पतियाँ आयीं। रथ मे तेजी से घुमाने से इ द ने अपाला को अच्छा किया। अथर्व में तो बुखार को मढक बनाने क, पीलिया को पीलक पक्षी बनाने के उल्लेख है (अथर्व, ७-११६-२, ५०-२२-४)। विभिन्न देवताओं की विभिन्न बोलियों का भी विधान था। पर्जन्य का कालिता से सयुजन् तैत्तिरीय सहिता (३-८-६) में ह। वैसे ही लाल रग का उपयोग होने लगा। आश्वलायन गृह्यसूत्र में और पारस्करीय गृह्यसूत्रों म 'नज़र लगना', कुदृष्टि आदि के अधविश्वास रूढ़ हो गये थे। यह सब उल्लेख विस्तार से देने का कारण यह है कि सिद्धो और जनपद सन्तों की कविताओं मे बहुत सा रहस्यवाद इस आरम्भिक अपरिभाषित, अरूप मन्त्र त त्र की परम्परा से जुड़ा है। पर तु रहस्यवाद केवल इन्द्रजाल नहीं है।

एवलिन अडरहिल ने अपनी रहस्यवाद पुस्तक मे दोनों के बीच मे मौलिक अ तर बतलाया है

जादू	रहस्यवाद
१ जादू प्राप्त करना चाहता है, लेना चाहता है।	१ रहस्यवाद देना चाहता है।
२ जादू म स्वार्थ निहित है।	२ रहस्यवाद निर्वैयक्तिक होता है।
३ जादू चोरी छुपके, घात लगाने के रूप से होता है। यानी उसमें व्यक्तित्व का एक भाग ही दिखायी देता है।	३ रहस्यवाद समूचे व्यक्तित्व का परिणमन है।
४ जादू के परिणाम दृश्य हैं।	४ रहस्यवाद के अमूर्त, अदृश्य।
५ जादू छोटी छोटी सफलताओं से सन्तुष्ट हो जाता है।	५ रहस्यवाद का साध्य परम मिलन है।
६ जादू मे औरों को मूर्छित, अक्रिय बनाने की भावना है।	६ रहस्यवाद एक प्रकार का दिव्योन्माद है। विलियम जेम्स ने 'वेरायटीज आफ रिलिजस एक्सपीरिअंस' में पृष्ठ-३८७ पर कहा है कि मदोन्मत्त की दशा और रहस्यानुभूति एकसी है।

७ जादू एक प्रकार की निरी इच्छा पूर्ति की प्रक्रिया है।	७ रहस्यवाद चिरन्तन अनुभूति है।

इस विवेचन का उद्देश्य इतना ही है कि हमारे विवच्य काल में सन्तों की रहस्यभावना बहुत कुछ इस प्रकार के अंधविश्वासों से रंगी हुई था। उसमें से विवेक और प्रज्ञावाद के सूत्रों को एकत्रित कर उनपर बल देना, समाज की रूढ़ मान्यताओं के विरुद्ध बगावत करना यह बड़े कार्य सन्तों ने केवल अपनी अडिग, निर्भीक संकल्प शक्ति के सहारे किये और उनकी रचनाओं में उस दिव्यता का सुन्दर आभास मिला। जैसे नामदेव का यह पद

(गोरोबा मुक्ताबाई भेट वर्णन, गा० ११३-११४-११५)

मोतियाचा चूर फकिला अम्बरी।
विजुचीया परी कीळ झाले।
जरी पीताम्बरें नसावली नभा
चैतन्याचा गाभा नीळ बिन्दू।
तळीपरी परसे शून्याकार झालें
सर्पांची ही पिल नाचू लाग।
कडकडोनी वीज निमाली तयींचे ठायीं
भेटली मुक्ताबाई गोरावाला।
परस्परें गुह्य करिती भाषण
म्हणती महाधान गावा आली।
रक्तश्वेत पीत नील वर्णाकार
नक्षत्राची वर पूजा केला।
प्रकाशमय तेज ज्योतिमय पहाणी
दीप त्रिभुवनी एक झाला।
निवृत्तिदेव म्हणे कुलालाचे चक्र
अन्तर बाहर एक झाले।
निवृत्तिदेव म्हणे चला गुफेमध्य
अचळ हे आह्मी समाधी असे।

सद्गुरु प्रसाद बाधिली नेटवी
गुहे गौप्य ताटी आड केली।
दण्ड चक्राकार बायिली चहूकडून
आत सन्तजन करिती वास।
ऐसे गुफेमध्यें नाही नामदेव
म्हणून माझा जीव थोडा होता।
गेनीचो मिरास, घतली प्रमाण,
पूर्वभूमि जतन करित आस॥

यह दिव्य साक्षात्कार वही था जो उपनिषद्काल से चला आ रहा था। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य गार्गी से कहते हैं कि 'हे गार्गी! ब्राह्मण जिसे अक्षर कहते हैं वह अस्थूल, अणु, अह्रस्व, अदीर्घ, अलोहित, अस्नेह, अच्छाय, अतम, अवायु, अनाकाश, असग, अरस, अगध, अचक्षुष्क, अश्रोत्र, अवाक्, अमन, अतेजस्क, अप्राण, अमुख, अमात्र, अनान्तर, अबाह्य, अनश्नान वा अनश्नीय है। (३, ८)

इतना लिखकर भी रहस्यवाद का बहुत सा अग अनुभवगम्य और शब्दातीत ही रहेगा। वही तो 'रस गगनगुफा में अक्षर झरै' कहकर कबीर ने वर्णित किया था। इसलिए परिभाषा की चौखट में तत्कालीन रहस्यवाद नहीं बँध सकता। वह अत्यन्त वैयक्तिक होकर निर्वैयक्तिक अनुभव था।

अध्याय २

रहस्यवाद में विरह-व्यंजना

प्रस्तुत परिच्छेद में मैं अंग्रेजी, मराठी तथा हिन्दी के कुछ मर्मी अथवा रहस्यवादी (मिस्टिक) कवियों के आर्त विरह वर्णन के नमूने प्रस्तुत करना चाहता हूँ। अन्त में फ्रायड की यह मान्यता कि प्रत्येक व्यक्ति में एक प्रकार की अपूर्ति अथवा अतृप्ति उपस्थित रहती है, जिसे वह कल्पना या स्वप्न द्वारा पूर लेता है, उसी के विराट् रूप में ये सब मर्मियों की उक्तियाँ हैं—यह सिद्ध करने का मैं प्रयत्न करूँगा। बृहदारण्यक, १।४।१-३ का आधार फ्रायड ने अपनी पुस्तक 'सदसत से परे' के आरम्भ में दिया है। वह अंश है—

> आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविध
> स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते।
> स द्वितीयमैच्छत्।
> स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ।
> स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्तत पतिश्च पत्नी
> चाभवतां तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व इति।

सूफी जामी की उक्ति भी बड़ी मार्मिक है—'जो एक नहीं हुआ है, वही दुई के कारण से दुःख पा रहा है।' एक से दो बनना दुःख का कारण है। विरह भी इकाई में सम्भव नहीं। दार्शनिक जिसे द्वैतवाद की समस्या मानते हैं, उसी पर यहाँ काव्य की दृष्टि से विचार किया जा रहा है।

अंगरेजी में सत्रहवीं सदी में कई अध्यात्मप्रधान कवि हुए हैं, जिनमें जौन डौन, क्रैशिउ, एबलिंग, क्रेशा, ट्रहर्न, वार्गो, एण्ड्रयू मार्वेल आदि प्रधान हैं। इन आध्यात्मिक कवियों के सम्बन्ध में ग्रीयर्सन अपनी विद्वत्तापूर्ण भूमिका में कहते हैं—'सत्रहवीं सदी के इन मर्मियों ने दो चीजों को मिला दिया—जो दोनों चीजें जल्दी ही नष्ट हो गयीं—मध्ययुगीन प्रेम कविता की कल्पना प्रधान द्वन्द्वात्मकता और पौराणिक कथाओं का सरल, ऐंद्रियिक स्वर। इस प्रकार आत्मा और शरीर को कविता देवी के रथ में जोड़ दिया

गया, जो खुशी खुशी दौड़े और उड़े भी। यूनानियों में विश्वास है कि पैगेसस नामक सपख अश्व पर काव्य प्रतिमा चलती है। आधुनिक प्रेम कविता ने व दोनों गुण छोड कर हलकी भावुकता म अपने आपको खो दिया है।' (मेटाफिजिकल लिरिक्स एड पोएम्स आक्सफोर्ड प्रकाशन)

एड्र्यू मार्वेल की यह उक्ति देखिये—'जैसे तिरछी रेखायें है वे प्रत्येक कोण में एक दूसरे से मिलती हैं, टेढे प्रेम की भी वही स्थिति है।'

'किन्तु हमारा प्रेम इतना समानान्तर है कि वह असीम होकर भी आलिगन नहीं करता।'

मार्वेल ने आत्मा और शरीर के बीच म एक सवाद लिखा है, जिसमें आत्मा कहती है—

'किस जादू ने मुझे बॉध रखा है कि मै दूसरे के दु ख से दुखी होऊँ।

जब कोई शिकायत वह करता है तो मै ऐसा अनुभव करती हूँ कि मानों मैं दु ख का अनुभव ही नही करती।'

अग्रेजी की इस आध्यात्मिक विशेषणयुक्त कवि परम्परा में जौन डौन अपना विशेष स्थान रखते हैं। वह अनेक विरोधाभासों से युक्त एक विचित्र व्यक्ति थे। उनकी विरह के सम्बन्ध में उक्तियाँ बहुत प्रख्यात हैं। उदाहरणार्थ कुछ उपमाएँ देखिये—

हमारी दो आत्माएँ जो असल में एक ही है,
विरह सह नहीं सकती, किन्तु चूँकि मुझे जाना ही है,
वे आत्माएँ फैलती चली जायेंगी
जैसे सोना कुट कुटकर कण कण बनकर हवा में उड जाता है।
अगर वे दो भी हो जायँ तो वे ऐसी दो होंगी,
जैसे कम्पास के दोनों पैर अपनी अपनी जगह तने हुए दिखाई देते हैं,
तुम्हारी आत्मा, उस केन्द्र में जमे हुए पैर की भाँति है जो हिलता नहीं,
परन्तु अगर दूसरा पैर हिले घुमे तो वह भी घूमता है।

यों अग्रेजी कविता का क्षेत्र विशाल है और बाइबिल के 'साम्स' से लगाकर आधुनिकतम कवियों तक विरहोद्‌गारों के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। सक्षेप में, अगरेजी धार्मिक कवियों का विरह वर्णन काफी स्थूल और ऐंद्रियिक वासनोद्दामता के सकेत लिखे हुए और मृत्यु के प्रति प्रेम दरसाते हुए हैं।

हमारे यहाँ के सन्तों की भावना इससे भिन्न है। मराठी के सन्त कवियों में ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम और उनके शिष्य निळोबा के ही उदाहरण यहाँ देता हूँ। सन्त ज्ञानेश्वर लिखित 'आळाचे अभंग' 'विरहिण्या' प्रकरण की कुछ चुनी हुई उक्तियों का भावार्थ यों है

'मिलने गया तो मैं उसी का होकर रहा। ऐसी ठगी गयी कि मुझे कुछ पता ही न चला।

लौटते वक्त जब आँख पीछे मुड़कर देखने लगा, तो न काली और न साँवला—कोई मूर्ति ही नहीं दिखाई दी।

अन्दर बाहर कैसा एक ही रंग भरा है कि जहाँ मैं गले भर कर मिलने गयी तो एकाकार हो गयी।

अब तो सभाले नहीं सभल पाती हूँ। माँ, तुझसे क्या कहूँ? पूरा जीवन ही मैंने न्योछावर कर दिया।

आशा का लालच गया तो उलटी भागती ही रही, निराशा को समय न लगते वह वांछित वस्तु मिल गयी।

उस रथ ने मुझे खींच लिया। क्या कहूँ माँ, बुलाने जाती हूँ तो वह सब निर्गुण ही हो जाता है।

मेरा अपनत्व नहीं बच रहा। प्रपंच (संसार) की कहानी ब्रह्ममय हो गयी।

दूर देश में पड़ी हूँ। मन में सुधियाँ आती हैं। यह वियोग असह्य है, इससे जीव कष्ट में है।'

ज्ञानेश्वर की विरहिणी सम्बन्धी एक और काव्यमय उक्ति भी देखिये—

'आँगन में कमलिनी है, जलधर ऊपर झुक आया है। क्यारी सींचने पर सूख सूख जाती है।

मोती जैसा पानी नीले पात्र में बह रहा है। सगुण की पीर जो वह जगा गया है।

आँगन पर भी झुक आया, मोती बरसाये। वह दिन धन्य था। सोने का दिन था।

अरे चोर मधुकर, तूने कमल में अपना निवास किया है। मोती तो राजहंस ही चुगते हैं।

मै अकेली राह देख रही हूँ, मुझे मदन जला रहा है। मेरी उम्र कम है, यह कहने की बात नहीं।

'अभी जाता हूँ' कह कर गया। मगर फिर इतना वक्त क्यों लगाया। दुकूल मोतियों से भीग गया।'

ज्ञानेश्वर १३३५ विक्रमी में हुए। परन्तु उनके समकालीन महानुभावीय पंथ के जानपद काव्य से अधिक सन्निकट प्राय नरेन्द्र कवि की अभी अपूर्ण उपलब्ध 'रुक्मिणी स्वयम्वर' नामक लम्बी कविता में विरह वर्णन का अंश देखिये। यद्यपि इसमें ममियों वाला रहस्यवाद का पर्याच्छादन नहीं है, फिर भी देवी देवता की ओट में काफी यथार्थवादी वर्णन है। इस ग्रंथ का रचना काल महाराष्ट्र में प्रचलित शालिवाहन शाक १२०० से १२१३ के बीच माना जाता है अर्थात् १३३५ विक्रमी, उसमें रुक्मिणी का विरह संपीडन यों वर्णित है —

"सामने चाँदनी जब दृष्टिगोचर हुई, तब उससे लक्ष्मी को सूक्ष्म वेदना हुई।

कहने लगी—यह हमारे क्षीर सागर का वड़वानल तो कहीं नहीं उल्टा—सब जगह फैल गया।

क्या आश्चर्य है कि बिना बादल के आकाश में चाँद रूपी गोल विद्युल्लता अखंड चमक रही है, जो देवता (स्वामी) के अभाव में मेरे शरीर पर अखंड गिर रही है।

अथवा वसन्त ऋतु के समय, नये अनंग ने होली जलायी है, उसमें यह चाँदनी धुलेंडी के रूप में, सारे अंगों पर छा रही है।

पहिले से ही विरह ज्वर है। वहाँ चन्द्र करों के झोंके और मथ रहे हैं। तब बाँस के पोरों में सहज वाद्य बज उठे (इसमें क्या अचरज ?)।"

और एक जगह नरेन्द्र उस अवस्था का वर्णन करते हैं, जब विरहिणी स्वयं अंग पुलकों से डर जाती है। इसकी तुलना रीतिकालीन हिन्दी कवि या अतिशयोक्ति प्रिय उर्दू कवियों से ही की जा सकती है —

"वह (विरहिणी रुक्मिणी) कस्तूरी के कमरे में लोटी, कुंकुम के मन पर चाँदनी के श्वेत शीतल प्रकाश में सोयी।

बायाँ हाथ सिरहाने रखा, दाहिना हृदय पर, मानो हृदय म स्वामी को बाध रखा—कहीं भाग न निकलें।

इतने में, आम की मजरी तो नही है—ऐसा समझकर चाका। वह तो उसकी ही अपनी उँगली थी। रक्तोत्पलों से वह डर गयी, अरे, वह तो उसके ही कर कमल थे।

अपने ही नाद से शकित हुई, यह समझकर कि कही कोयल तो नहीं कूक रही है, फिर अपनी ही उसासों पर वितर्क करने लगी कि यह मलयानिल तो नहीं आ गया।।

सु दरी ने जो 'सेला' पहना था, वह विरहाग्नि से ऊपर ही ऊपर जल गया, जसे तप हुए तल पर पत्ता फट जाता है।"

नामदेव (१२९७ ई० म १४०७ विक्रम सवत्) ने विरहिणियों के वणन नहीं किये हैं, पर तु ममियों की सी आत्मलाञ्छना का भान उन्हें बहुत है। एक तो वे अपनी ओछी समझी जाने वाली जाति दर्जीगिरी का उल्लेख करते हैं और फिर कौटुम्बिक दु ख तथा उपेक्षा का भी वर्णन करते हैं —

" लोहे का चाकू पारस से छू गया। अब उस पुरानी कीमत पर नहीं माँगना चाहिये।

वेश्या थी। वह पतिव्रता बन गयी। अब उससे पुरानी बात नहीं करना चाहिये।

दासीपुत्र को राजपद मिल गया। अब पहिले की उपमा नहीं देना चाहिये।

नि गुदास नामदेव 'विट्ठल' (विष्णु) से मिल गया। अब उसे दर्जी दर्जी कहकर पुकारना नहीं चाहिये।

पुत्र कलत्र ब धु आदि वज्रपाश में बँध गया। दु ख के पर्वत मुझ पर गिरे हैं। हे श्रीहरी, पाडुरंग (विट्ठल का एक नाम) 'धाय बचाओ।'

ये सब कुटुम्बी मित्रादि मुझसे सुख की बात नहीं करते। हे चक्रपाणि, म परदेशी हो गया।

सबका दास्य किया। बडी आस और भरोसा था कि वे अपने होंगे। मगर वे सब अपने ही हित (स्वार्थ) का सेवन कर रहे हैं—न मेरी चिन्ता करते हैं, न परलोक की।

अब तो सुख दु ख दोनों हमें एक से हो गये है। मन को यही

प्रतीति मिली है। अंतर्बाह्य एक ही ब्रह्म व्याप्त है। द्वैत भावना सब निबट गयी।"

नामदेव की इस प्रकार की आर्त आत्मस्वीकृति के पीछे उसके जीवन की जलती हुई उपरति की, पश्चात्ताप की कहानी है। नामदेव की शादी राजाई से हुई थी। शादी के बाद नामदेव बुरी सगत में फँसकर डाकू बन गया और राहगीरों को लूटता था। कई गरीब यात्रियों को मारा, भोले पथियों को लूटा। यह जब बहुत दिनों तक चला तब बड़ा हल्ला मचा और इन्हें पकड़ने के लिये वहाँ के अधिकारियों ने अपने 'राउत' (सिपाही) भेजे। 'राउत' और नामदेव के गिरोह मे लड़ाई हुई। कई 'राउत' मारे गये। परन्तु नामदेव का नियम था कि वह लूटपाट करता था तो ज़रूर, मगर अपने बड़े घोड़े पर चढ़कर अवढा गाँव के नागनाथ के दर्शन को अवश्य जाता। नित्य की भाँति इस 'राउत' संग्राम के पश्चात् नामदेव नागनाथ के देवालय में पहुँचा। ब्राह्मण आरती कर रहे थे। नैवेद्य की थाली सजी थी। उस समय एक गरीब शूद्र स्त्री वहाँ देवता के दर्शनों के लिये आयी। नैवेद्य की थाली का अन्न देखकर उस स्त्री की गोद में जो बच्चा था, उसने 'मुझे यह अन्न दे' ऐसा हठ किया। बच्चे का यह व्यर्थ का हठ देखकर माँ ने उसे डाँट दिया, परन्तु वह नही माना। तब माँ ने उसे पीटना शुरू किया। बच्चा अन्न माँग रहा है और माँ उसे पीट रही है, यह देखकर नामदेव का हृदय उमड़ गया और उसने पूछा—'माँ, तू अपने बच्चे को क्यों मार रही है?' उस गरीबिनी ने नामदेव को न पहचानते हुए हिचकियाँ भरते हुए उत्तर दिया—न मारूँ तो क्या करूँ? मैं इसके लिये ऐसा अन्न कहाँ से लाऊँ? मेरा धनी 'राउत' था, उसे नामा डाकू ने मार डाला। हाय भगवान्, अब मैं अपने बच्चे की जिद कहाँ से पूरी करूँ? इसे यदि मैं अपनी हड्डियाँ पकाकर दे सकती तो अच्छा होता।' नामदेव यह सुनकर पछतावे से भर आया। वहीं उसके पास जो कुछ था, वह सब बाँट दिया। अपनी बड़ी घोड़ी भी दे डाली और हाथ में एक छुरा लेकर वह देवता के बिलकुल पास पहुँच गया। शिवलिंग से बोला—अब मैं यह आघात सहन कर अपने आपको दंडित कर लूँगा, और छुरा अपने सिर में मार लिया। खून का फव्वारा छूटा। उसकी धारा शिवलिंग का अभिषेक करने लगी।

पुजारी दौड़ आये। नामदेव के हाथों से शस्त्र छीन लिया। ऐचना ने उसे पंढरपुर (महाराष्ट्र के वैष्णवों का प्रसिद्ध तीर्थ स्थान) जाने के लिये कहा। जख्म पट्टी से बाँधकर वह पंढरी के विट्ठल के दर्शनार्थ चला। राह में भीमा नदी पूर पर थी। वहीं वह भजन करता हुआ सत्याग्रह करता बैठ गया। लोग जमा हो गये—सब उसे डाकू नामा, दर्जी नामा कहकर चिढ़ाते। पर तु वह भजन गाता ही रहा। भीड़ खतम हो गयी। उस समय के ये पद हैं, जो ऊपर दिये हैं।

'महाराष्ट्र सारस्वतकार' वि० ल० भावे ने नामदेव चरित्र में नामदेव का एक भक्त और भगवान की एकरूपतावाला 'अभंग (छंदविशेष) दिया है और उसी के नीचे पाद टिप्पणी (फुटनोट) में 'मीरा की व्रजभाषा का मीठा पद' भी दिया है। मैं दोनों नीचे दे रहा हूँ, क्योंकि 'तुम और मैं' यह मर्मियों का प्रिय विषय है।

नामदेव —

तू आकाश मी भूमिका। तू लिंग मी शालुंका।
तू समुद्र मी चंद्रिका। स्वयं दो हीं॥
तू वृंदावन मी चिरी। तू तुलसी मी मंजरी।
तू पावा मी मोहरी॥
तू चाँद मी चांदणी। तू नाग मी पद्मिणी।
तू कृष्ण मी रुक्मिणी॥
तू नदी मी थड़ी। तू तारू मी सांगडी।
तू धनुष मी आतड़ी॥
नामा म्हणे पुरूषत्तमा। स्वयं जडलों तुझिया प्रेमा।
मी कुडी तू आत्मा। स्वयं दोन्हीं॥

मीरा —

जो तुम तोड़ो पिया। मैं नहि तोड़ूँ॥
तोड़ूं तोरा संग कृष्ण कौन दुजा जोड़ूँ?॥
तुम भये तरुवर, मैं भयी पंखिया॥
तुम भये सरोवर, मै भयी मछिया।
तुम भये गिरिवर, मैं भयी धारा॥

तुम भये चदा, हम भये चकोरा ॥
तुम भये मोती, हम भये धागा ॥
तुम भये सोना, हम भये सोहागा ॥
दासी मीरा कहे प्रभु ब्रज के वासी ॥
तुम मेरे ठाकुर, म तेरी दासी ॥

और रैदास का —

प्रभुजी तुम चदन हम पानी ।
जाकी अग अग बास समानी ॥
प्रभुजी तुम दीपक हम बाती ।
जाकी जोति जरै दिन राती ॥

इत्यादि पद तो बहुत प्रसिद्ध ही हैं ।

नामदेव के पश्चात् एकनाथ (१६०५ वि० १६६६ वि०) आते हैं, जिनके 'अभगों' में विरहिणी का रूप काफी स्पष्ट है। वे कहते हैं—

युग युग की पीड़ित यह विरहिणी है । यह ध्यानपूर्वक मन में चक्रपाणि का स्मरण नही करती, इसी से वियोग की यातना है । इतने में स त सगति मिली । विरह गया, अपार सुख हुआ । ज म ज म के आवागमन की डोर टूट गयी ।

और एक स्थल पर कहते हैं —

चातक की प्यास ही कितनी है ! लेकिन उसे तृप्त करने में पूरी चिति भी ज्ञात हो जाती है ।

गाय वत्स के लिये दूध देती है मगर उसीम से घर घर दूध दही मक्खन भी पहुँच जाता है ।

मिठाई खाना बालक नहीं जानता । माता जबर्दस्ती उसे मुँह में ठूँसती है ।

एका जनार्दन कहते हैं । मेरा एक पन कहाँ कोई ले गया ।

जामी (सूफी फारसी कवि) के इसी एके और दुई के भाव को लेकर फारसी साहित्य के इतिहासकार ब्राउन ने वे दो पक्तियाँ अनुवाद के रूप में दी हैं—

'ह्यूमोण्वर हैज नाट बीन वन, आल्सन मफरस ग्रिद दि पैंस आफ सेपरेशन'

मराठी सतमालिका मे, मर्मी कवियों में अतिम और महत्वपूर्ण कवि तुकाराम के कुछ छद देकर यह परिच्छेद समाप्त करता हूँ। तुकाराम की गाथा मे गोळणी (ग्वालिन, गोपियाँ) और 'विराण्या' (विरहिनियाँ) का अलग अध्याय हैं। गोळणी मे दो हिंदी के छद भी हैं, जो इस प्रकार दिये है —

म भूली घरजानी बाट। गोरस बेचन आय हाट ॥ १ ॥
का हा रे मनमोहन लाला। सब ही बिसरू देख गोपाला ॥ २ ॥
काहा पग डारू देख आनेरा। देखे तो सब वोहिन घेरा ॥ ३ ॥
हुँ तो थकित भई तुका। भागा रे सब मन का धोका ॥ ४ ॥

हरि बिन रहियाँ न जाय जिहिरा।
कबकी थाडी देख रहा ॥ १ ॥
क्या मेरे लाल कवन चुकी भई।
क्या मोहिपासिती बैर लगाई ॥ २ ॥
कोई सखी हरि जाये बुलवाव।
बार हि डारू उस पर तान ॥ ३ ॥
तका प्रभु कब देख पाऊ।
पासी आऊँ फेर न जाऊँ ॥ ४ ॥

ये विरहिणियाँ परपुरुष से रत होने के लिए बहुत व्याकुल रहती हैं। कहती हैं—'परपुरुष का सुख भोगना हो तो सिर काटकर हथेली पर रख लो। अपने ही हाथों से ससार (दापत्य जीवन) को आग लगा दो और पीछे मुड़कर न देखो। जिस प्रकार दीपक पर पतग होता है, वैसे ढीठ बनो।' (तु० की० गाथा अभग १९७)।

'विराण्या' अश में तो काम और उसकी अतृप्ति के स्पष्ट उल्लेख हैं, राधाकृष्ण सगुण रूप हैं, तीन तान पक्ति की तुकाराम की वे कविताएं अत्यन्त ही उत्कट हैं—

'पहिले पति से काम पूर्ण नहीं होता था, इसलिए मुझे मजबूरन व्यभिचार का सहारा लेना पड़ा। मुझे वह रात दिन पास चाहिए। एक क्षण न

एक घड़ी उससे अलग नहीं रह सकती। मेरी सुविधा पूर्ण करो। मैं तो अनन्त से रत हो गया---तुका कहता है।'

हिन्दी सन्त कविता से विरह वर्णन के अनन्त उदाहरण दिये जा सकते हैं, परन्तु चूँकि मेरा विषय क्षेत्र निर्गुणिए सन्तों तक सीमित है, अत यहाँ विद्यापति या मीरा या सूर और अन्य अष्टछाप के कवियों की बात जान बूझ कर छोड़ देना चाहता हूँ। निर्गुणियों में भी दादू और कबीर को ही लेता हूँ। दादू की विरहिणी आत्मा के उद्गार देखिये --

१ दे दरसन देखन तेरा, तो जिय जक पावे मेरा ॥
पिय तूँ मेरी वेदन जानै, हौं कहा दुराई छानै।
मेरा तुम देखे मन मानै ॥ १ ॥
पिय करक कलेजे माहीं, सो क्यों हीं निकसै नाहीं।
पिय पकरि हमारी बाँही ॥ २ ॥
पिय रोम रोम दुख सालै, इन पीरूँ पिंजर जालै।
जिय जाता क्यू ही वालै ॥ ३ ॥
पिय सेज अकेली मेरी, मुझ आरति मिलौ तेरी।
धन दादू बारी फेरी ॥ ४ ॥

२ आव सलोने देखन दे रे।
बलि बलि जाऊँ बलिहारी तेरे ॥
आव पिया तूँ सेज हमारी।
निसदिन देखो बाट तुम्हारी ॥

३ आव पियारे मीत हमारे।
निसि दिन देखौ भाव तिहारे ॥ टेक ॥
सेज हमारी पीव सँवारी।
दासि तुम्हारी सो छण वारी ॥
जे तुझ पाऊँ अंगि लगाऊँ।
क्यूँ समझाऊँ वारण जाऊँ ॥
पथ निहारूँ, बाट सँवारूँ।
दादू तारूँ तनमन वारूँ ॥

ऐसे भी और अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। मेरा निवेदन केवल इतना ही है कि ये सब सन्त या सभी या पहुँचे हुए ब्रह्मज्ञानी एक से शृंगार गर्भित रूपक या प्रतीक ही क्यों उपयोजित करते हैं? वही सेज, वही अंग मिलन, वही गम प्यास, वही तृषा मिटना, वही विरह ज्वाला, वही प्रिय के सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य की कामना, वही छटपटाहट, वही प्रतीक्षा, वही अकेला अकेलापन—सभी सन्तों की बानी में यह एक से वर्णन क्यों? भाषा, प्रान्त, देश काल भेद से ऊपर यह प्रतीकों की समानता क्या यह बात सिद्ध नहीं करती कि जो कुछ 'रहस्य वाद' जैसा माना जाता है, वह कहीं भौतिक वाद का ही उलटा रूप तो नहीं है, या उससे छुटकारा पाने का प्रयत्न मात्र तो नहीं है? और कवि भी चूँकि अपनी भौतिक अनुभूतियों के घेरे में अपने भाव और विचार जगत् को अलग नहीं कर सकता, यह सब सूक्ष्म के प्रति औत्सुक्य या आसक्ति, वस्तुतः 'स्थूल' का ही तार्किकीकरण (रैशनलाइजेशन) है। स्थूल अभाव ही सूक्ष्म विरह बन बैठा है। हमारे पास इन सब ममियों के व्यक्तिगत जीवन (विशेषतः दाम्पत्य जीवन) के सम्बन्ध में पर्याप्त शोध योग्य सामग्री नहीं, अन्यथा मेरे कथन को और पुष्टि मिलती।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने रहस्यवादियों की इस लाग लपेट, प्रतीकों का आश्रय लेकर बात करने के ढंग को विदेशी प्रभाव कह कर टाल दिया है, जैसे—'भारतीय भक्तिकाव्य को 'रहस्यवाद' का आधार लेकर नहीं चलना पड़ा। यहाँ के भक्त अपने हृदय से उठे हुए सच्चे भाव, भगवान की प्रत्यक्ष विभूति को बिना संकोच और भय के—बिना प्रतिबिम्बवाद आदि वेदान्त वादों का सहारा लिये—सीधे अर्पित करते रहे। मुसल्मानी अमलदारी में रहस्यवाद को लेकर जो 'निर्गुण शक्ति' की बानी चली, वह बाहर से—अरब और फारस की ओर से आयी थी। वह देशी वेष में एक विदेशी वस्तु थी। इधर अंग्रेजों के आने पर ईसाइयों के बीच जो ब्रह्म समाज बंगाल में स्थापित हुआ, उसमें भी 'पौत्तलिकता' का भय कुछ कम न रहा।' (चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० १३६–३७) और इस विदेशी प्रभाव के प्रति उनका पूर्वग्रह है ही—'फारस की शायरी भावपक्ष प्रधान है। उसमें विभावपक्ष का विधान नहीं या नहीं के बराबर हुआ है वेदना की विवृत्ति का

चाल फारसी और उर्दू की शायरी में बहुत अधिक है। विभाव और भाव के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण न होने से—इस बात का ध्यान न होने से कि मन में लाए हुए रूप किस प्रकार रस में सहायक या अधिक होते हैं—वेदना की विवृति कभी कभी बड़े बीभत्स दृश्य सामने लाती है। आबले फूटना, मवाद बहना, कलेजा चीरना, खून के कतरे टपकना, कबाब की तरह इधर उधर भुनना—वेदना का इस प्रकार का ब्योरा शृंगार का पोषक नहीं हो सकता।' (चिन्तामणि दूसरा भाग पृ० ११०)। 'काव्य में रहस्यवाद' नामक विशाल निबंध के ११२ पृष्ठों में केवल उपर्युक्त स्थल पर वेदना का उल्लेख है। मर्मी कवियों के इस पक्ष को जैसे वे भूल ही गये, जबकि रवीन्द्रनाथ ठाकुर प्राचीन साहित्य का 'उच्च साहित्य' स्वभाव निसृत अश्रुजल से कलंकमोचन करते हैं और स्वाभाविक आनन्द से पुण्य का स्वागत करते हैं यह ज्वाला देकर टालस्टाय के लोकादर्शवाद अथवा करुणामय मानवतावाद की आइ० ए० रिचर्ड्स के सहारे उन्होंने काफी खिल्ली उड़ायी है। खेद से कहना पड़ता है कि शुक्ल जी की तीनों बातें गलत हैं। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि निर्गुण भक्ति धारा केवल वैदेशिक प्रभाव मात्र नहीं थी। उसके पहले, उसकी जड़ में कुछ स्वदेशीय संस्कार बीज भी अवश्य थे। सूफी अभिमत ने सिंचन का कार्यमात्र किया। फारसी उर्दू कविता के सम्बन्ध में शुक्ल जी का दृष्टिकोण कैसे एकांगी है, यह पहले सिद्ध कर चुके हैं और वेदनावाद या टालस्टायवाली मानवता का मजाक उड़ाकर और केवल करुणाजन्य क्रोध या 'प्रक्षोभ रस' का उल्लेख कर शुक्ल जी ने रहस्यवादियों की, मर्मी कवियों की अकथनीय पीर या अनन्त वेदना के साथ पूरा न्याय नहीं किया है।

मगर इस प्रसंग में हम कबीर को नहीं भूल सकते। उसकी कविता वैसे रूखी मानी जाती है, परन्तु उसमें भी कई साकार प्रतीकों, उपमानों 'साध्यवसान रूपकों' (एलैगौरी) की कमी नहीं है। कबीर के ये शब्द देखिये —

१ तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहीं चैन, रात, नहीं निंदिया,
तलफ तलफ के भोर किया॥

तनमन मोर रहा अस डोल।
सून सेज पर जनम छिया॥
नैन थकित भए पथ न सूझै,
साईं बेदर्दा सुध न लिया॥

२ कैसे दिन कटिहैं जतन बताते जाइयो।
अचरा फारि के कागद बनाइन
अपनी सुरतिया हियरे लिखाये जाइयो।

और यह दोहे

सब रग तात रबाब तन, बिरह बजावैं निस।
और न कोई सुनि सके, के साईं के चित्त॥
बिरह बान जेहि लागिया औषध लगत न ताहि॥
सुसुकि सुसुकि मरि मरि जियें उठैं कराहि कराहि॥

अंगरेज़ी, मराठी और हिन्दी के कुछ निर्गुण सन्तों या 'ममियों' की विरह-कविता के उदाहरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि जितना ही ऊंचा रहस्यवाद का तार छूने का प्रयत्न किया जाता है, उतनी गहरी मींड़ उसमें से ऐन्द्रियिक प्रेमानुभूति की (स्पष्ट फायडियन शब्दों में काम वृत्ति की अतृप्त लालसा की) निकलती रही है। यह बहुत पुराने ज़माने से होता आ रहा है।

सूफी कवि, मुस्लिम सन्त और उर्दू के कुछ रहस्यवादी कवियों का साक्ष्य प्रस्तुत करना चाहता हूँ। ममियों में पायी जाने वाली आत्म निपीडक (मैसो-किस्ट) वृत्ति सूफियों में अत्यधिक प्रमाण में है। बारहवीं सदी का एक सूफी सनाइ कहता है—'खिरमने खुदरा बदस्ते खेरातन सोज़ेम मा' (हम अपने ही हाथों से अपने खिरमन को—सचित शस्य को नष्ट कर डालते हैं) और वह अपनी आखें फोड़ लेने को कहता है, प्रणय मार्ग पर अपने पाँव तोड़ लेने को कहता है और मौत का आवाहन तो वह हर घड़ी करते रहता है, 'अपने आपको सबसे पहले मिटा डाल, यदि तू उस राज राजेश्वर के दर्शनों की अभिलाषा रखता है तो उसके मन्दिर की धूल बन जा और उसके आने के मार्ग में अपनी प्रतिष्ठा का छिड़काव कर दे, प्रेम की पीड़ा का अनुभव प्रेमियों को ही हो सकता है, चलो इस प्रेमी को मार डालने वाली प्रेमिका का

शिकार बन्द पकड़ लें, और मृत्यु का सुखपूर्वक आवाहन करें। वह तो 'ख्याले चेहरये नज़ाजे रङ्ग' पर 'तौफ गह कुरवां कुनैम' अर्थात सुन्दर मुख के ध्यान में सब कुछ कुर्बान करने को तैयार है। उसके ईश्वर का रूप भी किसी उर्वशी से कम नहीं है। वह कहता है—

हे ईश्वर! तेरा रूप इस दुनिया की हर चीज से बढ़कर है। वह अतुलनीय है। तेरा कमाल आफत और नुकसान से परे है, यानी शाश्वत है।

मेरी आँख की पुतली तेरे दर्शनों के लिये उत्सुक रहती है। मेरे प्रेम भरे रोगी प्राण तेरे प्राणों का एक अंश है।

और एक दो सूफी लीजिये—हाफिज़ (चौदहवीं सदी) और जामी (पन्द्रहवीं सदी) से कुछ उदाहरण अपने कथन की पुष्टि में दू, हाफिज़ के 'दीवान' से कुछ चुने हुए चित्र देखिये।

'वह मुश्की रङ्ग की अलकें न मालूम किधर छिप गई हैं? हमारा दिल चुपचाप एक कोने में दुबका बैठा है—प्रियतमा की वे भौंहें कहाँ हैं?'

'आज माशूकों के अभाव में, सम्राट एक ही है। मैंने उसी को पाने के लिए दोनों जहानों को मिटा डाला। दोनों जहानों का अन्त एक ही है।

'तेरे काले अलकों के जाल में यह हृदय अपने आप ही जाकर फँस गया है। अपनी तिरछी चितवन से, अपने पैने कटाक्षों से तू उसे मार डाल, यही उसका दण्ड है।'

'प्रणय मार्ग अनन्त है। उस मार्ग में अपने आपको मिटा डालने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं।'

'तेरे मुख के प्रकाश से सभी निगाहें प्रकाशित हो रही हैं। तेरे मुख को बड़े बड़े नजर लड़ाने वाले देखते हैं, और ऐसा कोई नहीं, जिसका दिल तेरे काले अलकों में न उलझा हो। मेरे ये चुगली खाने वाले आँसू क्यों न लाल रङ्ग के होकर निकलें? दूसरों के रहस्य को खोलने वाली सदा लज्जित होती ही है। ऐ मिठास के सोते, तेरे मीठे ओठों की स्पर्द्धा में सभी प्रकार की शक्करें पानी में डूब चुकीं।'

और 'जामी' का भी वही रङ्ग है:

'दिल का अस्तित्व प्रेमी की जलन में ही है। और प्राण का सिर प्रणयी के चरणों पर पड़ा हुआ है। जब तक दिल किसी के अधिकार में नहीं चला

को एक ओर तद्रूप, तद्‌गभूत माना गया है, दूसरी ओर विश्वात्मा के सम्मुख मानवात्मा अपने अज्ञान का भान करती है (स्पिनोज़ा के 'डाक्टा इग्नौराटिका' की भाँति)। रहस्यवाद का पहला रूप नीत्योपरि (नानएथिकल) है, तो दूसरा नीतिबद्ध या नैतिक। भारतीय रहस्यवाद में, श्वाइट्‌जर के कथनानुसार जगजीवन स्वीकार तथा जगजीवन नकार या प्रवृत्ति और निवृत्ति का संघर्ष है। एक ओर तो ज्ञान को, सांसारिक अनुभवों को त्यागने का उपदेश होता है (मुसल्ला फोड़, तसबीह तोड़ किताबें डाल पानी में—), दूसरी ओर विश्वात्मा को एक प्रकार की सृजनशील प्रवृत्ति माना है, जिसका निरूपण भगवद्गीता, फिख्टे और रवीन्द्रनाथ ठाकुर में एक सा मिलता है। 'सा तपस तपस्व सर्वम् असृजत यदिदम् किंच' अर्थात् परमेश्वर ने यह सब कुछ जो है, वह अपने ताप (दु ख) के उत्ताप से निमित किया। प्रश्न हो सकता है कि परमेश्वर को यह दुख हुआ क्यों ? इस प्रकार चर्चा कर श्वाइटजर भारतीय रहस्यवाद के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों का संक्षेप में निरूपण करता है

१ निवृत्ति २ कर्म से अकर्म की प्रधानता ३ अनन्त आत्मा से सक्रिय संयोग ४ आदिमाया या सृष्टि की आदिशक्ति एक अनबूझ पहेली है ५ नीति अनीति से परे रहने की आवश्यकता। श्वाइट्‌जर ने शंका उपस्थिति की है कि ज्ञान तथा अनुभूति के क्षेत्र को छोड़कर केवल कर्म या योग द्वारा ही अनन्त आत्मा से महामिलन कैसे सम्भव है ?

इस विषय में महत्त्वपूर्ण सम्मति है कुमारी एवलिन अंडरहिल की, जिसने रहस्यवाद पर एक-स्वतंत्र ग्रंथ ही लिखा है। रहस्यवाद तथा कला का सम्बन्ध बताते हुए यह कहती हैं—'बहुत थोड़े लोग ऐसे हैं, जो इस रहस्यानुभव की झलक अपने जीवन में पाते हों। जो पुरुष प्रेम का शिकार होता है और यह अनुबोध उसमें जागता है कि इस लड़की नामक संज्ञा से अभिधेय व्यक्ति में एक अवर्णनीय, अनिर्वचनीय वास्तविकता निहित है, अथवा वह कवि जो प्रकृति में एक अननुभूत आभा के दर्शन करने लगता है, जो इस द्यावापृथ्वी पर अलौकिक रूप से फैली है, अथवा वह जो अरूप की चिन्तना करता है और जो सच्चा साक्षात्कार से हृदय परिवर्तन अनुभव करता है, हम सभी ने एक क्षण के लिये क्यों न सही, इस जगद्‌रहस्य को जान लिया। कलाओं में यही 'इन्ट्यूशन' (प्रज्ञा) अभिव्यक्त है, ब्लेक

कहता था चित्रकला संगीत, काव्य सब इन्हीं अमर भावों में रहते और उन्हीं में रमते है। कला आभास और वास्तविकता के बीच की कड़ी है। रहस्यवाद इसी दृष्टि से कलाओं की कला है। प्रतीक वह आवरण है, जो आध्यात्मिक आशय व्यक्त करने के लिये भौतिक सतह से उधार लेना पड़ता है, एक कलाभिव्यंजना है। उसे अक्षरश न लेते हुए, उसके व्यंग्य और ध्वन्य पर ध्यान देना चाहिये। इस कारण जो व्यक्ति यह समझते है कि सन्त कैथरिन या सन्त तेरेसा के 'आध्यात्मिक परिणय' के भीतर एक प्रकार की विकृत यौनलालसा विद्यमान है, या जो पवित्र हृदय के स्वप्न को इस प्रकार का असभव शारीरिक अनुभव मानते हैं या तो सूफियों के दैवी नशे को निरा मतवालापन समझते हैं, या वे कला के तन्त्र सम्बन्धी अपने अज्ञान का प्रदर्शन करते हैं।

ए० सी० बोके के तुलनात्मक धर्म में ग्यारहवाँ अध्याय रहस्यवाद के सम्बन्ध म है जिसमें ईसाई, मुस्लिम, हिन्दू, बौद्ध सभी रहस्यवादियों की भिन्न प्रवृत्तियाँ प्रधान या सर्वसामान्य मानी गयी है—

१ सब विभेद या अलगाव झूठा है। ससार अभेदात्मक है।

२ पाप झूठा है। पाप ससार के किसी अश विशेष को स्वाधीन मान लेने के कारण है।

३ काल भी झूठा है। सत्य या वास्तविकता शाश्वत है, वह कालातीत है। बोके प्लेटो और अगस्तीन के रहस्यवाद को हिन्दू उपनिषदों से प्रभावित मानता है। प्रावलकके 'स्यूडो डायोनिशियस' ग्रन्थ का आधार ईसाई चिन्तकों के क्षेत्र से बाहर का है। उसमें सुषुप्ति तक का उल्लेख है। गज़ाली ने इसी ग्रन्थ के निम्न तत्वों को अपने आप में मिला लिया है (१) परमात्मा अकेला है। वही सब चीजों में है, सब चीजें उसी में हैं। (२) उसी से सब चीजें निकली हैं। उससे ऊपर उनका मूल्य नहीं। (३) धर्ममात्र व्यर्थ है। वे सिर्फ पथ हैं। (उनमें इस्लाम सबसे लाभदायक और इसमें सूफीमत सच्चा फिलसूफ है।) (४) पाप पुण्य में कोई अन्तर नहीं। क्योंकि परमात्मा ही सबका बनाने वाला है। (५) परमात्मा ही मनुष्य की इच्छा शक्ति का प्रणेता है। अत मनुष्य अपने कर्मों में स्वतन्त्र नहीं। (६) आत्मा शरीर से पहले थी। शरीर पिंजरा है, आत्मा उसमें तोते की तरह बद्ध है।

मृत्यु काम्य है, इसी मार्ग से पिंजर द्वार खुल जाते हैं सूफी की आत्मा अपने 'नशेमन' में लौट जाती है। (७) परमात्मा की दया के बिना कोई भी इस आध्यात्मिक महामिलन को प्राप्त नही कर सकता, हाँ हार्दिक प्रार्थना से वह दया प्राप्त की जा सकती है। (८) सूफी का प्रधान कर्तव्य है इस परमात्मा सयोग का चि तन करना। परमात्मा के विभिन्न रूपों का ध्यान, नामों की स्मृति करना और 'तारिकत' (जीवन यात्रा) में उत्तरोत्तर बढ़ना।

हमारे यहाँ तान्त्रिकों ने भी यह जीवन यात्रा पचमकार से विभूषित कर डाली थी। महानिर्वाण तन्त्र के दशम पटल मे मैथुन के सम्बन्ध में कहा है कि 'जो वह करता है, वह मै (शिव) ही हूँ।' ध्यान रहे शिव सदाशिव हैं, अर्थात् हमेशा अच्छे, पाप पुण्य से परे।

उपर्युक्त चर्चा से सिद्ध हो गया कि रहस्यवाद की एक तर्कसम्मत निश्चित परिभाषा नहीं है। सभी रहस्यवादी विचार धाराएँ स्थूल का आधार आवश्यक समझती हैं, जैसे तैराक एक फुटबोर्ड का सहारा लेता है। चाहे बाद मे वह स्थूल वे छोड़ दें, पर तु उस प्रतीक सकेत आदि रूपों मे उसी की ओर बार बार ध्यान जाता जरूर है। जलबीच रहकर भी किनारे का ध्यान छूटता नहीं। रहस्यवादी की अवस्था एक प्रणयी के समान है दोनों आर्त हैं, दोनों की शाश्वत टोह चल रही है। कोई दिलवर को अपने अन्दर ढूँढने में मग्न है (नारसिसिज्म--स्वरत्यात्मकता), कोई दिलवर को पुरुष रूप मानकर 'हमरे राजा राम भरतार' का गान कर रहा है, कोई सनम को माशूक मानकर स्वयम् मन्सूर और मजनूं बन रहा है। कोई परमपिता परमात्मा या आदि जननी के आगे 'हम बालक' कहकर 'यूडिपस काम्प्लेक्स' का शिकार बन रहा है। काम के विविध रूपों से भागने की, उसे अवरुद्ध करने की छटपटाहट सर्वत्र है, और जितना ही उसे निरुद्ध करने की कोशिश की जाती है, उतना ही वह गहरा पैठता है। 'न प्रतीक विना हि स' प्रतीक के बिना 'वह' नहीं।

रहस्यवाद की चर्चा में कला का प्रसग भी छिड़ा है। उसी में से आगे अश्लीलता का प्रश्न भी उद्भूत होता है। फ्रायड ने धर्म और कला दोनों को यौन प्रवृत्ति के स्थानान्तरीकरण का एक स्वरूप माना है। डा ई क्रेट्श्मेर अपनी 'शरीर और चरित्र' नामक मनोवैज्ञानिक मीमांसा में पृष्ठ ३८४ पर

कहते हैं कि 'श्रिज़ोफ्रेनिया और डेमेन्शिया प्रीकाक्स (मानसिक विकृतियों) के शरीर को यदि फिर औसत आदमी की हालत में सुधार कर लाना हो तो मझली अवस्था में वह एक अभिनेता या गायक होगा—आत्म प्रदर्शन की लालसा अभी इस अवस्था में भी उसे बहुत प्रोत्साहित करती है। वह एक भविष्य-वादी चित्रकार, एक अभिव्यञ्जनावादी कवि, अथवा एक अध्यात्मचिन्ता करने वाला रहस्यवादी भी बन सकता है।' मेरे कथन का यह अर्थ कदापि नहीं कि मैंने जो मर्मी या सन्त कवि ऊपर उद्धृत किये, वे सब के सब मानसिक रुग्णता से पीड़ित थे, परन्तु इतना अवश्य है कि फ्रायड की कलाकृति के निर्माण के पहले की मानसिक अवस्था का विश्लेषण यदि मान्य किया जाय तो उन सन्तों अथवा सन्तों की उच्च कोटि की कलाकृतियों में—विशेषत विप्रलभ श्रृङ्गार की व्यञ्जनाओं में—वर्जनाओं का, मानसिक सङ्घर्षों का, अन्तर्द्वन्द्वों का अवश्य गहरा हाथ रहा होगा। 'चल चकई वा देश को जहँ रैन कभी नहि होय' कहने वाला कबीर या 'माधव अतरी नारी, अगना अतरी हरी,' कहकर रासक्रीड़ा वर्णन करने वाला गुजराती सतकवि भीम या मराठी हरिजन चौखोबाराय एक स्थान पर कहते हैं कि आँखों का सुन्दर जिस दृष्टि से देखने गया तो आख ही उस सुन्दर के भीतर निकली। आखों का सुन्दर आँखों से देखा, तो वहा आप से आप ही आंख छिप गयी। (चोखा कहता है कि बड़ा आश्चर्य हुआ कि सुन्दर जो देखने गया तो आख ही बिलम गयी)। इन उक्तियों के पीछे किसी भी प्रकार की 'कशिश', वासना और प्रेम की रस्साकशी उपस्थित नहीं थी, यह कहना जान बूझकर सत्य को ढाँकने का यत्न करने के समान है।

'कवि तथा दिवास्वप्न' की चर्चा में फ्रायड कवि की बच्चे के साथ तुलना करता है। दोनों एक प्रकार के घरौंदे की दुनिया में विश्वास करते हैं। कवि एक अवास्तविक जगत की शरण लेता है, जो कि शिशु क्रीडा का ही एक परिवर्द्धित रूपमात्र है। कवि और बच्चे, दोनों अपने अपने अवचेतन मन में गहरा रस लेते रहते हैं। आगे चलकर फ्रायड कलाकार, मानसिक रोगी तथा आदिम असभ्य मानवों की तुलना करके कहते हैं—'हमारी सभ्यता में अब केवल कला के क्षेत्र में, भावों का सार्वदेशीय आधिपत्य प्रस्तुत है। कला में ही एक व्यक्ति अपनी काल्पनिक इच्छाओं से उत्प्रेरित हो कर, उसी में तप गल कर, कुछ

ऐसी बात, निर्मित करता है जिससे उसकी इच्छाएं परितृप्त होती हैं, और उसी कलात्मक आभास का परिणाम कुछ ऐसा होता है कि मानो वास्तविकता से कल्पना में से यथार्थ जगता है। यह कला का जादू है। वह 'अभाव' में से 'सत्' निर्मित कर देता है।'

फ्रायड जिसे यौन वृत्ति का आत्यंतिक निरोध तथा मार्गान्तरीकरण कहता है, उसी को युङ्ग ने कहा है, परिणामों का एक साथ विस्फोट, जो कि कलाकारों में कलात्मक अभिव्यञ्जना का स्रोत होता है।

फ्रायड के अनुसार धर्म का मूल असहिष्णुता है। ईसाईमत प्रेम का प्रचार करता है, परन्तु वह प्रेम एक प्रकार की नकारात्मक घृणा ही है। आज यदि यह असहिष्णुता धर्मयुद्धों के जमानों से कम दिखाई देती है तो वह इसलिए नहीं कि मनुष्य स्वभाव बदलकर कोमलतर हो गया है, परन्तु इसलिए कि धर्म के मूल में जो जीवोत्प्लव विषयक बंधन थे वे शिथिल हो गये हैं। यदि धार्मिक 'लिबिडो' का स्थान समाजवादी 'लिबिडो' ने लिया, तो समाजवादी विरोधियों के साथ वही बर्बर असहिष्णुता दिखाई जायगी। फ्रायड ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि प्रेम भावना का जड़ीकरण यौन प्रवृत्ति की वर्जना से उत्पन्न होता है। यही जब सामूहिक रूप ग्रहण करता है तो, आदिम मानव का 'टोटेमिज़्म' (धार्मिक रूप से झाड़ फूक कर रोग से मुक्त करना आदि) कहा जा सकता है। अविकसित और अपरिपक्व प्रसुप्त इच्छाएँ एक ओर और दूसरी ओर अहम् में सम्मिलित प्रवृत्तियों के बीच जो संघर्ष उत्पन्न होता है, उसी 'न्यूरोसिस' (मानसिक विजड़ीकरण) में से सैकड़ों आत्म अनात्म संबंध उत्पन्न होते हैं। धर्म भी उन्हीं में से एक है। एक स्थान पर फ्रायड ने स्पष्ट कहा है —

"धर्म के मूल में एक प्रकार की मातृ पितृ मूलक प्रेम की शिशु वृत्ति है।" फ्रायड इस प्रेम को भी 'काम' के अन्तर्गत मानता है। आत्मा स्वयं के संबंध में जो सोचती है और अपना आदर्श जो उसने कायम कर लिया है, उस उपरि अहम् के और मौलिक अहम् के बीच संघर्ष होकर अपने आपको पराजित मानकर, अपनी व्यर्थता मानने लगती है। इसी भावना में धर्म का बीज निहित है। धर्म, नैतिकता और सामाजिक भावना आरंभ में एक ही

है। एच० जी० वेल्स ने अपने विश्व इतिहास में लिखा है कि पाषाण युग के मनुष्यों की कृतियों में धार्मिक या रहस्यवादी प्रतीक नहीं पाये जाते।

मनुष्य के भावी जीवन में स्वर्ग के उपहार की कामना एक प्रकार के स्वेच्छा से या बलात् सांसारिक सुखों के त्याग, वासना के निरोध के काल्पनिक मानसिक प्रक्षेपण मात्र हैं। धर्मों ने वासनाओं का, सांसारिक तृष्णाओं का सम्पूर्ण त्याग कभी नहीं किया-उलटे उन्हें आगामी जीवन के लिए सुरक्षित रखा-बीमे के विज्ञापनों की तरह (हत्वा वा प्राप्स्यसे स्वर्गम्)। क्या हम सन्त कवियों की कलाकृतियों को भी इसी श्रेणी में ला सकते हैं? मित्रा ने अपने 'प्रीहिस्टारिक इण्डिया' में एक जगह कहा है कि 'कला सभ्यता से पूर्व की वृत्ति है। वह अनुकृति नहीं, न वह सीखा हुआ कौशल है। वह तो धर्म के समान ही प्राथमिक वृत्ति है। कदाचित् भाषा के समान। कला मानव जीवन के अस्तित्व के आरम्भ के साथ ही उपस्थित है। अब उस निरुद्ध काम को आप मार्गान्तरीकृत मानते हों या परिशोधित-सन्तों के उदाहरण में यह सिर्फ शब्दों का हेर फेर है। जेम्सबर्ग अपने 'समाज शास्त्र' में कहा है—मूल प्रवृत्तियाँ निरुद्ध होती हैं, या उत्तोलित (सब्लिमेटेड) या उन्हें खुलकर खेलने का मौका दिया जाता है, यह बहुत कुछ उस व्यक्ति के कुटुम्ब जीवन, पारिवारिक परिस्थितियों और जिस काल में वह हुआ है, उसके सामाजिक संगठन पर निर्भर है।'

निर्गुण सन्तों का आविर्भावकाल और ईरान में सूफियों का निर्माणकाल कबीलेवाली स्थिति से सामन्ती स्थिति में परिवर्तन का काल था। सामान्यजनों के जीवन में गत्यवरोध था। वेदान्त या रूखा दर्शन धर्म का गला घोंट रहा था, उसकी प्रतिक्रिया भी अवश्यम्भावी थी। सन्तों के या समियों के व्यक्तिगत यौनजीवन भी निवृत्ति पर अत्यधिक आग्रह रखने के कारण अतृप्त, अपरिपूर्ण थे। उन सबका प्रतिबिम्ब उनकी रचनाओं में हुआ है। उनमें काम से भागने का जितना ही यत्न है, उतनी ही उसमें इन्द्रियानुभूति का अज्ञात, अव्यक्त जकड़न या पीछे खींचनेवाली प्रवृत्ति है।

अन्त में, अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करना चाहता हूँ। मर्मी कवियों की विरह व्यंजना के प्रसंग में रहस्यवाद, कला तथा धर्म सम्बन्धी फ्रायड के मत की विवेचना ऊपर की जा चुकी है :

१ मर्मी कवियों को असाधारण मानव नहीं मानना चाहिये। हमारे आपके समान ही वे हाड़ मांस के जीव हैं। उनमें भी काम वासनाएँ रही होंगी।

२ रहस्यवाद एक मृग मरीचिका की भाँति शब्द होने से उन्हें रहस्यवादी धार्मिक सन्त कहलाने वालों को भी उन कलाकारों के समकक्ष रखना चाहिए, जो अपने काल्पनिक जगत से स्वप्न परिपूर्ति किया करते हैं।

३ उच्च कला, उच्च वासना और उत्कट अनुभूति के बिना निर्मित नहीं होती। वह उत्कट अनुभूति कभी भी निरी मानसिक नहीं होती, उसमें मन, शरीर समूचे प्राण और व्यक्तित्व का योग होता है। अभिव्यञ्जना वहां आत्मदान की पीड़ा से असपृक्त होती है।

४ चूंकि मर्मी कवि ऊंचे कलाकार भी हैं। उनकी रचनाओं के पीछे भी वह उत्कट अभिव्यक्ति की पीड़ा रही है, इसी से उनकी रचनाएं जनप्रिय हुईं।

५ यह पीड़ा जैसे कुछ लोग मानते है, केवल 'प्रमा' या इन्टियूशन से नहीं पैदा होती उसके पीछे अन्त संघर्ष आवश्यक है। प्रबल सामाजिक (या उसी के कारण वैयक्तिक) असन्तोष तथा उसम से समाज को बदल डालने की भावना कला सृजन के मूल में काम करती है।

६ सन्तों के दर्शन में समस्त कर्म ईश्वर प्रेरित या नियति आश्रित (डिटरमिनिस्टिक) है, यह पीड़ा एक व्यक्ति मन्थन का रूप लेती है। जैसे पानी चारों ओर से टकराकर एक भंवर में पड़ जाए। 'मेरा ही कुछ दोष रहा होगा'—'हौं पतितन को नायक,' 'मो सम कौन कुटिल खल कामी।'

७ इस प्रकार के आत्म दोष दर्शन या स्वीकृति ने भी उच्च कोटि का साहित्य विश्व को दिया है (रूसो, वाइल्ड, टाल्स्टाय, गांधी)। सन्तों में भी यही आत्म निपीड़क वृत्ति काम करती है।

८ इन वृत्तियों में यौन वर्जनाओं, यौन जीवन के असन्तुलन, अपरिपूर्ण काम का भी योगदान है। फ्रायड ने धर्म और कला का मूल भी उसी प्रवृत्ति निरोध को माना है। उस निरोध से मार्गान्तरीकरण होता है या उसका उत्तोलन यह प्रश्न यहां विचारणीय नहीं, क्योंकि वह परिणाम से जाँचा जाएगा। वह कसौटी वस्तुनिष्ठ है।

९ अत मर्मी कवियों में एक विलक्षण आत्मरति और तज्ज य स्वयम से भागने की वृत्ति भी दिखायी देती है। उनका विरह भी उसी आत्म पूर्ति का एक विराट् प्रयत्न मात्र है। तब की जनता भी ऐसे विराट् समाधान की खोज म थी, अत वे कवि और उनकी उक्तिया जनप्रिय हुईं।

१० इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण म न मर्मियों पर कोई आरोप है, न कोई सन्दर्भ से कटा निरा बौद्धिक विश्लेषण। आवश्यकता यह है कि कला कृति की परख करते समय कलाकार का हम उतना ही निदश करें, जितना आवश्यक है। स दर्भ से अधिक स्रष्टा का ध्यान हमें पूर्व ग्रहदूषित कर देता है।



अध्याय ३

परवर्ती काव्य पर इस विचारधारा का प्रभाव

समर्थ रामदास जैसे ओजस्वी, आशावादी, प्रवृत्तिपरक कवि पर भी इस निवृत्ति प्रधान निराशावाद का 'सावट' (साया) पड़े बिना नहीं रहा। जैसे कि 'दासबोध' के (३,१,१–५) इस अंश से स्पष्ट है—

जन्म दुःखाचा अंकुर। जन्म शोकाचा सागर।
जन्म भयाचा डोंगर। चळेना ऐसा॥
जन्म कर्माची आटणी। जन्म पातकाची खाणी।
जन्म काळाची चाचणी। नित्य नवी॥
जन्म कुविद्येचें फळ। जन्म लोभाचें कमळ।
जन्म भ्रांतीचें पडळ। ज्ञानहीन॥
जन्म सुखाचा विसर। जन्म चिंतेचा आगर।
जन्म वासना विस्तार। विस्तारला॥

अर्थात् जन्म दुःखों का अंकुर है, जन्म शोक का सागर है। जन्म भय का पर्वत है। वह अचल है। जन्म कर्म का सूख जाना है। जन्म पातकों की खान है। जन्म काल का अन्याय है, नित्य नया। जन्म कुविद्या का फल है। जन्म लोभ का कमल है। जन्म भ्रान्ति का पटल है, जो ज्ञानहीन है। जन्म सुख की विस्मृति है। जन्म चिन्ता का आगर है। जन्म वासना विस्तार है, जो फैला है।

रंगनाथ मोगरेकर की चित्सदानन्दलहरी नामक गीता पर ११,००० ओवी की टीका है और शंकराचार्य के सोपान पंचक पर २,००० ओवी की टीका है। उसकी रचना का एक अंश इस प्रभाव को स्पष्ट करेगा।—

सकळ जनामध्यें आहे। आणि महावेगळें दुजें न पाहे।
तो सर्वदा एकांतींच आहे। परमानन्द भोगी॥ ११६१॥
शुद्ध वस्तुच्या ठाईं। कर्तृत्व भोक्तृत्व कैचें काई?
तो सर्वदा अधिकारी पाही। निर्गुणपणें॥ १४२३॥

और उस कवि ने सद्गुरु को 'आराध्यलिंग' कहा है।

हिंदी निर्गुण संतों में यह प्रभाव ज्यादह समय तक टिका हुआ नहीं जान पड़ता। क्योंकि सगुण काव्यधारा का बहुत तीव्र और वेगवान प्रवाह उसे पूरी तरह विनष्ट करने के लिए आगे आया। यद्यपि तुलसीदास जैसे कवियों में भी कहीं कहीं यह प्रभाव स्पष्ट है, जैसे हम पहले बता चुके हैं। मीरा ने भी 'सुन्नमहल में सुरत सेज' की चर्चा की है। परन्तु निर्गुनिये कजरी, रसिया आदि लोकगीतों में पहुँच गये। शिष्ट काव्य अधिक मूर्ति अनुगामी बना।

मराठी कवियों में सगुणोपासकों में भी निर्गुण का सूक्ष्म प्रतीक निर्वाह बराबर मिलता है। यथा माधवदास ने एक गीता की टीका लिखी, जिसमें गीता पर पूरा अध्यात्मपरक रूपक उसने रचा।

कृष्ण नव्हे तो आत्माचि केवळ। तत्साधनीं सहाय सर्व काळ।

एव हे कौरव पांडव सकळ। नांदती स्थूलदेहीं हस्तिनापुरी॥

यानी उसके अनुसार कौरव मोहसन्तति या विकार हैं, पांडव सत्वसन्तति या सत्साधनभाव। धृतराष्ट्र मोह है। सञ्जय विवेक है। व्यास सद्गुरु। दुर्योधन अहङ्कार। कुरुक्षेत्र लिङ्ग देह है। वैराग्यभूमिका पर पांडव और विषय भूमिका पर कौरव रहते हैं। यह सब आध्यात्मिक अध्यवसित रूपक उसी प्रभाव के द्योतक हैं। यहाँ तक कि तुकाराम ने भी लिखा

नाहीं रूप, नाहीं नाव। नाहीं ठाव धराया।
जेथे जावें तेथें आहे। विठ्ठल मायबहीण।
नाहीं आकार विकार। चराचर भरले से।
नव्हे निर्गुण सगुण। जाणे कोण तयासी।
तुका ह्मणे भावाविण। त्याचे मन बोलेना।

अर्थात् न रूप, न नाम। न ठिकाना है। जहाँ जाएँ वहाँ विठ्ठल माता बहिन के समान है। न आकार है न विकार। चराचर उससे भरा है। न निर्गुण न सगुण। उसे कौन जाने? तुका कहता है, भाव के बिना उसका मन नहीं झुकता।

इसी प्रभाव का एक स्पष्ट लक्षण यह भी है कि ज्ञानेश्वर, एकनाथ और रामदास के पञ्चक प्रसिद्ध हो गये हैं। प्रत्येक कवि के साथ चार और उनके शिष्यों का समागम लगा है

ज्ञानेश्वर पञ्चायतन	निवृत्ति, ज्ञानेश्वर, सोपान, मुक्ताबाई, चाङ्गदेव ।
एकनाथ पञ्चायतन	एकाजनार्दन, रामाजनार्दन, जनीजनार्दन, विठा रेणुकानन्दन, दासोपन्त ।
रामदास पञ्चायतन	रामदास, रङ्गनाथस्वामी, जयरामस्वामी, केशवस्वामी, आनन्दमूर्ति ।

इन पञ्चायतनों में एक एक निकाय का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है । और फिर भी सबको बाँधने वाला वैचारिक समानता का एक सूक्ष्म सूत्र बराबर बना रहा है । यहाँ तक कि भाषा शैली तक में भी साम्य है ।

त्र्यंबकराज एकनाथ का समकालीन कवि था । अपने कालबोध में उसने प्रणव का स्वरूप, पञ्चीकरण, सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय, देह की उत्पत्ति, षट्चक्रविवरण, अष्टदेह निरसन, जीवब्रह्मैक्य प्रतिपादन, अष्टाङ्गयोग, माया अविद्यालक्षण, ब्रह्मचतुष्टय, ब्रह्मसाक्षात्कार की चर्चा की है ।

श० बा० जोशी के अनुसार दत्त सम्प्रदाय में दत्त के साथ जो कुत्ते है (जिन्हें वेदों का प्रतीक सर्व साधारण जन मानते है) वे किसी आर्य द्राविड़ संस्कृति संगम की उपज है । मल्हारी मार्तण्ड की मूर्ति के पास ऐसे कुत्ते रहते हैं । 'गुरुमार्ग अथवा नाथसम्प्रदाय की दक्षिणापथ में अनुगूँज' नामक लेख में वे प्रतिपादित करते हैं कि कुत्ते बनकर वेद जिसका छायानुसरण करे, वह 'अवधू' कोई और है। 'नवनाथभक्तिसार' ग्रन्थ के अनुसार मत्स्येन्द्र गोरक्ष को दत्त साक्षात्कार हुआ था । सन् १४२७ मे रचे 'नवनाथ चरित्रम्' नामक तेलुगू ग्रन्थ में शैव सम्प्रदायी नाथों की परम्परा में 'स्याद्वादी गोरक्षनाथ' कहा गया है। 'नाथ' तो जैनियों का पारम्परिक शब्द है । 'दिगम्बर' भी जैन पन्थ है । योगमार्गीय यतिसम्प्रदाय वेदपूर्वकालीन होगा, ऐसा रमाप्रसाद चन्दा ने मोहेंजोदारों पर लिखे अपने एक लेख में कहा है ।[1] अत्रि नामक किसी पुरुष ने यह आत्रेय दत्त देवता स्थापित की । उसमें वैदिक, जैन, बौद्ध परम्पराओं का त्रिमुख संगम है । नाथपंथ सर्वसंग्राहक था । दत्त की माता असूयाविरहिता थी । दत्तभक्त मुसलमान कई मिलते हैं । बाबा बुडण

1 The later Vedic literature repeatedly refers to a legend which shows that the Yatis incurred the hostility of India and were destroyed as a consequence The Yatis were not originally priests of the

गिरी (मैसूर) दत्तक्षेत्र है और वहा हिन्दू मुस्लिम दोनों जाते हैं। इस अवधूत निरञ्जन दिगम्बर दत्त पथ में जात पाँत का भेद नहीं है। वैदिक परम्परा में नीच जाति का गुरु नहीं हो सकता था। परन्तु सन्तमार्ग में किसी भी जाति का गुरु हो सकता था। तुकाराम के सोलह शिष्यों म से नौ ब्राह्मण थे।

सर्वमत सग्राहक सन्त ज्ञानेश्वर ने द्वैत अद्वैत को भी एकाकार बनाया। विट्ठल ने सिर पर शिवलिंग धारण किया। 'हरिहर' सयुक्त देवता का प्रचार भी ज्ञानेश्वर ने किया। जातिभेद भूलकर वारकरी एक ही पढरपुर की ओर चले। यहाँ तक कि भानुदास (१४४८ १५१३ ई०) क समकालीन श्रीवादिराजस्वामी नामक कर्नाटकी माध्व यति ने 'तीर्थप्रबन्ध' नामक सस्कृत ग्रथ में 'तुगातीरगतोसि विट्ठल' की स्तुति की है। और दो सौ वर्ष पुराने 'श्रीदविट्ठल' नामक कन्नड हरिभक्त के एक पद में कहा है, मिथ्यावादी लोगों ने तेरे आसपास घेरा डालकर, रो धोकर जो नाटक किया है वह देखना असह्य हुआ और तू चोर की तरह ब्राह्मणों पर कृपा करने इधर चला आया क्या, हे विट्ठल।' मूल पद इस प्रकार है

एनिदु कौतुकवु विट्ठला एनिदु कौतुकवु।
नीनिल्लिगेके वद्या विट्ठला। एनिदु कौतुकवु ॥ ध्रु० ॥
मध्वद्वेषिगळु माडुव पद्धति यनु कड्ड।

Vedic cult like the Bhrigus and Kanwas but non Vedic rites were practised by the indigenous pre Aryan popu ation of the Indus Valley In the legend of the slaughter of the Yatis by Indra we probably hear an echo of the conflict between native priesthood and the intruding Rishis in the proto historic period As applied to a priest etymologically Yati can only mean a person engaged in religious exercise such as tapas, austerities and yoga Von Schroeder understands by the term a magician priest or a Shraman The marble statue tte of Mohenjodaro with head neck and body quite erect and half shut eyes fixed on the tip of the no e, has the exact posture of one engaged in practising Yoga These Yatis were primarily magicians So as Vedic religion became more and more popular, the Yatis receded into the background and were gradually reduced to the condition of the out caste religious mendicants or Vratyas"

—Memoirs of the Archaeological Survey of India, No 41 of 1929 Survival of the pre historic civilization of the Indus Valley

हद्यवागदे कद्कन्नन्ते यहिह्निगे बद्या ॥
विट्ठला एनिदु कौतुकवु ॥
मिथ्यावादीगळु निरन्तर सुत्तिसुत्तिकोंडु ।
जतुकरेदु कुगुतिरे बदल बेरसु दोरदु बद्या ॥
विट्ठल एनिदु कौतुकवु ।
श्रीदविट्ठल निम्नसद्गुण वेदशास्त्रगळलि ।
शोधिसी नोडलु भूदेवरिगोल्दिदादरिम बन्द्या ।
विट्ठल एनिदु कौतुकवु ।

रामदास काल में आकर 'देव जाले उदण्ड । देवाचें माजले मण्ड । भूताद बताऴें थोताण्ड ।' कहकर मुख्य देवता कौनसा है, यह पता नहीं चलता। मतवादों का कोलाहल मचा है। कई तरह के मार्ग निकल आये हैं एक नदी के पेट में काले शालिग्राम हैं, नर्मदा के जल में गणेश हैं, काश्मीर में स्फटिक पूजा है, जनावरों के सींग, लिङ्ग, वनसूकर के वेश, हिरन व्याघ्र के चर्म का पूजा में बड़ा माहात्म्य है। कई किस्म के देव हैं इससे तो निर्गुण देवता अच्छा ऐसा समर्थ ने कहा है

मातीचे देव धोंड्याचे देव । सोन्याचे देव रुप्याचे देव ।
काशाचे देव पितलेचे देव । ताम्याचे देव चित्र लेपे ॥ १ ॥
सविच्या लाकडाचे देव पोवळचें देव । बाण तादळे नर्मदे देव ।
शालिग्राम काश्मिरी देव । सूर्यकान्त सोमकान्त ॥ २ ॥
ताम्रनाणीं हेमनाणीं । कोणी पूजिती देवार्चनी ।
चकाङ्कीत चक्रतीर्थाहुनी । पेऊन येती ॥ ३ ॥
उदण्ड उपासनेचे भेद । किती करावे विशद ।
आपुलाले आवडीचा वेध । लागला जनीं ॥ ४ ॥
मुळीं द्रष्टा देव तो येक । त्याचे जाहाले अनेक ।
समजोन पाहाता विवेक । उपजों लागे ॥ ६ ॥ (१९, ५ ६)

इस प्रकार से निर्गुण सन्तों की परम्परा बहुत दूर तक चलती आ रही है। गांधीजी तक हमें उसकी प्रतिध्वनि मिलेगी। किन्तु उसका प्रचलन सगुणोपासना की बड़ी धारा के सामने कम होता गया।

—००,०९००—

अध्याय ४

निर्गुण कविता के अप्रचलन के कारण

सामान्यत निर्गुण कविता के ह्रास के कारण ऐतिहासिक यानी राजनीतिक बताये जाते हैं। मुस्लिम आक्रमण के पश्चात् सगुणोपासना की ओर जनता का ध्यान बढ़ा और भक्ति द्वारा उन्होंने अपने दुख भुलाये, ऐसा सामान्य विश्वास है। परन्तु निर्गुण काव्य के नष्ट होने के बीज स्वय उसीमें मौजूद थे। उसमें ससार विमुखता, वैराग्य, सब चीजों को क्षणभगुर मानने की वृत्ति बहुत प्रबल थी। 'एका वादाचा निकाल' नामक लेख में श्री म० साटे ने 'मनोहर' (मराठी, मासिक, अक्टूबर १९४९) में इस बात के प्रमाण जुटाये हैं और बताया है कि प्राय सभी स त इसी नकारात्मक ढग से सोचते थे। परिणाम जो होता, वह स्पष्ट है। वे उदाहरण इस प्रकार से हे

नामदेव

पुत्रकलत्रबधू सांगाती देहाचे
मज बांधिलें मोहाचे वज्रपाशीं
ससार करिता देव जै सापडे
तरी का झालेडे सनकादिक ?
ससारीं असतां जरि भेटता
शुकदेव कासया जाता तयालागी ?
जळी बुडबडें देखता देखता
क्षण न लागतां दिसेनाती
तैसा हा ससार पहाता पहातां
अतकाळीं होता काहीं नाही
जोवरी सम्पत्ति तोंवरी हे सखे
गेलियाते भुके सुणे जैसे

निवृत्ति

ससारभ्रमें भ्रमले हे जीव
नेणती हे भाव रोहिणीची

जाईल हा देह सरेल आयुष्य
आपोआप भविष्य उभें राहे
वेगें करा आधी रामनाम चिन्तना
जव नाही पाहुणा काळ आला

ज्ञानेश्वर

तापत्रय अग्निचा लागला वोणवा
कवण रिघे आड कवण करी सावाधावा
सत भेटती अजि मज । या सतासि भेटतां
सरे ससाराची व्यथा
मोलाचें आयुष्य दवडितोसी वाया
माध्यानिची छाया जाय वेग

जनाबाई

प्रपचीं जा रछे ब्रह्मवन त्यातें जळे

नरहरि सोनार

चितारूया चितरे काढे भिंतीवरी
तैसें जग सारे अवधे हे
पोरेंहि खेळती शेवटीं मोडती
झाकोनिया जाती आपुल्या घरा
तेसे जन सारे करिती ससार
मोहगुणे फार खरें म्हणतीं

चोखामेळा

कोण हे आवघे सुखाचे सगति
अ तकाळी भोती पाठमोरे
चोखा म्हणे याचा न धरी भरवसा
जाईल हा देह आघुगाचि उगा
अभ्रिची छाया जयापरी
असार साराचे नका पडू घरीं
सार तेंचि धरीं हरीनाम

कर्ममेळा

जें जें दिसे त्यापलें तें तें फलकट
वाउगा बोभाट करोनि काहीं
नासे भवपीड़ा ससाराची

मोयराबाई

किती हें सुख मानिती ससारचें
काय हें सांचे मृगजळ
काय हे गुतले स्त्रीपुत्रधना
का ही वासना न सुटे याची

निर्मळाबाई

बहू हा उबग आला ससाराचा
तोडा फासा याचा मायबाप

एकनाथ

नाशवत धन नाशवत मान
नाशवत स्त्रीपुत्रादिक बाळें
नाशवत बळे गळा पडति
एकचि शाश्वत हरीनाम
भावावलें जन ह्मणति माझेमाझे
खराचिये परि उकिरडा सेवीत
कासेयाची मूडा करिसी ससार
पुढे तो अघोर थोर आहे
मरणाची भीति विसरूनि मूढ
बावगी कावाड प्रपचाचे
देहाऐसें वोंघटे पृथ्वीमाजी नाहीं कोठें
वोंघटे म्हणून त्या गावें मोक्षसुखार्थ नागवावें
मूळ नाशासी कारण कनक आणि स्त्री जाण
जो न गुते येथे सर्वथा त्याचा परमार्थ पुरता

तुकाराम

देह हें देवाचें धन कुबेराचें

तेथे मनुष्याचें काय आहे
तुका म्हणे कारे नाशवतासाठी
देवासवे आटी पाडितोसी ?
धन मिळवोनी कोटी । सवे न ये रे लगोटी
का ह आवडलें प्रियापुत्रधन ।
काय कामा कोण कोणा आलें ?
सुख पाहता जवापाडे ।
दु ख पर्वताएवढें ।
प्रपचपरमार्थ सपादित दो-ही ।
एकहि निदानी न घडे त्यासी
तुका ह्मणे तया दोहींकडे धका ।
शेवटी तो नरकामाजी पडे

निळोबा

भवाब्धिचें सखोल पाणी ।
बुडाले प्राणी बहुसाल
गुन्तली आशा पडली मोहजाळ फासा
येथे येउनि केलें काई । विट्ठल नाही आठविला
नाही केली सुटका काही । येचि प्रवाहीं पडिलासी

रामदास

ससार मिथ्या ऐसा कळला ।
ज्ञान समजोन निघोन गेला
तेणें जना पावन केला । आपण ऐसा
ससार हाचि दीर्घ स्वप्न ।
लोभें वोसणती जन
माझी काता माझें धन । कन्या पुत्र माझे
सपनिच्या सुखें सुखावला प्राणी
थोर झाली हानी जागृतिसी
मिथ्या सुखदु ख । स्वप्नाचा व्यवहार
तैसा हा ससार । नाथिलाची

प्रपची आणि परासुख ।
पावेन म्हणेल तो मूर्ख
जेसे परमान्नें मिश्रित विख ।
सेविता मृत्यु पावे

धीमे धीमे ब्राह्मण जो कि वर्णाश्रम धर्म की इमारत का मूर्धन्य था, बहुत पतित होने लगा । उदाहरणार्थ 'गुरूचरित्र' (सन् १५५८ के करीब लिखा गया है) में स्पष्ट कहा है कि ब्राह्मण कर्मभ्रष्ट हुए हैं । म्लेच्छों के आगे वेदबीज बोलते हैं । इसीलिए सत्य गया और सब मदमति हो गये हैं (२६, २२४) ।

कर्मभ्रष्ट झाले द्विज, म्लेंच्छापुढे बोलती वेदबीज ।
सत्य गेलें आचि काज, मदमती झाले जाणाता ॥

महानुभावों में तो सूत्रों में स्पष्टतः वैराग्य का विवेचन करते हुए अपने स्वदेश और स्वजनों का त्याग सुझाया था

'स्वदेश बन्धु त्याज्य स्वग्राम सम्बन्धु त्याज्य ।
सम्बधियाचा सम्बन्धु तो विशेषतां त्याज्य ॥'

(चक्रधर, सूत्रपाठ आ०-१)

और दूसरे महानुभावों में यह निवृत्ति प्रवृत्ति का अन्तर स्पष्ट होने लगा था ।

भास्कर पंडित के शिशुपाल वध ग्रंथ के सम्बन्ध में भावे व्यास ने कहा, 'भटो हा ग्रंथु निका जाला परी नीवृत्ताजोगा न‍्हेचि प्रवृत्ता जोगा जाला'

(भास्कर भट्ट बोरीकर, पृष्ठ--५३)

महानुभाव पंथ के अधिक काल न टिकने का कारण उसकी पंडिताऊ शैली भी है । निरा शब्द शिल्प कब तक चलेगा ?

'महानुभावों की लेखनशैली लोकानुवर्ती (पाप्युलर) नहीं, वह वेदाभ्यासभासजड (पैडेंटिक) है । काव्यप्रान्त में भी धर्मप्रचार की प्रेरणा की अपेक्षा कलाविलास की प्रवृत्ति बहुत बार अधिक महत्त्व पा गयी है ।'

(सरदार, पृष्ठ ३४-३५)

परिणाम यह हुआ कि पहले के सन्त श्रोताओं की विनती करते थे, उसके अवधान के लिए प्रार्थी थे । और बाद में 'न पाहे श्रोतयाचे वदन' (दासोपन्त) श्रोताओं का वदन नहीं देखना चाहिए । ऐसी भावना आ गई । शुरू से थोड़ा

बहुत ज्ञानीजनोचित, पहुँचे हुए का अहंकार तो था ही। ज्ञानेश्वर तक ने लिखा, 'करतळावरी वाटोळा। डोलत देखिजे आंधळा। तैसे ज्ञान आम्हीं डोळा। दाविलें तुज ॥' (ज्ञानेश्वर १३, ६५१) करतल के आँवले की तरह हमने तुझे ज्ञान दिखाया। बहामनी काल में सन्त साहित्य क्यों पिछड़ा, इसकी कारणमीमांसा करते हुए इतिहासकारों का मत यह है कि मुस्लिम आक्रमण के कारण मराठा समाज इस प्रकार दिङ्मूढ हुआ कि बाद में सौ डेढ़ सौ वर्षों तक उसने सिर ऊपर नहीं उठाया। राजसत्ता का आधार छूट जाने से सामाजिक जीवन बड़ा संकुचित बना। राधामाधव विलास चम्पू की प्रस्तावना में (पृष्ठ ४६) कहा गया है, 'दस पाँच हजार पाईक (पैदल) सेना पोसे या पाँच चार हजार 'बारगीर' पाले ऐसी शक्ति का एक भी मराठा क्षत्रिय शक तेरह सौ से शक पन्द्रह सौ तक नहीं था। नामदेव के बाद सर्व साधारण जनता के मन जीत ले, ऐसा एक भी सन्त नहीं हुआ। वीर-पुरुषों की परम्परा टूट गयी। धर्मोत्साह की ऊर्मियों में भाटा आते ही, काव्य-प्रेरणा भी जैसे कम होती गई।'

एकनाथ के समय तक आकर यह सामान्यता जैसे नियम बन गयी। साधारणता ही आदर्श हो गया

गृहाश्रम न सांडितां, कर्मरेखा नोलांडितां।
निजव्यापारीं वर्तता, बोधू सर्वथा न मैळे ॥

(एकनाथी भागवत, ९, ४३५)

और उच्चवर्ग की देववाणी संस्कृत के विषय में उसे पूछना पड़ा

संस्कृत वाणी देवें केली। तरी प्राकृत काय चोरापासोनी झाली ?

(एकनाथी भागवत, १, १२९)

एकनाथ के समय तक आकर बुधजन और सामान्य जनता की अभिरुचियों में भी स्पष्ट अन्तर आ चुका था। एकनाथ के शब्दों में—

ज्ञानी निवती परमार्थ बोधे। पंडित निवती पदन्यासें।
लोक निवती कथा विनोदें। ग्रंथ सम्य धे जग निवे ॥

(भावार्थ रामायण, बालकांड, १४-१८३)

निर्गुण धारा के लुप्त होने का एक और प्रधान कारण था पांथिक विशिष्टता। ज्ञान को गुप्त रखा, अलग तरह का आचारधर्म पालन, गद्दी,

लोकजीवन की बहती धारा में टूटकर भिन्न प्रकार की अजब निष्ठाएँ, परम्परा को पूरी तरह न मानना। कबीर ने अपने जीवन में जो एकता का मन्त्र दिया, वह परवर्ती स तों ने जैसे भुला दिया। केवल उनकी बानी की पुनरावृत्ति कितने दिनों तक टिकी रह सकती है? महानुभावों ने सगळा और सु दरी लिपियाँ चलायीं, नानक ने 'गुरुमुखी'। अनुभूति जैसे कुछ थोड़े लोगों की 'मोनोपोली' बन गयी। और ज्ञान जब यों कुन्द और बन्द हो गया, फैलने से जब वह रुका तो जो अवश्यम्भावी परिणाम जीव शास्त्र म घटित होता है, वही हुआ यानी निर्गुण काव्यधारा की परम्परा टूट गयी। जैसे 'विचारेर स्रोत पथे' फैली हुई 'आचारेर मरु बालु राशि' म जाकर धीरे धीरे विलम गयी। निर्गुणकाव्य ने इस प्रकार साम्प्रदायिक नियमों से निज को जकड़ कर नष्ट कर लिया।

निर्गुण और सगुण के बीच समर उपस्थित हुआ, कुछ समय के लिए सगुण जीत गया, क्योंकि जनसाधारण को अपनी भक्ति तथा उपासना का एक मूर्त आधार स्वाभाविक रूप से चाहिए ही था।



अध्याय ५

कुछ निष्कर्ष

साहित्यिक शोध प्रबन्ध के अन्त में वैज्ञानिक या गणित शास्त्रीय ढङ्ग के निष्कर्ष अपेक्षित नहीं होते। प्रबन्ध के विवेचन के प्रसङ्ग में प्राय प्रत्येक अध्याय में मैंने नवीन सामग्री के सपुंजन से प्राप्त नवीन सम्बन्ध दृष्टि की उपलब्धि का उल्लेख कर ही दिया है। परन्तु फिर भी उन सब बातों की यहाँ एक साथ सार रूप में पुनरुक्ति अधिक उपयुक्त जानकर, इस अध्याय का शीर्षक 'कुछ निष्कर्ष' दिया है। कुल तीस अध्याय प्रबन्ध में हैं। इनके सार निष्कर्ष अध्याय के क्रमानुसार नीचे उपस्थित किये जाते हैं।

सन्त काव्य शब्द से प्रश्न उठता है कि काव्य का प्रयोजन क्या है और क्या सन्त काव्य काव्य की शास्त्रीय या साहित्येतिहास सम्मत परिभाषा में पूर्णतया आ सकता है? विविध भारतीय और पाश्चात्य समीक्षकों के काव्य विषयक मतों को उद्धृत करके यह सिद्ध किया गया है कि जहाँ पश्चिम में कवि के व्यक्तिगत भावोच्छ्वासों या सवेदनाओं की अभिव्यञ्जना पर बल दिया गया है, भारत में कवि के विश्वात्मक अनुभव तथा अखण्ड या समग्र दृष्टि को विशेष महत्त्व दिया गया है। अनेकत्व में एकत्व शोध के कारण कवि हमारे यहाँ केवल लोकानुवर्ती अनुकर्त्ता मात्र नहीं, किन्तु एक साथ द्रष्टा और स्रष्टा भी रहा है। यह तादात्म्य और रस निमज्जन की दो परस्पर विरोधी जान पडने वाली स्थितियों का एक सा मानसिक निर्वाह भारत के प्राचीन कवि को दार्शनिक या मनीषी के निकट ले जाता है। यह अद्वैतानुभव ही वह मूल भित्ति है, जिसको भारतीय का य साहित्य का प्रथम सोपान या आरम्भ बिन्दु कह सकते हैं।

इस दृष्टि से भारत की विविध भाषाओं के साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन और इतिहास–लेखन की आवश्यकता है। विशेषत जब हम विविध प्रदेशों में भारतीय मनोलोक का सगठन तथा भारतीय चिन्ताधारा का विकास एक सा

पाते हैं, साहित्य के क्षेत्र में भी इस अन्त सूत्र की शोध आवश्यक है। प्रस्तुत प्रबन्ध से सम्बद्ध मराठी और हिन्दी भाषाओं के विकास और सामाजिक सास्कृतिक पार्श्वभूमि को देखते हुये स्पष्ट है कि मराठी पर दाक्षिणात्य साहित्य, विशेषत तेलुगु कन्नड तमिल का प्रभाव आरम्भिक काव्य पर विशेष है। तो हिन्दी का आरम्भिक काव्य साहित्य बगला उड़िया असमिया या गुजराती पञ्जाबी आदि की भांति प्राकृत अपभ्रश काव्य की परम्पराओं से प्रभावित है। बौद्धगान और दोहा के अध्ययन से यह पता चला कि सिद्धों की कविता उडिया बगला कविता के आदिकाल की उसी प्रकार से मूल प्रेरणा है, जैसे हिन्दी कविता की। परन्तु दक्षिण की भाषाओं में इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन की अभी आवश्यकता है। इसा की ग्यारहवीं से पंद्रहवीं शताब्दी को प्रस्तुत विवेचन की मर्यादा माना गया है। इस अध्ययन में दक्षिण भारत के शैव साहित्य के मूल स्रोतों और बाद में बौद्ध स्रोतों के शाक्त और तान्त्रिक परिणमन की ओर भी जाना होगा, जिससे सिद्धों की कविता के निर्गुण आधार की दार्शनिक पीठिका पूरी तरह से जानी जा सकेगी।

निर्गुण सन्त काव्य दर्शन के समकक्ष होने से, उसमें रसानुभूति या रसोपलब्धि के अभाव वाले आक्षेप को विस्तार से उत्तर देकर 'रस' की कल्पना कैसे विकसित होती गयी, वह लौकिक से अलौकिक अर्थवाची कैसे बना, यह सकेत दिया है। चूकि सन्त काव्य के रसोद्बोधन के प्रसङ्ग में 'आत्म' तत्व की परिभाषा आवश्यक है, उसका भी कैसे विकास हुआ इस बात का ऐतिहासिक दार्शनिक विवेचन किया गया है। इसी प्रसङ्ग में शैवमत की मूल आदि शक्ति, अर्द्धनारीनटेश्वर और अन्य आर्य पूर्व और द्राविड़ ईश्वर तत्व सम्बन्धी पूर्व कल्पनाओं का आगे चलकर अवलोकितेश्वर और आदि बुद्ध के स्वरूप में कैसे सूक्ष्म प्रवेश हुआ, यह विचार भी बताया गया है। सिद्धों के शून्य, निरञ्जन, सुरति आदि धारणाओं के मूल में इस योगिक और बौद्ध शब्दावली और उसके बदलते हुए ऐतिह्य का ज्ञान आवश्यक है। एकेश्वरवाद और अद्वैत के विषय में मुस्लिम प्रभाव के प्रश्न पर विविध मत और उनका खण्डन इस प्रसङ्ग में आया है। वस्तुत वैदिक औपनिषदिक शैव बौद्ध देवता विश्वास, अनेकदेववाद, मूर्तिसाक्ष्य और इसके भीतर से अन्त सूत्र की भांति विकसित होने वाली निर्गुण परिकल्पना और उस पर यवन म्लेच्छ मुस्लिम आदि विदेशी विचार

प्रभावों की प्रतिक्रिया, तथा तज्जन्य नवीन सश्लेषण, दार्शनिक वैचारिक पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

निर्गुण सन्तकाव्य का वैज्ञानिक और शास्त्रीय अध्ययन क्यों आवश्यक है, इस प्रश्न को उठाकर मराठी और हिन्दी में 'सन्त' शब्द के रूढार्थ कैसे बदलते गये, यह बतलाया गया है। मराठी में सन्त अधिक व्यापक शब्द है। मराठी में सभी प्रकार के भक्तों को भी सन्त कहते हैं। हिन्दी में सन्त और भक्त में अन्तर है। इस कारण से दोनों प्रकार के कवियों की आलोचना में भी अन्तर आता गया। सन्तों में वैराग्य और साधना का माहात्म्य अधिक माना गया। आधुनिक समीक्षा शास्त्र में तत्कालीन आर्थिक राजनीतिक परिस्थिति का प्रभाव सन्तों पर कहाँ तक प्रत्यक्ष या अपरोक्ष रूप से, सीधे या प्रतिक्रिया के रूप में, पड़ा यह भी देखा जाता है।

रहस्यवाद के विषय में भी हमारी धारणा सामाजिक सांस्कृतिक विकास के साथ साथ, बदलती बदलती रही, इसका दार्शनिक और नृवंश शास्त्रीय दृष्टि से आलोचना करके, सिद्धों की कविता में प्रयुक्त जनसाधारण के विश्वासों से विरुद्ध बातें कहने की प्रवृत्ति का मूल कारण बताया गया है। विवेचन का आधार मुख्यतः वस्तुनिष्ठ तथ्य सङ्कलन तथा उनमें सम्बन्ध स्थापन करके निष्कर्ष निकालना है।

महाराष्ट्र की निर्गुण सन्त परम्परा की विशेषताएँ निम्न बतायी गईं (१) जातिभेद का न होना और जातिभेद तथा वर्णव्यवस्था की निन्दा, (२) शास्त्रप्रामाण्य तथा वेद प्रामाण्य को अस्वीकार करना, (३) बौद्धमत का बहुत कम प्रभाव, (४) जैनमत का प्रभाव, (५) शैवमत का और शाक्तमत का सूक्ष्म, कर्नाटक से छनकर आया हुआ प्रभाव, (६) विट्ठल सम्प्रदाय पर भी शैव प्रभाव की सम्भावना, (७) सूफी मत का बिलकुल प्रभाव न होना, (८) सूक्ति, दोहे या पदों की अपेक्षा लम्बे प्रबन्धात्मक विवेचन का, तर्कयुक्त खण्डन मण्डनात्मक व्यंग्य तथा रूपकादि का विशेष प्रयोग। उपासना से अधिक ज्ञानयोग का ग्रहण, (९) उलटबासियों और सन्ध्याभाषा का कम प्रयोग, (१०) दत्तात्रेय सम्प्रदाय और महानुभाव परम्परा महाराष्ट्र की अपनी विशेषताएँ रहीं। इसी शिवोपासक महायोगी दत्तात्रेय के प्रसङ्ग में अवधूत का भी विशेष विवेचन किया गया है। तन्त्रागमों

और महानुभाव सूत्रपाठ के साम्य को भी देखा गया है, और (११) मराठी निर्गुण कविता के मूल में आद्याशक्ति वाली आर्येतर मातृपूजा के बीज मिलते हैं।

गोरख और नाथ परम्परा मराठी और हिन्दी निर्गुण कविता में प्राय एक सी है। डा० बड़थ्वाल की धारणा है कि निर्गुण शाखा योग का ही परिवर्तित रूप है। व्यतिरेक और अन्वय से शून्यवाद, निर्गुण निराकार, नाम रूपातीत परमतत्त्व का अद्वैतज्ञान दोनों में समान भाव से मिलता है। वेदान्त और शैव मत का जो प्रभाव मराठी निर्गुण कवियों पर पड़ा, उसी प्रसङ्ग में कर्नाटक के वीर शैव कवियों का और तान्त्रिकों द्वारा मानसिक द्वन्द्व की स्थिति का (जिसका भारत के नाट्य शास्त्र में भी एक रूप मिलता है) तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

मराठी निर्गुण कवियों के दार्शनिक विश्वासों को लेकर यह नवीन निष्कर्ष दिये गये हैं (१) जीव की कल्पना औपनिषदिक 'प्राण' पर आधारित है। (२) जगत् को माया माना गया है, वेदान्तियों की भाँति। (३) ब्रह्म को योगवासिष्ठ के परमरहस्यमय तत्त्व 'शून्य' की तरह माना गया है। नाथपंथी ज्ञानेश्वर से प्रचुर प्रमाण देकर इस बात को सिद्ध किया गया है। शुद्धाद्वैतवादियों की मान्यताएँ मराठी निर्गुण सम्प्रदायी हैं। महानुभावियों पर दत्तात्रेय सम्प्रदाय की और सूचमत बौद्ध शाक्त तान्त्रिक मतों की छाया है। नामदेव में जाकर निर्गुण ब्रह्म और साकार विट्ठल एकाकार हो जाते हैं। एकनाथ में एक ओर भक्ति अधिक प्रौढ़ रूप लेती है, किन्तु 'भारूड़' इत्यादि में उलटवाँसियों वाली वृत्ति बनी रहती है। (४) मुक्ति की कल्पना भी दुर्गा पूजकों के अष्टपाशों से बन्धमोक्ष की भाँति है। (५) गुह्य परम अनुभव को संकेत शैली से वर्णित करने में माता पुत्र सम्बन्ध पर विशेष जोर है। असम्भवनीय, सृष्टिविधान प्रतिकूल संकेतों से लोकोत्तर अभिव्यंजना करने की ओर भी झुकाव है। इनमें कई आदिम मन्त्रों की भी झलक मिलती है। (६) जनतान्त्रिकता या साधारण मानवीयता इन सन्तों का और एक विशेष मनोभाव था। इसी से उनके दार्शनिक विश्वास उन्होंने जहाँतक बना अत्यन्त साधारण, स्पष्ट, तर्काधारयुक्त भाषा में प्रस्तुत किये। सन्तकवि अपने आपको जनसाधारण, स्पष्ट, तर्कधारणा से कटा हुआ नहीं मानते थे। वे अधिक से अधिक समाजसुधारक थे।

हिन्दी निर्गुण स तकाव्य को मराठी सन्तकाव्य की तुलना में रखकर दोनों के बीच समान तथा असमान प्रभावों की विशेष चर्चा तीसरे खण्ड में है। नाथ सम्प्रदाय, सहजयान बौद्ध प्रभाव, सिद्धसाहित्य और सूफीमत की परम्परा का विस्तार से विवेचन करके हि दी निर्गुण स त का य की विशेषता उसके नवीन सर्वसमन्वित दार्शनिक विश्वासों म कैसे निहित है, यह ऐतिहासिक दृष्टि से सिद्ध किया गया है। हिन्दी निर्गुणियों का दार्शनिक मा यताओं म निम्न विशेषताएँ है—(१) 'जीव' की कल्पना दुलहिन के रूप में की गयी है। वह असगचेतन, कर्ता और भोक्ता के रूप में है। (२) जगत् को चेतना का विवर्त या पचेन्द्रियों का जाल या षडयन्त्र माना गया है। यह बहुत कुछ सांख्य की अपप्रकृति की भाँति है। (३) परमतत्त्व पर शैव प्रभाव कम है। वह निर्गुण सगुण से परे है। उसकी परिकल्पना में सांख्य योग वेदा त क विचार घुलमिल गये है। उसमें सूफी विचारों का भी प्रभाव द्रष्टव्य है। (४) मुक्ति की कल्पना बहुत कुछ सूफियों से मिलती जुलती है। मुक्त होकर जीव ब्रह्ममय हो जाता है। वह एक प्रकार से परममिलन या महामिलन है। (५) गुह्य परम अनुभव को व्यक्त करते समय प्रेमी प्रेमिका सम्बन्ध की शब्दावली का अधिक आधार लिया गया है। रूढ़ि के विरोध और परम्परा के खण्डन का भाव विशेष रूप से स्पष्ट है। इसका कारण चातुर्वर्ण्य की चौखट का अधिक कसा जाना भी हो सकता है। (६) हि दी सन्त केवल समाजसुधारक नहीं थे। वे क्रान्तिकारी विचारक थे। उनका मूर्ति पूजा विरोध हि दू मुस्लिम एकता की ओर एक महत्त्वपूर्ण चरण था।

मराठी निर्गुण स तका य एक ही सम्प्रदाय बनकर रह गया। हिन्दी निर्गुण स तकाव्य विशेष सम्प्रदाय के रूप में सीमित नहीं हुआ, यद्यपि उसकी कई शाखाएँ हुईं, फल यह हुआ कि मराठी में सगुणोपासना की धारा जो लहराकर आयी तो निर्गुण रहस्यवादी धारा बाद में सिर न उठा सकी। इससे उल्टे हिन्दी में सगुण और निर्गुण दो धाराएँ बहुत समय तक साथ साथ चलती रहीं। बल्कि रीतिकाल तक जब देव या रत्नाकर की गोपियाँ उद्धव को उत्तर देती हैं, तो निर्गुण धारा कितनी बद्धमूल रूप से रच गयी है, इसका भान होता है। अत मराठी प्रदेश और हि दी प्रदेश म निर्गुण का य धारा के अप्रचलन के कारण भी भिन्न रहे हैं। महाराष्ट्र में मुस्लिम आक्रमण के

साथ साथ संतकाव्य सगुणोपासक बनकर अपनी आस्था में जुट गया—रामदास जैसे कवियों में ऐहिक यथार्थवादिता आ गयी। उत्तर भारत में सूफीमत के साथ साथ हिन्दू उदार विचारधारा का संयोग हो गया। इस प्रकार से निर्गुण काव्य केवल सार संग्राहक मधुकरी वृत्ति से जमा किया हुआ प्रभावों का संपुंजन मात्र नहीं था। बल्कि उसका अपना विशेष अस्तित्व था, यह अनेक विद्वानों के मतों को सप्रमाण खंडित करके सिद्ध किया गया है।

आचार्य विनोबा भावे के साथ पत्र व्यवहार में निर्गुण निराकार ईश्वर की मूलभूत कल्पना को लेकर सिद्ध किया गया है कि ईसाई, इस्लामी, रामानुजीय और आर्य समाज वाले ईश्वर को 'सगुण निराकार' नामक एक ही विशेषण से सम्बोधित नहीं किया जा सकता। संतों ने कई बार इस सूक्ष्म दार्शनिक भेद को नहीं निभाया है, परन्तु निर्गुण काव्यचर्चा में यह विवेक विशेष रूप से आवश्यक है। क्योंकि काव्य तो प्रतीकों के सहारे के बिना नहीं चल सकता, जबकि निर्गुणवादी प्रतीकों से परे का विधान और व्यंजन करता है।

दोनों भाषाओं के निर्गुण संतकाव्य की अभिव्यंजना में अन्तर का मूल कारण दोनों प्रदेशों की सांस्कृतिक पार्श्वभूमि है, यह भी निष्कर्ष रूप में स्पष्ट किया गया है। दोनों प्रदेशों का जनमानस, लोकसंस्कृति में सर्वसामान्य प्रचलित विश्वासों और विचार धाराओं का अन्तर बहुत प्रधान विषय है। उदाहरणार्थ, मराठी निर्गुण सन्तकाव्य में शैवमत और शाक्तमत का, द्राविड़ आदिम संस्कृति का विशेष प्रभाव, और हिन्दी निर्गुण संतकाव्य में सूफीमत का प्रभाव। सूफी शब्द के भी कई अर्थ थे। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपने 'दर्शन दिग्दर्शन' में सूफी शब्द के कई अर्थ दिये हैं

'सोफी' (=सोफिस्त) यूनानी भाषा का शब्द है। आठवीं शती में जब यूनानी दर्शन का तर्जुमा अरबी भाषा में होने लगा, तो उसी समय सोफ या सोफी शब्द भी दर्शन के अर्थ में अरबी में आया, पीछे वर्णमाला के दोष से सोफी सूफी हो गया। सबसे पहले सूफी की उपाधि अबूहाशिम सूफी को मिली, जिनका देहान्त ७७० ई० के आसपास (१५० हिजरी) में हुआ था। मुसलमान लेखकों ने सूफी शब्द को निम्न अर्थों में प्रयुक्त किया है—

(१) 'सूफी वे लोग हैं, जिन्होंने सब कुछ छोड़कर ईश्वर को अपनाया है' (जुन्नून मिस्री), (२) 'जिनका जीवन मरण सिर्फ ईश्वर पर है' (जनीद बगदादी), (३) 'सम्पूर्ण शुभाचरणों से पूर्ण, सम्पूर्ण दुराचरणों से मुक्त' (अबूबक्र हरीरी), (४) 'जिस व्यक्ति को न दूसरा कोई पसन्द करे, न वह किसी को पसन्द करे' (मसूर हुल्लाजी), (५) 'जो अपने आपको बिलकुल ईश्वर के हाथ सौंप दे' (रोयम्), (६) 'पवित्र जीवन, त्याग और शुभगुण जहाँ इकट्ठा हों' (शहाबुद्दीन सुहरावर्दी)। गजाली (१०५७-११११ ई०) ने सूफी शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि सूफी पथ (तसव्वुफ) ज्ञान और आचरण (कर्म) के मिश्रण का नाम है। शरीअत (-कुरानोक्त) के भक्तिमार्ग और सूफीमार्ग में यही अन्तर है कि शरीअत में ज्ञान के बाद आचरण आता है, सूफी मार्ग के अनुसार आचरण के बाद ज्ञान। सूफी मत मुल्लाओं के भय से गुपचुप अव्यवस्थित रीति से चला आता था, किन्तु इमाम ग़ज़ाली ने जब खुल्लमखुल्ला उसकी हिमायत ही नहीं की, वरन् उसकी शिक्षाओं को सुव्यवस्थित तौर पर लेखबद्ध कर दिया तो वह धरातल पर आ गया।

'सूफी दर्शन में जीव ब्रह्म का ही अंश है। जीव का ब्रह्म में लीन हो जाना उसका सर्वोच्च ध्येय है। जीव ही नहीं जगत् भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है। शंकर ब्रह्माद्वैतवाद में और सूफियों के अद्वैतवाद में कोई अन्तर नहीं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है जो कि भारत में मुसलमान सूफियों ने इतनी सफलता प्राप्त की। जीव को हक (-सत ब्रह्म) से मिलने का एक ही रास्ता है, वह है 'इश्क'। सूफीयोग में विराग, एकान्त चिन्तन, जप, मनोजप ईश्वर तन्मयता, मुकशफा (योगि प्रत्यक्ष)। 'अह्याउत् उलूम्' में सभी चीनी चित्रकारों का दृष्टान्त देकर गज़ाली ने मुकशफा समझाया है। यह श्वेताश्वतर उपनिषद् के (२।११) 'नीहारधूमार्कानलानिलाना। खद्योतविद्युत्स्फटिकाशनीनाम् ॥' के समान है।[1]

इस प्रकार की सूफी विचारधारा की कोई छटा मराठी सन्त काव्य में नहीं मिलती।

एक और बड़ा अन्तर मुस्लिम प्रभाव के अभाव के कारण मराठी सन्तों

१ पृष्ठ—१०१, १०४।

म मिलता है। हिन्दी सन्तों म दुःख का जैसा प्रेम, विरह वेदना की जैसी गहरी अनुभूति प्राय सभी कवियों में पायी जाती है। मराठी सन्त कवियों में उस प्रकार की 'पीड़ा में तुझको ढूढ़ा, तुझ में ढूढ़ूँगी पीड़ा' वाली वृत्ति कम दिखाई देती है।

हिन्दी सन्त कवियों में परमसाध्य सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता है। वैराग्य और विरक्ति का उपदेश विपुल मात्रा में मिलता है। बार बार बली काल का, संसार की क्षणभंगुरता का, 'बूँद पड़े घुल जाना है' वाली बात का स्मरण दिलाया जाता है। मराठी सन्तों में पारमार्थिक और ऐहिक सांसारिक सुख दोनों को साधने का उपदेश सन्त देते हैं। इन सब निष्कर्षों के कारणों की भी चर्चा प्रबन्ध के अन्तिम भाग में मैंने विस्तार से की है।

मराठी सन्त वेद उपनिषद् गीता और वेदान्त में अधीत थे। हिन्दी सन्त पौस्तक ज्ञान का विरोध करते हैं और प्रातिभ ज्ञान पर अपना सिद्धान्त रचते हैं। मराठी सन्त काव्य के मूल में अनार्य द्राविड मूलबीज बड़ी मात्रा में है, जब कि हिन्दी सन्त काव्य में उस प्रकार के शैव शाक्त प्रभाव छनकर आये हैं सिद्ध नाथों की मारफत। दोनों कवियों में ग्राम देवताओं के उल्लेख या अनुल्लेख से यह बात स्पष्ट होगी। दोनों कवियों की श्रद्धा पद्धति का अन्तर भी इसी बात को सूचित करता है। मराठी सन्त कवियों में परस्पर विरोधी मार्गों का ज्ञान और ध्यान का संयोग पाया जाता है। जब कि हिन्दी सन्त कवियों में ज्ञानयोग का परिहास तक मिलता है, चूंकि बल 'अनुभव' पर अधिक है।

इस प्रकार मराठी और हिन्दी सन्त काव्य की समानताओं और विषमताओं का अध्ययन चक्रधर और कबीर, नामदेव तथा अन्य कवियों की शब्दावली, गीतिरचना आदि अङ्गों के परीक्षण के दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। इसमें तथ्यों का सङ्कलन अधिक है, निष्कर्ष निकालने की ओर वृत्ति नहीं है।

उपसंहार खण्ड में सारी सामग्री को एक बार पुनः रहस्यवाद की तत्कालीन परिभाषा की पार्श्वभूमि में तौला और परखा गया है। वस्तुत आज रहस्यवाद से जो हम अर्थ लेते हैं, वह पश्चिम के कई विचारों और नयी खोजों

से रङ्गा हुआ है। ग्यारहवीं से प न्द्रहवीं शताब्दी म रहस्यवाद का अथ वह नहीं था, जो हम आज लेते हैं। कवि उसके 'यादत्व' से अनजान थे। उनके लिए रहस्यानुभूति ही परम थी। वह अनवच्छेद्य और अपरिभाषेय थी। वह दृष्टि उस देशकाल के समग्र चि तन और ज्ञान विज्ञान का परिपाक थी। अत हमारी समीक्षा म इस बात का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। उसके बिना हमारे विवेचन में मर्यादातिक्रम का भय बना रहता है। रहस्य गुह्य और 'कामस्तदग्रेसमवर्ततार्थं' की परस्पर तुलना प्रस्तुत करके, सन्त काव्य की रहस्यानुभूति, जादू या इन्द्रजाल की कल्पना और कामविषयक परम रसान द का भावन—इनमें जो सूक्ष्म भेद है, उनकी मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। अन्धविश्वासों का आवरण होने पर भी स तों का दि य साक्षात्कार जादुई चमत्कार के समान नहीं था। वह अधिक गहरी और स्थायी मानसिक उपलब्धि थी। उसमें तत्कालीन नीति अनीति, पुण्य पाप, शुद्धता अशुद्धता के बन्धन भी, बराबर सङ्कोच या प्रसार क, तनाव या लचीलेपन के सापेक्ष मानदण्ड बनाते रहते थे। उनसे काटकर सन्त काव्य का केवल वायवी या अमूर्त परीक्षण सम्भव नहीं है।

अन्त में इस विचारधारा का परवर्ती काव्य पर जो नैराश्यवाद, दु खवाद, सर्वक्षणिकवाद आदि रूपों में प्रभाव पड़ा, उसका भी सकेत इस प्रबन्ध में है। यह भी बतला दिया गया है कि विशुद्ध निर्गुणोपासना या निर्गुण ब्रह्म की शुद्ध सनातन टोह बाद मे क्यों कम हो गयी। देशकाल परिस्थिति के अनुसार उसमें अप्रचलन कैसे आता गया। किन्तु मानव मन की यह परम आदिम निर्गुण जिज्ञासा, यह रहस्य प्रेम की शाश्वत् आकांक्षा पूरी तरह समाप्त नहीं हुई।

मेरा उद्देश्य दो भाषाओं के एक मर्यादित कालखण्ड के निर्गुण सन्त काव्य का तुलनात्मक परीक्षण तथा विवेचन करना मात्र था। इसी प्रसङ्ग में दोनों की दार्शनिक सामाजिक पार्श्वभूमि का विचार आवश्यक जान पड़ा। दोनों के कलात्मक पक्ष का भी विचार अनिवार्य हो उठा। इस अध्ययन के पश्चात् इस प्रकार से निर्णय नहीं दिया जा सकता कि मराठी का सन्त काव्य श्रेष्ठतर है या निकृष्टतर है; अथवा हि दी का उससे नीचा या ऊँचा। ऐसा निर्णय देना यानी सन्तकाव्य के समग्र अध्ययन या मूल्याङ्कन के प्रति अपना अज्ञान

व्यक्त करना होगा। दोनों भाषाओं के सन्त काव्य में निर्गुण विषयक धारणाओं में कुछ मौलिक अन्तर और मौलिक साम्य भी है। साम्य वह है, जिस पर समस्त भारतीय चिन्ताधारा और भारतीय संस्कृति के परवर्ती विकास का आधार टिका हुआ है। वैषम्य देश कालगत है, और वह भी नगण्य नहीं है। किन्तु वह उतना गहरा या दूरगामी नहीं है। दोनों भाषाओं के कवियों की मानसिक गठन, उनके सामाजिक परिपार्श्व और अन्य कारणों से यह भेद अवश्यम्भावी हुए। परन्तु वे ही मुख्य नहीं हैं। मुख्य है, दोनों में अभेद। उसी पर इस प्रबन्ध में बल दिया गया है।



परिशिष्ट

अध्ययन सामग्री

मेरा प्रथम हिन्दी लेख सन् १९३४ मे प्रकाशित हुआ। सन् १९३५ में भारतीय साहित्य परिषद् के मुख्य पत्र 'हस' मे मराठी से हिन्दी में अनुवाद स्व० प्रेमच द जी ने मुझसे कराये। तभी से विभिन्न भाषाओं के साहित्यों के इतिहासों के तुलनात्मक अध्ययन की ओर रुचि मुझमें बढ़ती गयी। शायद इस ओर पहला अध्ययन हि दी शब्दसागर की भूमिका खण्ड क रूप में रामच द्र शुक्ल और श्यामसु दरदास क इतिहास और मराठी म समाजवादी दृष्टिकोण से लिखे गये लालाजी पेंडसे के 'साहित्य आणि समाज जीवन' से शुरू हुआ। बाद में विभिन्न भाषाओं के जो साहित्य इतिहास मैने विभिन्न भाषाओं में पढ़े हैं, उनकी एक तालिका दे रहा हूँ —

१ हि दी — मिश्रबन्धु, रामच द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, मगलदेव शास्त्री, रामकुमार वर्मा, सूर्यका त, हजारीप्रसाद द्विवेदी, कृष्णशकर शुक्ल, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, श्रीकृष्णलाल, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, गुलाबराय, उदयनारायण तिवारी, माताप्रसाद गुप्त, (ग्र थ सूची) धीरेन्द्र वर्मा (भाषा) ग्रियर्सन (अंग्रेजी)।

२ मराठी — भावे, पांगारकर, श्री० व्य० केतकर, कोलते, न० र० फाटक, पेंडसे, द० वा० पोतदार, कृ० पा० कुलकर्णी, प्रियोलकर, ग० दे० खानोलकर, निरन्तर, वि० पा० दाण्डेकर (मराठी), श्रीकृष्णलाल शरसोदे 'हस', गोडबोले, जोगलेकर (हिन्दी में परिचयात्मक ग्रन्थ हैं), रा० द० रानडे, गो० चिं० माटे, रा० श्री० जोग (अंग्रेजी)।

३ गुजराती : क० मा० मुशी (अंग्रेजी), केशवराम शास्त्री, के० एम० झवेरी।

४	बंगला	सुकुमार सेन, दिनेशचन्द्र सेन, अमिय चक्रवर्ती, सुनीति कुमार चटर्जी (भाषा)।
५	असमिया	(पी० ई० एन० प्रकाशन—अंग्रेजी), काकाती (भाषा)
६	उड़िया	आर्त्तवल्लभ महन्ती।
७	कन्नड़	ए० पी० करमरकर, मुगलि, रा० द० रानडे, बी० टी० आचार्य, सी० एस० वागी, आर० वी० जागीरदार (अंग्रेजी) द० रा० बेंद्रे, श० पु० जोशी (मराठी), डी० क० भीमसेन राव (कन्नड)।
८	तामिल	किंग्जबरी और फिलिप्स (अंग्रेजी)।
९	तेलुगु	वारणासी राममूर्ति 'रेणु' (हिन्दी) वीरेशलिंगम् पन्तुलु, राजु (अंग्रेजी)।
१०	मलयालम	कुन्हन राजा, पणिक्कर, मेनन (अंग्रेजी)।
११	पंजाबी	डा० मोहन सिंह (अंग्रेजी)।
१२	उर्दू	रामबाबू सक्सेना (हिंन्दी अंग्रेजी), एेजाज़ हुसैन, श्रीपाद जोशी (हिंदी)।
१३	संस्कृत	मैकडोनल, विन्टरनिज, कीथ (अंग्रेजी), बलदेव उपाध्याय, गोपीनाथ कविराज (हिन्दी), अपभ्रंश—पिशेल, राहुल सांकृत्यायन, नामवरसिंह (हिन्दी)।

भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त निम्न विदेशी भाषाओं के साहित्येतिहासों का भी अध्ययन मैंने किया

१४	अंग्रेजी	सेंट्सबरी, काम्प्टन रिकट, लेगुई कजेमिया, शॉ, आयफर इवान्स, केंब्रिज हिस्ट्री आफ इङ्गलिश लिटरेचर (अंग्रजी, भा० म० गोरे (मराठी), एस० पी० खत्री, भगवतशरण उपाध्याय (हिन्दी)।
१५	फ्रेंच	(एन्साइक्लोपाडिया ब्रिटानिका, डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिटरेचर)।

१६ जर्मन शिलर, मान ।

१७ रूसी लारविन, बेरिंग (अंग्रेजी), के० ना० शुक्ल तथा केम्प (हिन्दी)

१८ अमरीकी (एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिटरेचर) ।

१९ फारसी ब्राउन (अंग्रेजी), भटनागर–ईरान के सूफी कवि, चन्द्रबली पाण्डे (हिन्दी) ।

२० अरबी निकलसन ।

२१ यूनानी जावेट, टामसन ।

२२ चीनी लिन युतांग ।

२३ विश्व साहित्य का इतिहास ड्रिकवाटर ।

हिन्दी की बोलियों में जो लोकसाहित्य जमा किया गया है, उससे भी मैंने परिचय प्राप्त किया यथा राजस्थानी (नरोत्तमदास स्वामी, मोतीलाल मेनारिया, सूर्यकरण पारीक, कन्हैयालाल सहल), मालवी (श्याम परमार), अवधी (रामनरेश त्रिपाठी), ब्रज (डा० सत्येन्द्र, प्रभुदयाल मीतल), मैथिली ('राकेश'); सथाली (डोमन साहु 'समीर', ठाकुर प्रसाद सिंह), गोंडी संग्रामसिंह, वेरियर एलविन), भोजपुरी (कृष्णदेव उपाध्याय, दुर्गाशंकर सिंह), निमाड़ी (रामनारायण उपाध्याय), पंजाबी (देवेन्द्र सत्यार्थी), कश्मीरी (सत्यव्रती मल्लिक, प्राणनाथ दर), कौरवी (राहुल सांकृत्यायन) आदि आदि ।

इन भाषाओं उपभाषाओं के अभिजात (क्लासिकल) साहित्य और लोक साहित्यों का ऐतिहासिक क्रम जहाँ मेरे अध्ययन का विषय रहा, वहीं साथ ही साथ दर्शन के (भारतीय तथा पश्चिमी दोनों) अनेक इतिहास मैंने पढ़े हैं । पश्चिम के लिए राजर, विंडलबांड, जौवेट, ग्युरफी, रसेल, जोड जहां अंगरेजी में पढ़े, वहीं मराठी में न० चिं० केलकर का 'भारतीय तत्त्वज्ञान', हिन्दी में गुलाबराय, डा० देवराज, बलदेव उपाध्याय, 'मधुकर,' राहुल के अलावा हिरियण्ण, दास गुप्त, राधाकृष्णन्, एलबर्ट श्वाइटजर, ह्रीस डेविड्स आदि के अंग्रेजी ग्रन्थ भारतीय दर्शन के विषय में मैंने पढ़े ।

१९४८ में हि दी साहित्य सम्मेलन की ओर से प्रकाशित अगरेजी हिन्दी शासन विषयक श-दकोश बनान ओर उस सम्बन्ध म आठ प्रान्तो का दौरा करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र गुजरात, बगाल, उत्कल, बिहार, मध्यभारत, मध्यप्रदेश क भाषा शास्त्रियों से विचार विनिमय हुआ। और तब मेरी धारणा और भी पक्की हो गयी कि भारतीय साहित्य का अ-त सूत्र एक है। उसमे अभेद ह। भाषा भेद, प्रान्त भेद, व्यवहार भेद केवल त्वचारूप है। भीतर से तो जमे एक हा से भावोच्छ्वास, एक हा सी विचारधारा, एक हा आत्मिक स्पन्दन, एक ही सा रागात्मक अनुभूति और अभिव्यञ्जना की पद्धति प्रवाहित हो रहा ह। अ तर यदि है ता निरी बाह्य शैली का, जो कि बहुत गहरा नहा है।

नई दिल्ली,
अगस्त १९५३

—प्रभाकर माचवे

श्री प्रभाकर माचवे द्वारा पी० एच० डी० की उपाधि के लिये प्रस्तुत प्रबन्ध पर एक परीक्षक की सम्मति

लेखक ने प्रबन्ध के लिए एक उपयुक्त विषय चुना है। भाषाभिमानियों की भेद बुद्धि मिटाने के लिए इस कार्य की आवश्यकता है कि भिन्न भिन्न भाषा प्रवाहों की तुलना की जावे और उनमें जो साम्य या वैषम्य है, उसका मूल खोजा जावे। इस दृष्टि से मराठी और हिन्दी निर्गुण कविता अत्यन्त उपयुक्त है। कविता और तत्वज्ञान दोनों का गठबंधन जैसा इस विषय में दृष्टिगोचर होता है वैसा कविता के अन्य क्षेत्रों में नहीं होता। लेखक अंग्रेजी भाषा और तत्वज्ञान का एम० ए० है, हिन्दी म साहित्यरत्न और एक अच्छा लेखक है और मराठी उसकी मातृभाषा है। इस प्रकार तत्वज्ञान के साथ अनेक भाषाओं का ज्ञान होने से, इस प्रकार का प्रबन्ध लिखने का पूरा अधिकारी जान पड़ता है और यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि उसने प्रबन्ध लेखन कार्य को भली भाँति निभाया है।

सारा प्रबन्ध पढ़ जाने पर लेखक की परिश्रमशीलता, चयनवृत्ति, भिन्न मतों को मान देते हुए भी अपना मत बनाये रखने की कुशाग्र बुद्धि, स्पष्टतया प्रतीत होती है।

सबसे पहले लेखक का प्रगाढ़ अभ्यास स्पष्ट दीखता है। १९४५ से लेकर १९५२ तक के आठ साल में उसने इतने ग्रन्थ देखे हैं और उनमें से इतनी बातों का संग्रह किया है कि प्रबन्ध वाचक ऐसा न कह सकेगा कि इस वाचन से मुझे कुछ नई दृष्टि और नया प्रकाश प्राप्त न हुआ। अरिस्तू से लेकर विनोबा भावे तक के तत्वज्ञ तथा प्रसिद्ध फर्कुहार से अप्रसिद्ध प्रो० मुडी तक के सन्तों पर लेख लिखने वाले लेखक, सभी के विचारों का अपने विषय के लिये पर्याप्त पर्यालोचन इस प्रबन्ध में किया गया है। हिन्दी और मराठी निर्गुण काव्यों का तो बहुत ही बारीकी से अध्ययन हुआ है यहाँ तक कि उसके शब्द, मुहाविरे, दृष्टान्त, सिद्धान्त तथा उत्स मूलस्रोत सबों का विवेचन सारग्राही रीति से किया गया है।

प्रबन्ध का पूर्व भाग जिसमें लेखक ने अपना विशेष दृष्टिकोण बनाया है वह और विशेषत काव्यकला की दृष्टि से निर्गुण सत काव्य का साहित्यिक अध्ययन और समीक्षा की है, बहुत ही अच्छा लिखा गया है। 'रस' की अलौकिकता को दूर कर उसे लौकिक बना दिया है और आत्मा तथा रस की-दोनों की—कल्पना में काल के साथ कैसा परिवर्तन होता गया इसका ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर सुन्दर दर्शन कराया है। यह इस प्रबन्ध की प्रधान विशेषता है। इसी प्रकार केवल इस्लामी सूफियों के ही प्रभाव से भारतीय सन्तों की निर्गुणधारा नहीं निकली, अपितु वैदिक, औपनिषदिक, बौद्ध, जैन, इस्लामी सूफी तथा ईसाई सभी तत्वों का यह पट बुना हुआ है, यह लेखक ने बड़ी विद्वत्ता के साथ दरसाया है। पश्चात दोनों भाषाओं के निर्गुण सन्त काव्यों का एक से ही समान विषयों पर विचार कर समाज का प्रभाव धर्म और तत्त्व ज्ञान पर कैसे पड़ता है यह भी बड़ी मार्मिकता से दिखाया है।

कहीं कहीं लेखक के विचारों से पाठक का मतभेद हो सकता है। पर मतभेद होते हुए भी यह कहना पड़ेगा कि लेखक ने अपना पक्ष बड़ा बुद्धिमानी से किसी होशियार वकील सा समर्थित किया है। सर्वत्र गंभीर चिंतन और चिंतित विषय वाचकों के सम्मुख उपस्थित करने का चातुर्य बहुत बड़े अंश में प्रतीत होता है।

मेरा स्पष्ट मत है कि यह प्रबन्ध —

१ कुछ नये सिद्धान्त, नवीन दृष्टि और अपने मत को अभिनव रीति से उपस्थित करने का कौशल इन तीनों गुणों से युक्त है। और

२ जहाँ तक उसका साहित्य विषयक दर्शन देखा जा सकता है, संतोषप्रद है और प्रकाशित करने योग्य स्वरूप में है।

